भगवान महावीर की २५०० वीं निर्वाण जयन्ती के शुभावसर पर प्रकाशित

श्रावक धर्म-संहिता

लेखक

स्वर्गीय दरयाव सिंह सोंधिया



प्रकाशक

वीर सेवा मन्दिर,

२१, दरियागंज, दिल्ली—६.

वीर निर्वाण सम्वत् २५०१
सन् १९७५ ई०

महासचिव, वीर सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, दिल्ली द्वारा भारत में प्रकाशित तथा एमर्सेन प्रिंटर्स, दरीबा कलां, दिल्ली द्वारा मुद्रित।

प्रकाशकीय

भगवान तीर्थंकर महावीर के शब्दों में वस्तु का स्वभाव ही उसका धर्म है। और आत्मा का स्वभाव ज्ञान-चैतन्य है। इसके अतिरिक्त जो कुछ भी उसमें मिला हुआ है वह सब विकारी अवस्था है। यह अन्य के साथ सहयोगी अवस्था अथवा विकारी अवस्था ही समस्त दुःखों—आकुलताओं और संसार भ्रमण की जननी है।

जिस मार्ग पर चलकर आत्मा के समस्त विकारों को अथवा सभी परसंयोगों को दूर कर अपनी शुद्ध-चिरंतन-चैतन्य अवस्था को प्राप्त कर अनन्त सुख का अधिकारी बना जा सके उसी मार्ग का प्रतिपादन भगवान तीर्थंकर केवली ने किया और वही जैन धर्म है। न वस्तु कभी नष्ट होगी न कभी उसके स्वभाव का अभाव होगा और न जैन धर्म कभी नष्ट होगा। या यों कहिए कि जो त्रिकाल सत्य है, अनादि है, अविनश्वर है, उसी का प्रतिपादन जैन धर्म है। आत्मद्रव्य त्रिकाल सत्य है, उसका ज्ञान स्वभाव त्रिकाल सत्य है और उसका धर्म भी त्रिकाल सत्य है। प्रतिपादन चाहे जिस ढंग से किया जाए, सिद्धान्तरूप से यह धर्म कभी न कुछ और था, न कुछ और होगा, और न कुछ और हो ही सकता है।

प्रश्न यह उठता है कि जब यह इतनी सीधी-सी बात है तो इस अपार धर्म साहित्य में और क्या भरा पड़ा है और उसका क्या प्रयोजन है? 'पर' में अपनापन इस जीव में अनादिकाल से जुड़ा हुआ है। इस जन्म जन्मान्तर के, अनन्तकाल से पड़े हुए संस्कारों की शृङ्खला को तोड़ना क्या आसान काम है? इसको तोड़ने के लिए अर्थात् भेद-विज्ञान की प्राप्ति के लिए अपार पुरुषार्थ करना पड़ेगा और वह तब तक सम्भव नहीं जब तक समस्त संसार के तत्व को भली-भाँति न समझ लिया जाए। इसी तत्व को पूर्णरूपेण समझाने के लिए भगवान तीर्थंकर को द्वादशांग की रचना करनी पड़ी।

स्वर्गीय दरयावसिंह सोंधिया की यह पुस्तक एक बहुत उत्तम संहिता है जो जैन धर्म के मूल लक्षणों की ओर सुगम निर्देश करती है। पुस्तक की उपयोगिता इसी प्रमाण से सुस्पष्ट है कि इसके कई संस्करण श्रावक धर्म संग्रह शीर्षक से कई भिन्न संस्थाओं से प्रकाशित हो चुके हैं, परन्तु उनमें से अब कोई भी उपलब्ध नहीं है। भगवान महावीर के २५०० वें निर्वाणोत्सव के अवसर पर जब धर्म की ओर रुचि चतुर्दिक जागृत हुई है, तो ऐसा उत्तम ग्रन्थ जिज्ञासुओं के लिए सुलभ होना ही चाहिए, इस आवश्यकता को दृष्टि में रखकर, यह नवीन संस्करण, नई सजधज में पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत किया जा रहा है।

ग्रन्थ को और भी सुगम बनाने के लिए उसको तीन भागों में विभक्त कर दिया गया है :—(१) धर्म का स्वरूप और आवश्यकता, (२) अणुव्रतरूप गृहस्थ अथवा श्रावक धर्म और (३) मुनिधर्म। सम्बन्धित विषयों को भी अल्प हेरफेर करके एक साथ कर दिया गया है। इसके अतिरिक्त पुस्तक में 'अनेकान्त व स्याद्वाद' के प्रकरण का अभाव खटकता था। अतः संक्षिप्त रूप में इस अद्वितीय सिद्धान्त व शैली का विवरण श्री महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य की पुस्तक 'जैन-दर्शन' से उद्धृत करके इस कमी को भी पूरा कर दिया गया है।

कुछ विषय जो यहां वहां दोहराये गए थे, उनको एक ही स्थान पर रहने दिया गया है। विषय सूची का विस्तार बढ़ा दिया गया है कि जिससे यह एक प्रकार से संकेतिका का भी कार्य कर सके और पाठकों को विभिन्न विषयों के प्रकरण खोजने में सुविधा हो।

वीर निर्वाण सम्वत् २५००
(सन् १९७४ ई०)

महेन्द्रसेन
महासचिव, वीर सेवा मन्दिर।

विषय-सूची

द्वितीय भाग

अणुव्रतरूप गृहस्थ अथवा श्रावक धर्म

तृतीय भाग

मुनि धर्म

भूल सुधार

पृष्ठ १६ पर प्रथम लाइन में सधवा के बजाए प्रूफशोधन की गलती से विधवा छप गया है। कृपया ठीक करलें।

ॐ

श्रावक-धर्म संहिता

मंगलाचरण

शिवसुखदा शिवसुखमई, मंगल परम प्रधान।
वीतराग-विज्ञानता, नमों ताहि हित मान ॥ १ ॥

वृषकर्त्ता युग आदि में, ऋषिपति श्री ऋषभेश।
वृषभचिह्न चरणन लसै, वंदू आदि जिनेश ॥ २ ॥

सन्मतिपद सन्मति करन, सन्मति-सुख-दातार।
सुखवांछक सब जगत जन, तातें सन्मति धार ॥ ३ ॥

मुक्ति-मार्ग साधक द्विपद, विकल सकल हितकार।
तामें श्रावक पद प्रथम, वरणों प्रतिमासार ॥ ४ ॥

प्रतिमा चढ़ि यति पद धरै, साधै आत्मस्वरूप।
सिद्ध स्वात्मरसरसिक ह्वै, सद्गुणनिधि सुखभूप ॥ ५ ॥

मैं ग्रन्थ के आदि में मंगल निमित्त वीतरागता-विज्ञानतारूप परम शक्ति को हृदय में धारण करने की इच्छा करके इसे नमस्कार करता हूं, तथा इस शक्ति के धारक अर्हंत्, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, सर्वसाधुसमूह को नमस्कार करता हूं, जिनके चरणप्रसाद से गृहस्थधर्म को दर्पणवत् स्पष्ट दर्शाने वाला यह ग्रन्थ निर्विघ्नतापूर्वक समाप्त हो।

प्रथम भाग

धर्म का स्वरूप और आवश्यकता

इस अनंतानंत आकाश के बीचोबीच अनादि-निधन ३४३ राजू प्रमाण घनाकार लोक स्थित है। उसमें भरे हुए अक्षयानन्त जीव अनादि-काल से ही देखने-जानने मात्र अपने शुद्ध ज्ञान-दर्शन गुणको भूलकर, शरीर सम्बन्ध के कारण केवल इन्द्रिय-जनित सुखों को प्राप्त करने के लिये आकुल-व्याकुल होते हुए नाना प्रकार की अशुभ प्रवृत्तियाँ कर रहे हैं जिससे वे उनके फलस्वरूप नाना प्रकार के दुःखों को प्राप्त होते है। इनको अपने आत्मीक-पारमार्थिक शान्ति-सुख की खबर भी नही है। अज्ञानतावश, दुःखों की मन्दता अथवा किसी एक दुःख की किंचित्काल उपशांति को ही ये भोले जीव सुख माना करते हैं और इसी निमित्त इन्द्रियजनित विषयों के जुटाने का सदा प्रयत्न करते रहते हैं। इन दुःखों के मूल कारण जो उनके पूर्वकृत दुष्कर्म हैं उनको तो पहिचानते नही, केवल बाह्यनिमित्त कारणों को दुःख-दायक जान, संकल्प विकल्प करते हुए उनके दूर करने का प्रयत्न करते हैं। इस प्रकार झूठे उपायों से जब दुःख दूर न होकर उल्टा बढ़ता है तब निरुपाय होकर कहने लगते हैं—हमारे भाग्य में ऐसा ही लिखा था भगवान को ऐसा ही करना था अथवा अमुक देवी देवता का हम पर कोप है, इत्यादि। इस तरह और भी अनेक बिना सिर पैर की कल्पनायें करते हैं और लाचार होकर सहायता की इच्छा से लोकरूढ़ि के अनुसार अनेक विषयी-कषायी देवों की पूजा मानता करते, भेषी संसारासक्त कुगुरुओं की सेवा करते और संसारवर्द्धक (जन्ममरण की पद्धति बढ़ाने वाले) उपदेश युक्त शास्त्रों की आज्ञाओं का पालन कर हिंसादि पाप करने में ज़रा भी नही डरते है। तिस पर भी चाहते क्या है ? यह कि तृष्णा रूपी दाहज्वर को बढ़ाने वाली और आकुल-व्याकुल करने वाली इन्द्रियजनित सांसारिक सुखसम्पदा प्राप्त हो। इस प्रकार उपर्युक्त विपरीत कर्तव्यों का परिणाम यह होता है कि ये जीव उल्टे सांसारिक चौरासी लक्ष योनियों में जन्म-मरण करने के चक्कर में पड़कर सदा दुखी रहते है।

इन्द्रिय-जनित विषय-सुख, सच्चे सुख नहीं किन्तु सुखाभास हैं। क्योंकि वे अस्थिर, अन्त में विरस, पराधीन, वर्तमान में दुःखमय और भविष्यत् में दुःखों के उत्पादक हैं। अतएव सच्चे सुख के वांछक पुरुषों को चिरस्थायी आत्मीक स्वाधीन सुख की खोज करना चाहिये और उसके स्वरूप को समझकर उसी की प्राप्ति का प्रयत्न करना चाहिये।

आकुलता-व्याकुलता रहित आत्मा का शान्तिभाव ही सच्चा सुख है, जिस शान्तिभाव की प्राप्ति के लिये बड़े-बड़े योगी-यति संसार के झगडों से जुदा होकर और कामिनी-कंचन को छोड़कर वनवास करते हैं। वही शांति भाव आत्मा का स्वाधीन सुख है, जिसे आत्मा का धर्म कहते हैं। उस आत्मधर्म के मर्म को जाने बिना "कांख में लड़का गांव में टेर" की कहावत के अनुसार यहां-वहां धर्म की ढूंढ-खोज करना अथवा आत्म-धर्म के साधक निमित्तमात्र कारणों को ही धर्म मान बैठना और उसके लिये कपोल-कल्पित नाना-प्रकार की असत् क्रियाये करना व्यर्थ है। आत्मा का स्वभाव (धर्म) रागद्वेष रहित चेतना मात्र है जिसको देखना-जानना भी कहते है। इसके विशेष भेद उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच, संयम, तप, त्याग, आकिञ्चन्य और ब्रह्मचर्य ये दश धर्म हैं अथवा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र (रत्नत्रय धर्म) या जीवदया (अहिंसाधर्म) हैं। यह आत्मधर्म अनादि कर्म सम्बन्ध के कारण विपरीत हो रहा है, इसलिये कर्म-जनित विभावों और आत्मीक स्वभावों के यथार्थ स्वरूप जाने बिना ये जीव संसाररोग की उल्टी औषधि करते और सुख के बदले दुःख पाते हैं।

यदि एक बार भी जीव को अपने स्वाभाविक स्वरूप शुद्ध ज्ञान-दर्शन की तथा अपने किये हुए शुभाशुभ कर्मजनित इन नाना-प्रकार के स्वांगों की परख हो जाती, तो जन्ममरण के दारुण दुःख इसे कदापि न भोगने पड़ते और यह सदा के लिए इनसे छुटकारा पा जाता। परन्तु करे क्या? संसार में अनेक मार्ग ऐसे बन रहे हैं जो धर्म के नाम से जीवों की आँखों में धूल डाल उल्टे विषय कषायों के गढ्ढे में पटक उन्हें अन्धे और अपाहिज (पुरुषार्थ हीन) कर देते हैं जिससे उनका फिर सुमार्ग के निकट आना कठिन हो जाता है। भावार्थ—जिन पंचेन्द्रिय जनित विषय-सुखों में जीव अज्ञानता वश भूल रहे हैं उन्ही को वे बार बार उपदेश देकर मोह निद्रा में अचेत कर देते हैं जिससे उनको यह बोध नहीं होने पाता कि हम कौन हैं? कहां से आये हैं और कहां जाना पड़ेगा? वर्तमान में जो यह सुख-दुःख की सामग्री हमें प्राप्त हो रही है इसका कारण क्या है? आत्मा

तथा शरीर अलग-अलग पदार्थ हैं या एक ही हैं ? आत्मा का स्वभाव क्या है ? और कर्मजनित रागद्वेष रूप विकार भाव क्या हैं ? तथा हमारा सच्चा सुख क्या और कैसे प्राप्त हो सकता है ? इत्यादि इत्यादि।

इस प्रकार संसारी जीवों की अचेत एवं दुःखमय दशा देखकर परमोपकारी परमपूज्य तीर्थंकर भगवान् ने असार संसार से विरक्त हो शुभाशुभ कर्मों को जीत ('कर्मारातीम् जयजीति जिनः' अर्थात् जो कर्मशत्रुओं को जीत शुद्धात्मस्वरूप को प्राप्त हो सो जिन है) अपनी पूर्वकृत दर्शनविशुद्धि (सम्यग्दृष्टि की सब जीवों को मोक्षमार्ग में लगाने की उत्कट वांछा) भावना के द्वारा बांधे हुए तीर्थंकर प्रकृति नामकर्म के उदयवश श्री अर्हंत्स्वरूप को प्राप्त होकर संसारी जीवों को मोक्षमार्ग का उपदेश दिया जिसमें मोक्ष और मोक्ष के कारणों तथा संसार और संसार के कारणों का स्वरूप भलीभाँति दर्शाया। मोक्ष प्राप्ति के लिये आत्मा के स्वभाव सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान को भलीभाँति सिद्ध करने के पीछे कर्म-जनित विभावों को छोड़ स्वभाव में प्राप्त होने के लिये सम्यक्चारित्र धारण करने का उपाय बताया तथा इस अनादि रोग को एकदम दूर करने की शक्ति सर्वसाधारण जीवों में नहीं है, इसलिये जैसे बड़े भारी व्यसनीका एकदम व्यसन छूटना अशक्य जान क्रम-क्रम से छोड़ने की परिपाटी बताई जाती है उसी प्रकार उन जिनेश्वरदेव ने निज दिव्यध्वनि द्वारा विषय-कषायग्रसित (दुर्व्यसनी) संसारी जीवों को इस संसार रोग से छूटने के लिये श्रावक और मुनि-धर्म रूप दो श्रेणियों का उपदेश दिया।

१ श्रावक धर्म—जिसमें गृहस्थ अवस्था में रहकर कषायों के मन्द करने और इन्द्रियों के विषय जीतने को अणुव्रतादि साधन बताये गये हैं।

२ मुनि धर्म—जिसमें गृहस्थापना त्याग, सर्वथा आरम्भपरिग्रह तथा विषय-कषाय रहित हो, निज शुद्धात्मस्वरूप की सिद्धि के अर्थ महाव्रत, तप, ध्यानादि साधन बताये गये हैं, जिससे आत्मा अपने स्वाभाविक वीतराग-विज्ञानभाव (शुद्ध चैतन्यभाव) को प्राप्त होकर कृतकृत्य हो जाय।

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र आत्मा का स्वाभाविक धर्म है। यह कर्मजनित उपाधि के कारण मिथ्या दर्शन, मिथ्याज्ञान, मिथ्याचारित्र रूप विपरीत या उल्टा हो रहा है। इसलिये आगे इस ग्रन्थ में क्रमशः इन तीनों का स्वरूप वर्णन किया जायगा।

सम्यग्दर्शन

आतम अनुभव नियत[1] नय, व्यवहारे तत्वार्थ ।
देव-धर्म-गुरु-मान्यता, सम्यग्दर्शन सार्थ ॥ १ ॥

सबसे प्रथम आत्मा के स्वभाव (धर्म) का सम्यक्श्रद्धान होना आवश्यक है। क्योंकि इस सम्यग्दर्शन को सत्पुरुषों ने ज्ञान तथा चारित्रका मूल माना है। सम्यक्त्व यम (महाव्रत) प्रशम (विशुद्ध भाव) का जीवन है और तप, स्वाध्यायका आश्रय है। इसके बिना ज्ञान तथा चारित्र मिथ्यात्वरूपी विष से दूषित रहते हैं। इसी कारण प्रथम ही सम्यक्त्व होने के उपाय का संक्षिप्त रूप से वर्णन किया जाता है।

लोकस्वरूप

जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन छहों द्रव्यों का समूह लोक कहलाता है। यह लोक (सृष्टि) अनादि काल (सदा) से है और अनन्तकाल तक बना रहेगा अर्थात् इन द्रव्यों को किसी ने बनाया नहीं और न कभी ये नाश होंगे। क्योंकि द्रव्य उसे कहते हैं जो अपने गुणों कर सदा ध्रौव्य और पर्यायों करके उत्पाद-व्यय रूप रहती हैं। इसी कारण इन द्रव्यों का समूहरूप लोक अनादि-निधन है।

ये छहों द्रव्य यद्यपि अपने-अपने गुणों से युक्त सदा सत् रूप (मौजूद) रहते हैं। तथापि पर्याय परिणमाने की शक्ति रूप उपादान कारण तथा पर्याय परिणमनेरूप निमित्त कारण होने से इनकी पर्याय पलटती रहती है। इनमें से जीव और पुद्गल इन दो द्रव्यों में सूक्ष्म और स्थूल[2]

---

१ निश्चय सम्यग्दर्शन को सम्यक्त्व या श्रद्धान भी कहते हैं।

२ स्थूल पर्याय— जैसे जीव का मनुष्य से पशुपर्याय रूप आकार हो जाना, पुद्गल का घट से कपालपर्याय रूप आकार हो जाना। सूक्ष्म-पर्याय-जीव में ज्ञानादि गुणों के, पुद्गल में स्पर्शादि गुणों के, धर्म द्रव्य में गतिसहकारित्व गुण के, अधर्म द्रव्य में-स्थिति सहकारित्व गुण के, काल द्रव्य में वर्तना-गुण के और आकाश में अवकाशदान गुण के अविभागप्रतिच्छेदों में अनन्त भाग वृद्धि, असंख्यातभाग-वृद्धि संख्यातभागवृद्धि संख्यातगुणवृद्धि, असंख्यातगुणवृद्धि, अनन्तगुणवृद्धि रूप षट्स्थान, पतित वृद्धि वा हानिरूप परिणमन होना। इसका विशेष खुलासा श्रीगोम्मट्टसारजी से जानना।

दोनों प्रकार की पर्यायें होती हैं और शेष धर्म, अधर्म, आकाश[1], काल इन चार द्रव्यों में केवल सूक्ष्म पर्याय ही होती है।

जीवों की तो अनादि सम्बन्ध रूप पौद्गलिक कर्मसंतति संयोग के निमित्त से और पुद्गल की जीव अथवा पुद्गल के निमित्त से पर्यायें पलटती हैं। इस प्रकार जीव के परसंयोगजनित और पुद्गल के स्वपरजनित स्थूलविकार (परिणमन) स्थूलबुद्धि जीवों को रातदिन दृष्टिगोचर होते हैं, परन्तु इन पल्टनों के कारण सूक्ष्म अर्थात् विशेषज्ञान के विषय होने से अल्पज्ञों को ज्ञात नहीं होते और चमत्कार-सा भासता है।

पुद्गलों में स्वाभाविक रीति से और जीवों में उनके शुभाशुभ परिणाम द्वारा बन्ध किये हुए सूक्ष्म कर्मपरमाणुओं के उदयवश जो परिणमन होते हैं उन सबके कारण सूक्ष्म और अदृष्ट होने से लोक-रूढ़ि के अनुसार ईश्वर को ही हर कोई इनका कर्त्ता ठहराता है। यहाँ तक कि लोग जीवों के सुख-दुःख का कर्त्ता भी ईश्वर ही को मानते हैं। यही कारण है कि जीव आप तो अनेक प्रकार के पाप करते हैं और उनके फलस्वरूप दुःखों से बचने के लिए उन दुष्कर्मों को न छोड़कर अज्ञानतावश देव-देवियों या ईश्वर को कर्त्ता समझ उनकी नाना-प्रकार से पूजा-मानता करते हैं जिससे और भी अधिक पाप कर्मों से लिप्त होकर दुःखों के स्थान बनते हैं।

संसारी जीव यद्यपि लोकरूढ़ि के अनुसार सद्गुरु के उपदेश के अभाव से ईश्वर को सृष्टि का या सुख-दुःख का कर्त्ता तो मानलेते हैं, परन्तु यह नहीं विचारते कि ईश्वर का कर्त्ता-पना सम्भव है या असम्भव ? सदोष है या निर्दोष ?

यदि इस विषय में सद्गुरु के उपदेशपूर्वक विचार किया जाय तो स्पष्ट ज्ञात हो जाय कि सृष्टि का तथा प्रत्येक जीव के सुख-दुःख का कर्त्ता ईश्वर को मानना भ्रमपूर्ण है। हाँ, इतना अवश्य है कि ईश्वर ने मोक्ष होने के पहले जीवन्मुक्त (सशरीर परमात्म) अवस्था में करुणाबुद्धि के उदयवश जीवों के उद्धारार्थ सुख-दुःख, संसार-मोक्ष का स्वरूप तथा मोक्ष का मार्ग निरूपण कर दिया है और उपदेश दिया है कि जीव ही संसार का कर्त्ता और जीव ही मुक्ति का कर्त्ता है; विष-अमृत दोनों के लड्डू इसके हाथ में हैं चाहे जिसको ग्रहण करे। जीव को सुख-दुःख की प्राप्ति होना उसी के किये

---

१ धर्म, अधर्म का अभिप्राय यहाँ पुण्य पाप न समझना किंतु ये द्रव्य हैं।

हुये सत्कर्म एवं कुकर्म के आधीन है। जीव ही संसार (अपने जन्म-मरण) का कर्त्ता ब्रह्मा, पोषक विष्णु और नाशक महेश है। खुदा या ईश्वर आदि किसी को संसार का उत्पादक, पोषक और नाशक मानना युक्ति-विरुद्ध है, तथा ऐसा मानने से कई दोष भी उत्पन्न होते हैं।

सृष्टि का अनादिनिधनत्व

यदि ऐसा माना जाय कि बिना कर्त्ता के कोई कार्य होता नहीं दिखता, इसी हेतु से सृष्टि को ईश्वर या खुदा आदि किसी ने बनाया है। तो यहाँ यह शङ्का उत्पन्न होती है कि सृष्टि बनने के पूर्व कुछ था या नहीं ? इसका उत्तर यही होगा कि ईश्वर के सिवाय और कुछ भी नहीं था; क्योंकि जो ईश्वर के सिवाय पृथ्वी जल आदि होना माना जाय तो फिर ईश्वर ने बनाया ही क्या ? अतएव अकेला ईश्वर ही था। यहाँ प्रश्न उत्पन्न होता है कि जब बिना कर्त्ता के कोई भी कार्य न होने का नियम है तो ईश्वर भी तो एक कार्य (वस्तु) है, इसका कर्त्ता होना भी जरूरी है। यहाँ कोई कहे कि ईश्वर अनादि है इसलिए उसका कर्त्ता कोई नहीं। भला जब अनादि ईश्वर के लिए कर्त्ता की आवश्यकता नहीं तो उपर्युक्त षट्द्रव्य युक्त अनादि सृष्टि का कर्त्ता मानने की भी क्या जरूरत है ? और यदि ऐसा माना भी जावे कि पहले ईश्वर अकेला था और पीछे उसने सृष्टि रची तो सृष्टि रचने के लिए उपादान सामग्री क्या थी और वह कहाँ से आई ? अथवा जो ऐसा ही मान लिया जाय कि ईश्वर तथा सृष्टि बनने की उपादान सामग्री दोनो अनादि से थी, तो प्रश्न होता है कि निरीह (इच्छारहित, कृतकृत्य) ईश्वर को सृष्टि रचने की आवश्यकता क्यों हुई ? क्योंकि बिना किसी प्रयोजन के कोई भी जीव कोई भी कार्य नहीं करता। यहाँ कोई कहे कि ईश्वर ने अपनी प्रसन्नता के लिए सृष्टि रचने का कौतूहल किया, तो ज्ञात होता है कि सृष्टि के बिना अकेले ईश्वर को बुरा (दुःख) लगता होगा ? इसीलिए जब तक उस ने सृष्टि की रचना नहीं कर पाई तब तक वह दुखी रहा होगा सो ईश्वर को दुखी और अकृतकृत्य मानना सर्वथा ईश्वर की निन्दा करना है। फिर भी जो कोई कुछ भी कार्य करता है वह इष्ट-रूप सुहावना ही करता है, सो सृष्टि मे सुखी तो बहुत थोड़े और दुखी बहुत जीव दिखाई देते है, इसी प्रकार सुहावनी वस्तुएँ तो थोड़ी और कुरूप, भयावनी, घिनावनी बहुत देखने में आती हैं जो कर्त्ता की अज्ञानता की सूचक हैं। इस प्रकार ईश्वर को सृष्टि कर्त्ता मानने में और भी अनेक दोष आते हैं। फिर सभी कर्त्तावादी बहुधा ईश्वर को

न्यायी और दयालु कहते हैं। सो जब ईश्वर ऐसा है तो क्या कारण है कि उस ने सब जीवों को एक सा रूप, सुख, दुखादि न दिया, किसी को मनुष्य, किसी को कीड़ा, किसी को कुरूप, किसी को सुरूप, किसी को धनवान्, किसी को निर्धन आदि अलग अलग प्रकार का बनाया ? उसको किसी से राग द्वेष तो था ही नही। यहाँ कोई कहे कि ईश्वर सब जीवों को उनके शुभाशुभ कर्मों के अनुसार फल देता है। भला जब ऐसा है कि फल की प्राप्ति के कर्त्ता जीव ही हैं तो ईश्वर को सृष्टि का या जीवों के सुख-दुख का कर्त्ता मानना निर्मूल ठहरा। अथवा यदि यह कहें कि जैसे जज न्याय करके जीवों को उनके अपराध के अनुसार दण्ड देता है, उसी प्रकार ईश्वर भी जीवों के पूर्व शुभाशुभ कर्मों के अनुसार उन्हें सुख-दुख देता है, बिना दिये सुख-दुख कैसे मिल सकता है ? इसका समाधान यह है कि यदि ईश्वर अल्पज्ञ और निर्बल होता तो उसे दण्ड देकर दूसरों को यह बात दिखलाने की आवश्यकता पड़ती कि जो अमुक अपराध करेगा उसको अमुक दण्ड दिया जायगा। परन्तु उसे तो बहुधा सभी मतावलम्बी सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान और परमदयालु मानते है। यदि ऐसे ईश्वर को सुख-दुख देने के झगड़े में पड़ना पड़ता या पाप मेटने और पुण्य प्रचार करने का विकल्प करना पड़ता, तो वह सर्वज्ञ और शक्तिमान ईश्वर अपनी इच्छा मात्र मे ही सब जीवों को अपराध करने से रोक सकता था। परन्तु ऐसा न करके वह सांसारिक न्यायाधीशों की पदवी को धारण करना चाहता है और वह जानते हुए दयालु होते हुए शक्ति रखते हुए भी जीवों से अपराध कराना और फिर उन्हे दण्ड देता है सो इससे तो उसके उत्तम गुणों में दोष लगता है, अतएव ईश्वर को फलदाता कहना व्यर्थ है। सब जीव जैसे परिणाम करते हैं वैसे ही सूक्ष्म कार्माण वर्गणा उनकी आत्मा से एक क्षेत्रावगाह रूप बन्ध को प्राप्त होकर उदय अवस्था मे जीवों को सुख-दुख का कारण होती है यथा —

"कर्म प्रधान विश्व करि राखा।
जो जस करै सो तस फल चाखा॥"

यहाँ कोई संदेह करे कि जैनमत ईश्वर को सृष्टि का कर्त्ता न मानने से नास्तिक ठहरता है, तो इसका समाधान इतना ही होगा कि ईश्वर को सृष्टि का कर्त्ता मानने से आस्तिक और न मानने से नास्तिक की सिद्धि नहीं है। किन्तु आत्मा परमात्मा का अस्तित्व मानने वाले आस्तिक और अस्तित्व न मानने वाले नास्तिक कहलाते हैं, सो जैन मत आत्मा को अनादि,

स्वयं सिद्ध तथा परमात्मा को सर्वज्ञ, वीतराग, परमशांतरूप पूर्ण सुखी मानता है, इसलिए जैन मत का नास्तिक कहना अतिभ्रमयुक्त है।

इन बातों पर जब प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम प्रमाण द्वारा सूक्ष्म विचार किया जाता है, तो यही सिद्ध होता है कि ईश्वर (परमात्मा, खुदा या गॉड) तो कृत-कृत्य और निष्कर्म अवस्था को प्राप्त होकर आत्मानन्द में मग्न रहते हैं। उनको सृष्टि के करने, धरने, बिगाड़ने से क्या प्रयोजन ? लोक में जो जीव-पुद्गलका परिणमन हो रहा है वह उन द्रव्यों के शक्तिरूप उपादान तथा अन्य बाह्य निमित्त कारणों से ही होता है।

षटद्रव्य

इस लोक में चैतन्य और जड़ दो प्रकार के पदार्थ हैं। इनमें चैतन्य एक जीव-द्रव्य ही है, शेष पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, और काल ये पांचों द्रव्य जड़ हैं इनमें जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, काल ये ५ द्रव्य अनन्त-आकाश के मध्य भरे हुए है। यह लोक आकाश सहित षट द्रव्यमय है अर्थात् जितने आकाश में जीव द्रव्य, पुद्गल द्रव्य, धर्म द्रव्य, अधर्म द्रव्य, काल द्रव्य (और छटा आकाश द्रव्य आधार रूप है ही) हैं वह लोकाकाश कहलाता है, शेष लोक से परे अनन्त अलोकाकाश है। यहाँ प्रश्न उत्पन्न हो सकता है कि आकाश के ठीक बीचों-बीच लोक है यह कैसे निश्चय हो ? इसका समाधान यह है कि जब लोक से परे सब तरफ अनन्त आकाश है अर्थात् सब तरफ अनन्त की गणना लिये एक बराबर आकाश है तो सिद्ध हुआ कि आकाश के अति मध्य भाग में ही लोक है।

इन छहों द्रव्यों मे जीव द्रव्य की संख्या (गणना) अक्षयानन्त है। पुद्गलद्रव्य की परमाणु संख्या जीवों से अनंतानंतगुणी है। धर्म-द्रव्य, अधर्म द्रव्य, आकाश द्रव्य एक-एक ही हैं। काल के कालाणु असंख्यात हैं।

जीव द्रव्य

प्रत्येक जीव चैतन्य अर्थात् ज्ञान दर्शन लक्षणयुक्त असंख्यात प्रदेशी है। यद्यपि इसका स्वभाव शुद्ध चैतन्य (देखने जानने) मात्र है, तथापि अनादि पुद्गल (द्रव्यकर्म) संयोग से रागद्वेषरूप परिणमन करता हुआ विभावरूप हो रहा है। जिससे इसमें स्वभाव विभावरूप ९ प्रकार की परिणतियां पाई जाती हैं—

१. **जीवत्व**—जीव में अपने तथा परपदार्थों के जानने की शक्ति है। इसलिए यथार्थ में (निश्चयनयसे) इसके एक "चेतना" प्राण है। परन्तु व्यवहार नयसे (सांसारिक अशुद्ध अवस्था में) इंद्रिय, बल, आयु, श्वासोच्छ्वास ४ प्राण हैं। इन चार प्राणों के विशेष भेद १० होते हैं—स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, श्रोत्र ये ५ इन्द्रिय प्राण; मनबल, वचनबल, कार्यबल ये तीन बल प्राण; १ आयु और १ श्वासोच्छ्वास। इन प्राणों से यह जीव अनादि काल से जीता है।

२. **उपयोगत्व**—निश्चयनयसे जीव चैतन्य मात्र है जिसके व्यवहार नयसे ज्ञान-दर्शन दो भेद हैं। तथा विशेष भेद १२ (८ प्रकार ज्ञान और ४ प्रकार दर्शन) हैं। यथा कुमति, कुश्रुत, कुअवधि, सुमति, सुश्रुत, सुअवधि, मनः पर्यय और केवल ज्ञान। चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधि दर्शन, और केवल दर्शन।

३. **अमूर्तत्व**—निश्चयनयसे जीव अमूर्तीक अर्थात् स्पर्श, रस, गंध, वर्ण से रहित है। परन्तु संसार अवस्था में कर्मनोकर्म अर्थात् सूक्ष्म और स्थूल शरीर सहित होने से मूर्तीक है।

४. **कर्तृत्व**—शुद्धनिश्चयनयसे अपने शुद्ध चैतन्य परिणामका, अशुद्धनिश्चयनयसे अशुद्ध चेतन परिणामका अर्थात् रागादि भावोंका और व्यवहारनयसे ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय, अन्तराय चार घाति कर्मोंका तथा आयु, नाम, गोत्र, वेदनीय चार अघाति कर्मों अर्थात् अष्ट कर्मोंका कर्त्ता है।

५. **भोक्तृत्व**—शुद्ध निश्चयनयसे शुद्ध चैतन्य परिणामका, अशुद्ध निश्चयनयसे अशुद्ध चैतन्य परिणाम अर्थात् रागादि भावोंका और व्यवहारनयसे अपने शुभाशुभ परिणामों द्वारा बाँधे हुए अष्टप्रकार ज्ञानावरणादि पौद्गलिक कर्मोंके फलका तथा स्पर्श, रस, गंध, वर्ण-शब्द रूप जो इन्द्रियों के विषय हैं उनका और धन, स्त्री आदिका भोक्ता है।

६. **स्वदेहपरिमाणत्व**—प्रत्येक जीव शुद्ध निश्चयनयसे लोक प्रमाण असंख्यात प्रदेशी है अर्थात् लोकाकाशके प्रदेश गणना में जितने हैं, ठीक उतने-उतने ही प्रदेश प्रत्येक जीव के हैं। परन्तु व्यवहारनयसे जैसा छोटा, बड़ा शरीर धारण करता है, उसी के आकार उसके आत्मप्रदेश संकोच विस्तार रूप हो जाते हैं। सिर्फ समुद्घात[1] अवस्थामें आत्मप्रदेश शरीर

१. समुद्घात—जिन कारणों से आत्म प्रदेश शरीर से बाहर भी निकलें, वे ७ —कषाय, वेदना, मारणान्तिक, आहारक, वैक्रियिक तैजस और केवल।

के बाहर भी निकलते हैं और सिद्ध अवस्थामें चरम अर्थात् अंतिम शरीर से किंचित् न्यून आकार प्रमाण आत्म-प्रदेश रह जाते हैं।

७. **संसारत्व**—जब तक जीव कर्ममल युक्त रहता है, तब तक संसारी है। संसारी जीवों के मुख्य दो भेद हैं—स्थावर और त्रस। स्थावर ५ प्रकार के हैं। पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक। त्रस चार प्रकार के हैं: दोइन्द्री—लट, शंख आदि। तेइन्द्री—चिउंटी, खटमल, बिच्छू आदि। चौइन्द्री—मक्खी, भौंरा, मच्छर आदि। पञ्चेन्द्री—पक्षी, पशु, मनुष्य, नारकी, देव आदि। इनके विशेष भेद ८४ लाख योनि तथा एक सौ साढ़े निन्यानवे लाख कोड़ि कुल हैं।

८. **सिद्धत्व**—यदि सामान्य रीति से देखा जाय तो अष्ट कर्मों के नाश होने से जीव के एक आत्मीक, निराकुल, स्वाधीन सुख की प्राप्ति होती है उस समय शुद्ध चैतन्य गुणयुक्त आत्मा अंतिम शरीर से किंचित् न्यून आकार से लोक शिखर के अन्त (लोकाग्र) में जा तिष्ठता है और अनंत काल तक इसी सुखी अवस्था में रहता है। ऐसी सिद्धि हो जाने पर जीव सिद्ध कहाता है। यदि विशेषरूप से कहा जाय तो अष्ट कर्मो के अभाव से उन अष्ट गुणों की प्राप्ति होती है जो अनादि काल से कर्मों से आच्छादित हो रहे थे। यथा-ज्ञानावरण के अभाव से अनंत ज्ञान, दर्शनावरण के अभाव से अनंत दर्शन, मोहनीय के अभाव से क्षायिकसम्यक्त्व, अंतराय के अभाव से अनंतवीर्य (शक्ति), आयुकर्म के अभाव से अवगाहनत्व, नाम कर्म के अभाव से सूक्ष्मत्व, गोत्र कर्म के अभाव से अगुरुलघुत्व, और वेदनीय के अभाव से अव्याबाधत्व गुण उत्पन्न होता है।

९. **उर्ध्वगतित्व**—जीव जब कर्म बंध से सर्वथा रहित हो जाता है तब उर्ध्वगमन कर एक ही समय में सीधा लोकाग्र (मोक्षस्थान) में जा पहुंचता है। जब तक कर्म सहित रहता है तब तक मरने पर (स्थूल शरीर छोड़ने पर) दूसरा शरीर धारण करने के लिए आग्नेयी, नैर्ऋति, वायव्य, ईशान चारों विदिशाओं के सिवाय पूर्व; दक्षिण, पश्चिम, उत्तर चारों दिशाओं में तथा उर्ध्व-अधो (ऊपर-नीचे) श्रेणी बद्ध (सीधा) गमन करता और पहिले, दूसरे, तीसरे या चौथे समय में जन्म (नया स्थूल शरीर) धारण कर लेता है। अन्तराल में तीन समय से अधिक नहीं रहता।

सारांश उपर्युक्त नवों प्रकार का यह है कि आत्मा का स्वाभाविक

आकार सिद्ध समान और गुण शुद्ध चैतन्य केवलज्ञान है। जब तक यह स्वाभाविक अवस्था को प्राप्त नहीं होता तब तक वह अनादि कर्म संयोग से अनेक शरीर रूप और मति, श्रुतादि, विकल ज्ञानरूप रहता है।

पुद्गलद्रव्य

यह पुद्गल द्रव्य जड़ (अचैतन्य) है। स्पर्श[1] रस, गंध, वर्ण गुणों वाला है तथा इसमें शब्द, बंध, सूक्ष्मता, स्थूलता, द्विकोण, त्रिकोण, गोल आदि संस्थान (आकार,) खंड, अंधकार, छाया, प्रकाश, आतप आदि पर्यायें होती रहती हैं। पुद्गलकी स्वभावपर्याय परमाणु और स्वभावगुण दो अविरुद्ध स्पर्श, एक रस, एक गंध, एक वर्ण ये ५ हैं, जो परमाणु में होते हैं। विभावपर्याय स्कंध और विभावगुण स्पर्शसे स्पर्शान्तर, रससे रसान्तर आदि २० हैं।

पुद्गलके अणुसे लेकर महास्कंधवर्गणा तक कार्माण वर्गणा, तैजस वर्गणा, आहारकवर्गणा, भाषावर्गणा रससे मनोवर्गणा आदि २३ भेद हैं। हर प्रकार की वर्गणाओंसे जुदे-जुदे प्रकार के कार्य होते हैं। जैसे कार्माणवर्गणासे ज्ञानावरणादि कर्म, आहारकवर्गणासे औदारिक-वैक्रियक आहारक शरीर, भाषावर्गणासे भाषा, मनोवर्गणासे मन और महास्कंध वर्गणासे यह अविनाशी, अनादि-अनंत लोक बना हुआ है।

पुद्गल परमाणुओंकी संख्या जो जीवोंसे अनन्तानन्त गुणी है वह इस प्रकार है कि कितने ही पुद्गल तो खुले हुए परमाणुरूप और कितने ही संख्यात, असंख्यात, अनंत परमाणुओंसे मिलकर स्कंधरूप लोकमें भरे हुए हैं। सिवाय इसके प्रत्येक जीव के साथ अनन्त-अनन्त पुद्गल नोकर्म शरीर (स्थूल शरीर) तथा कर्म शरीर (सूक्ष्म शरीर) की दशा में बंधे हुए हैं। इस तरह जीवोंकी अक्षयानन्त संख्या से पुद्गल परमाणुओंकी संख्या अनन्तानन्तगुणी है।

धर्म द्रव्य

यह धर्म द्रव्य पुद्गल और जीवोंको गमन करनेमें उदासीन रूपसे गति-सहकारी है अर्थात् चलते हुए जीव पुद्गलोंको चलन-सहाई है; किन्तु

---

१. स्पर्श ८ प्रकार—शीत-उष्ण, रूक्ष-चिक्कण, हलका-भारी और नरम-कठोर। रस ५ प्रकार—खट्टा, मीठा, चिरपिरा, कडुवा और कषायला। गंध २ प्रकार—सुगन्ध और दुर्गन्ध। वर्ण ५ प्रकार—श्वेत, पीला, नीला, लाल और काला।

जो स्थिर हों उन्हें धर्मद्रव्य हठात् (ज़बर्दस्ती) नहीं चलाता। जैसे पानी मछलियोंके चलनेमें सहायक होता हैं किन्तु प्रेरक नहीं होता। यह द्रव्य असंख्यात प्रदेशी, जड़, अरूपी और एक है। लोकाकाशके बराबर है, इसमें केवल स्वभाव पर्याय होती हैं, विभाव पर्याय नहीं होती।

अधर्म द्रव्य

यह अधर्म द्रव्य पुद्गल और जीवोंको स्थित होते (ठहरते) हुए उदासीन रूपसे स्थितिमें सहाई है अर्थात् जो पदार्थ ठहरे, उसे ठहरनेमें सहायता देता है। किन्तु चलते हुए पदार्थको हठात् नहीं ठहराता। जैसे पथिकको ठहरनेके लिये वृक्षकी छाया स्थिति-सहाई है किन्तु प्रेरक हो कर नहीं ठहराती। यह द्रव्य असंख्यात प्रदेशी जड़, अरूपी और एक है। लोकाकाश के बराबर है। इसमें स्वभावपर्याय होती है, विभावपर्याय नहीं होती।

काल द्रव्य

यह काल द्रव्य वर्तना-लक्षण युक्त है। प्रत्येक द्रव्य के वर्तने अर्थात् पर्याय से पर्यायान्तर होने में सहकारी—उदासीन कारण है। व्यवहारनयसे इसकी पर्याय समय, घटिका (घड़ी) दिन आदि हैं, क्यों कि काल द्रव्यके निमित्तसे ही द्रव्यों में समय समय सूक्ष्म पर्यायें होती हैं। आकाशके एक प्रदेशसे दूसरे प्रदेश तक परमाणुके मन्द गतिसे गमन करनेमें जितना काल लगता है, वही काल द्रव्यकी समय नामक सबसे छोटो पर्याय है। इसीसे आवली, मुहूर्त, दिन, वर्ष, कल्प, काल आदिका प्रमाण होता है। यह द्रव्य जड़ अरूपी है इसके अणु (जिन्हें कालाणु कहते हैं) गिनती में असंख्यात जुदे जुदे हैं। यह धर्म, अधर्म द्रव्यके समान कायरूप एक नहीं है। किन्तु लोकाकाश, धर्म, अधर्म तथा एक जीव द्रव्यके बराबर ही असंख्यात कालाणु, इसके अलग अलग हैं अर्थात् लोकाकाशके प्रत्येक प्रदेश पर एक-एक कालाणु स्थित है। इसमें स्वभाव पर्याय होती है, विभावपर्याय नहीं होती।

आकाश द्रव्य

यह आकाश द्रव्य, जीव पुद्गलादि पाँचों द्रव्यों को रहनेके लिये अवकाश देता है, इसमें अवगाहनत्व गुण है। यह जड़, अरूपी, अनन्त प्रदेशी एक द्रव्य है। इसमें स्वभावपर्याय होती है, विभावपर्याय नहीं होती। इसके मध्य भाग के जिन असंख्यात प्रदेशों (जितने क्षेत्र) में जीव, पुद्गलादि पाँच

द्रव्य भरे हुए (स्थित) हैं—उसे लोकाकाश कहते हैं; शेष अनन्त अलोकाकाश कहाता है।

सुख-दुःख के कारण

उपर्युक्त छह द्रव्यों में ४ द्रव्य उदासीन, सहकारी और स्वभाव रूप और स्थिर हैं। केवल जीव और पुद्गल में ही लोकभर में भ्रमण करनेकी शक्ति है, इससे इन दोनोंको क्रियावान कहते हैं। शेष ४ द्रव्य निष्क्रिय हैं, पुद्गल जड़ है इसलिए चाहे स्वभाव अवस्था में रहे, चाहे विभाव अवस्था में रहे उसे कुछ सुख-दुख नहीं होता, केवल एक जीव द्रव्य ही ऐसा है जिसे स्वभाव अवस्थामें सुख-शांति और विभाव अवस्था में दुख होता है क्योंकि यह चैतन्य है।

जीवात्मा अनादि काल से पुद्गल कर्म के संबन्धसे रागद्वेष रूप परिणमता, चतुर्गति में भ्रमण करता हुआ नाना प्रकार दुखी हो रहा है। जब पूर्वबद्ध (पहिले का बांधा हुआ) कर्म उदय कालमें[1] सुख-दुख रूप फल देता है तब जीव उस फल के अनुसार पुनः रागी-द्वेषी होकर, अपने मन, वचन, कायको शुभ अथवा अशुभ रूप प्रवर्ताकर नये पुद्गल कर्मों का बंध करता है। इस प्रकार जीव के प्राचीन कर्म उदयमें आकर खिरते जाते और फिर नये कर्म बंधते जाते हैं, जिससे कर्म बंधकी संतान नहीं टूटती और जीव को दही बिलोने की मथानी की नांई सांसारिक जन्म-मरणके चक्कर खाने पड़ते हैं, छुटकारा नहीं होता। जिस प्रकार मथानी से लिपटी हुई रस्सी का एक छोर खींचा जाय और दूसरा छोड़ दिया जाय तो वह चक्कर रहित हो सकती है। यदि उसी तरह जीव अपने पूर्वबद्ध कर्मों के उदय आने पर शांत भाव धारण करे और रागी-द्वेषी न हो तो प्राचीन कर्म अल्प रस देकर या सत्ता में ही रस-रहित होकर बिना रस दिये हुए उदय में आकर झड़ जायें और नवीन कर्मोंका बंध न हो। ऐसा होने से क्रमशः कर्मोंका अभाव होकर जीव निष्कर्म (शुद्ध) अवस्था को प्राप्त हो सकता है।

---

१. साता वेदनीयके उदय होने पर जीव की इच्छानुकूल अन्य पदार्थों का परिणमन सुख कहलाता है, यथार्थमें यह भी सच्चा सुख नहीं, सुखाभास मात्र है, क्योंकि यह स्वाधीन, नित्य, आत्मजनित नहीं है, पराधीन, क्षण-भंगुर और पर जनित है। असाता वेदनीय के उदय होने पर जीवकी इच्छाके प्रतिकूल अन्य पदार्थों का परिणमन दुःख कहलाता है।

जब परीक्षा तथा स्वसंवेदन ज्ञानद्वारा अनुभव किया जाता है तो निश्चय होता है कि आत्मा का असली स्वभाव ज्ञान-दर्शन मात्र है, इसमें राग द्वेषकी लहरें मोह (ममत्व भाव) वश पुद्गल में अपनापन मानने के कारण उठती हैं, और यही मोह कर्मबंधका मूल है, जैसे खानि में अनादि काल से स्वर्ण किट्टिका (पाषाण) युक्त अशुद्ध हो रहा है, तैसे ही जीव मोहके निमित्तसे पुद्गल कर्म मिश्रित संसार अवस्था को अनादि कालसे धारण कर रहा है अपने स्वरूपको भूल, मनुष्य, पशु, देव, नारकी, गोरा, काला आदि कर्म जनित पर्यायोंको ही अपना आत्म स्वरूप निश्चय करता (मानता) हुआ बहिरात्मा हो रहा है। जिससे ज्ञान का पुंज होते हुए भी किंचित्मति—श्रुत ज्ञानी, पूर्ण सुखका पुंज होते हुए भी अति दुखी और आत्मीक शुद्ध (सिद्ध) अवस्था का पात्र होते हुए भी एकेन्द्री, दोइन्द्री, तेइन्द्री, आदि तुच्छ जीव हो रहा है। यदि यह जीव परीक्षा पूर्वक इन सब बातोंपर विचार करे अपने स्वभाव-विभावका बोध प्राप्त कर, उसपर दृढ़ विश्वास लावे तो अपने स्वरूप का ज्ञाता—अन्तरात्मा हो सकता है। और फिर राग द्वेषको दूर कर शुभाशुभ कर्म करना छोड़ साम्यभाव धारण करे तो निष्कर्म हो अपने शुद्ध स्वभावको पाकर कृत-कृत्य परमात्मा हो सकता है।

जीवों के भेद

सम्पूर्ण संसारी जीवों के भव्यत्व, अभव्यत्व उपादान शक्तियों के कारण भव्य, अभव्य दो भेद हैं। ये शक्तियाँ जीवोंमें स्वयं हैं, किसीकी बनाई हुई नहीं हैं, जैसे मूग या चने कोई तो सीझनेवाले और कोई घोरडू अर्थात् न सीझने वाले स्वयं ही होते हैं।

१. **भव्य**—जिनमें मोक्ष प्राप्ति होने (सीझने) की शक्ति होती है। ये तीन भेद रूप हैं—(१) निकट भव्य—जिनको सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रय के बाह्य कारण मिलकर अल्पकाल में ही मोक्ष हो जाता है। (२) **दूरभव्य**—जिनको उपर्युक्त प्रकार से दीर्घ काल में मोक्ष होता है। (३) दूरातिदूर (दूरानदूर) भव्य—जिनको वाह्य कारण सम्यग्दर्शनादि के अनन्त काल तक नहीं मिलते और न मोक्ष होता है, तथापि इनमें भव्यत्व शक्ति है।

२. **अभव्य**—जिनमें मोक्ष प्राप्त करनेकी उपादान शक्ति ही नहीं, इनको सम्यग्दर्शनादि प्राप्ति के बाह्य कारण मिलनेपर भी मोक्ष नहीं होता।

निकट भव्य तथा दूर भव्य, पुत्र होनेकी उपादान शक्ति-युक्त विधवा स्त्री के समान, दूरातिदूर भव्य पुत्र होने की शक्तियुक्त विधवा स्त्रीके समान और अभव्य बांझ स्त्री के समान है।

जीवों की मोक्ष होने न होनेकी अन्तरंग उपादान शक्तियाँ अल्पज्ञ पुरुष यथार्थ रूप से नहीं जान सकते। इसलिये सदा पुरुषार्थ पूर्वक सम्यग दर्शनउत्पन्न होने के कारण मिलाना चाहिये। जिन कारणोंसे आत्मबोध हो उन कारणोंके मिलानेका सदा पूर्ण प्रयत्न करते रहना हर एक मनुष्यका कार्य है।

सप्त तत्व

जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये सात तत्व हैं। इनमें जीव, अजीव इन दो के अतिरिक्त शेष पांच तत्वों की उत्पत्ति "जीवाजीवविशेषाः।" अर्थात् जीव और अजीव (पुद्गल) के संयोग तथा वियोग की विशेषतासे है। जीव पुद्गल का संयोग रहना संसार, और जीव-पुद्गलका वियोग हो जाना मोक्ष है। इसी कारण मोक्ष प्रकरण में ये सप्त तत्व अति ही कार्यकारी हैं ये आत्मा के स्वभाव विभाव बतलाने के लिए दर्पण के समान हैं इनके ज्ञान-श्रद्धान बिना जीव अपनी असली स्वाभाविक सुख अवस्था को नही पा सकता, अतएव इनका स्वरूप भली भाँति जानना अत्यावश्यक है।

सबसे प्रथम इन जीवादि तत्वों का विशेष स्वरूप जानना चाहिये; क्योंकि इनको विशेष रूप मे जाने बिना दृढ़ विश्वास नहीं हो सकता और दृढ़ निश्चय हुए बिना कर्तव्याकर्तव्य की यथार्थ प्रवृत्ति नहीं हो सकती। इन सप्त तत्वोंके जाननेका मुख्य उद्देश्य यही है कि जिससे आत्माके स्वभाव-विभाव का श्रद्धान ऐसा हो जाय कि जीवसे पुद्गल (कार्माण वर्गणा) के सम्बन्ध होने के कारण आश्रव और बंध हैं तथा जीवसे पुद्गलके (कर्म वर्गणाके अलग होनेके कारण) संवर, निर्जरा है इसलिये संसारके मूलभूत आस्रव, बंधके कारणों को दूर करने और संवर, निर्जराके कारणोंको मिलानेसे मोक्षकी प्राप्ति हो सकती है। इस प्रकार विशेष रूपसे आत्म श्रद्धानका होना सम्यग्दर्शन है। सो यह बात सात तत्वोंके जाने बिना होना असंभव है। इसी कारण स्पष्ट रूपसे आत्म श्रद्धान कराने वाला असाधारण कारण "तत्व श्रद्धान" सम्यग्दर्शन लक्षण है। और इन सप्त तत्वों के बोध कराने के निमित्त कारण देव, शास्त्र, गुरु हैं,

इसीलिये आरंभिक दशा में देव, शास्त्र, गुरु के श्रद्धान को शास्त्रकारों ने सम्यग्दर्शन कहा है; क्योंकि सुदेव, सुशास्त्र, सुगुरुके निमित्त बिना इन जीवादि सप्ततत्त्वोंका उपदेश मिलना या बोध होना असंभव है। इस प्रकार उत्तरोत्तर कारणों से जब यथार्थ आत्म श्रद्धान हो जाता है तब ये सम्यक्त्व के सभी लक्षण अनुभव में एकसे आने लगते हैं।

जीव, अजीव (पुद्गल आदि पाँच जड़ पदार्थ) दो तत्वों का वर्णन तो द्रव्यों के प्रकरण में हो चुका है, शेष ५ तत्वों का वर्णन इस प्रकार हैं:—

आस्रव तत्व

जीवों की मिथ्यात्व, अविरति, कषाय आदि भावों से युक्त मन, वचन, काय की प्रवृत्ति होने से अथवा उनके अभाव में पूर्वबद्ध कर्मों के उदय होने से केवल योगों द्वारा आत्मप्रदेशों में चंचलता होती है जिससे पुद्गल परमाणु आत्मासे बद्ध होने के सन्मुख होते हैं यही द्रव्यास्रव है और जिन परिणामों या भावों से पुद्गल परमाणु (कार्माण वर्गणा) बन्ध के सन्मुख होते हैं उन भावों को भावास्रव कहते हैं। इस भावास्रव के विशेष भेद ५७ हैं।५७।

मिथ्यात्व—अतत्त्व श्रद्धान को कहते हैं, अर्थात् यथार्थ तत्वों तथा उनके यथार्थ स्वरूपसे उल्टे, अयथार्थ तत्वों पर तथा उनके अयथार्थ स्वरूप पर विश्वास करना मिथ्यात्व है। इसके ५ भेद हैं—(१) एकान्त मिथ्यात्व—पदार्थों में अनेक धर्म हैं, उनमें से केवल एक ही को मानना, शेष सब का अभाव मानना सो एकान्त मिथ्यात्व है। जैसे जीव-पुद्गल आदि द्रव्य अपने द्रव्यत्व की अपेक्षा नित्य अर्थात् अनादि अनन्त हैं, न कभी ये उत्पन्न हुए हैं और न कभी नष्ट होंगे, परन्तु पर्याय अपेक्षा अनित्य भी हैं अर्थात् इनकी पर्याय पलटती रहती है, एक पर्याय नष्ट होती और दूसरी उत्पन्न होती है। अब यदि इनमें नित्य या अनित्य एक ही धर्म मानकर दूसरे का अभाव माना जाय, तो वस्तु का यथार्थ बोध नहीं हो सकता, न कोई क्रिया सध सकती है; क्योंकि वस्तु तो नित्य-अनित्य दोनों गुण युक्त है अतएव केवल एक गुण युक्त ही मान लेना एकान्त मिथ्यात्व है। लोकस्थित सभी पदार्थों में अनेकानेक धर्म पाये जाते हैं, यद्यपि वचन द्वारा एक समय में एक ही धर्म कहा जा सकता है तथापि अपेक्षा पूर्वक कहने से अन्य धर्मों का अभाव नहीं ठहरता, जहाँ एक धर्म

मुख्यता से कहा जाय वहाँ दूसरे धर्मों की गौणता समझना चाहिये। ऐसा होने से ही पदार्थों में रहने वाले अन्य धर्मों का भी बोध होकर यथार्थ प्रवृत्ति होती है। जैसे ग्वालिन दही बिलोते समय रई (मथानी) की रस्सीके एक हाथसे पकड़े हुए छोरको अपनी ओर खींचती और दूसरे हाथमें पकड़े हुए छोरको ढीला कर देती है, सर्वथा नहीं छोड़ देती, तभी दहीका सार (घृत) हाथ लगता है। यदि दूसरे हाथसे रस्सी सर्वथा छोड़ दी जाय तो घीकी प्राप्ति नहीं हो सकती। इसी प्रकार अपेक्षा-रहित एक ही धर्मको लेकर पदार्थको सर्वथा नित्य, सर्वथा अनित्य, सर्वथा एक सर्वथा अनेक, सर्वथा द्वैत, सर्वथा अद्वैत माननेसे कार्यकी सिद्धि कुछ भी नहीं हो सकती। (२) विनय मिथ्यात्व—सुगुरु-सुदेव-सुधर्म, कुगुरु-कुदेव-कुधर्म इन सबको एक सदृश मानना-पूजना या सच्चे तत्वोंको और झूठे तत्त्वोंको एकसा समझना, दोनोंको एक-सी महत्वपूर्ण दृष्टिसे देखना, मानना यह सब विनय मिथ्यात्व है। (३) विपरीत मिथ्यात्व—देव, गुरु, धर्म तथा तत्त्वों का जिस प्रकार यथार्थ स्वरूप है उससे उल्टा विश्वास कर लेना अर्थात् रागी-द्वेषी कुदेवोंमें[१] देवका, परिग्रहधारी कुगुरुओंमें गुरुका, हिंसामयी अधर्ममें धर्मका और संसार के कारण रूप कुतत्त्वोंमें तत्त्वोंका श्रद्धान कर लेना यह सब विपरीत मिथ्यात्व है।(४)संशय मिथ्यात्व—अनेक मतोंके देव, गुरु, शास्त्र तत्वादि सुनकर सत्य-असत्यके निर्णयकी इच्छा न करना और विचारना कि अनेक मत तथा अनेक लोग अनेक तरहसे धर्मका स्वरूप वर्णन करते है, नही मालूम इनमें कौन सत्य है और कौन असत्य है? इस प्रकार निर्णयकी इच्छासे रहित सन्देहरूप रहना सो संशय मिथ्यात्व है। (५) अज्ञान मिथ्यात्व—देव-कुदेव, धर्म-कुधर्म, वक्ता-कुवक्ता, शास्त्र-कुशास्त्र, तत्त्व-कुतत्त्व, जिन मन्दिर-अन्य मन्दिर, वीतराग प्रतिमा-सराग प्रतिमा, सच्चे साधु-असाधु, संयम-असंयम आदि संसार तथा मोक्षके कारणोंके विषयमें विवेकरहित रहना सो अज्ञान मिथ्यात्व है।५।

---

१. जिन देवोंके पास रागका चिन्ह स्त्री और द्वेषका चिन्ह शस्त्र हो वे कुदेव हैं। जिन गुरुओंके अन्तरंगमें राग-द्वेष और बाह्य वस्त्र, धन, धान्यादिक परि-ग्रहसे प्रीति हो, जो गुरुपनेका अभिमान रखनेवाले और याचना करनेवाले हों वे सब कुगुरु है। जिन धर्म-क्रियाओंमें रागादि (भावहिंसा) की वृद्धि तथा त्रस व स्थावर हिंसा (द्रव्य हिंसा) हो, वह कुधर्म अथवा जिन शब्दोंमें हिंसाकी पुष्टि की गई हो, वे कुशब्द है। इसी प्रकार जिन तत्वोंके मानने और उनके अनुसार चलनेसे संसारकी परिपाटी बढ़ती हो, वे कुतत्त्व हैं।

अविरति—पापोंका त्याग न करना अविरति कहलाती है। इसके बारह भेद हैं - स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, श्रोत और मन इन छहों को वशमें न करना, इनके विषयों में लोलुपी बने रहना तथा पृथ्वीकायिक, जल कायिक, तेजकायिक, वायुकायिक, वनस्पतिकायिक, त्रसकायिक इन छः कायके जीवोंकी रक्षा न करना, ये बारह अवरति हैं। १२।

कषाय—जो आत्मगुणको घाते अथवा जिससे आत्मा मलिन (विभावरूप) होकर बंध अवस्थाको प्राप्त हो सो कषाय है। इसके २५ भेद हैं। ४ अनंतानुबन्धी—क्रोध, मान, माया, लोभ—यह कषाय अनन्त संसारके कारणस्वरूप मिथ्यात्वमें तथा अन्यायरूप क्रियाओं में प्रवृत्ति करानेवाले हैं। इनके उदयवश जीव सप्त व्यसनादि पापोंको निरर्गल हो सेवन करता है। ४ अप्रत्याख्यानावरण—क्रोध, मान, माया, लोभ—इनके उदयमें श्रावकके व्रत रंच-मात्र भी नहीं होते, तथापि अनन्तानुबन्धीके अभाव और सम्यक्त्व-के सद्भावसे अन्यायरूप विषयों (सप्तव्यसन सेवन) में प्रवृत्ति नहीं होती। इनके उदयसे न्यायपूर्वक विषयों में अतिलोलुपता रहती है। ४ प्रत्याख्या-नावरण—क्रोध, मान, माया, लोभ—यह कषाय यद्यपि मन्द हैं तथापि इनके उदय होते हुए महाव्रत (मुनिव्रत या सकलसंयम) नहीं हो सकता, इसके क्षयोपशमके अनुसार देशसंयम (श्रावकव्रत) हो सकता है। ४ संज्वलन—क्रोध, मान, माया, लोभ—यह कषाय अति मन्द हैं, मुनिव्रतके साथ-साथ इनका उदय होते हुए भी यह संयमको बिगाड़ नहीं सकते, केवल इनके उदय में यथाख्यातचारित्र नहीं हो सकता। ६ हास्यादिक—(१) हास्य जिसके उदयसे हँसी उत्पन्न हो।(२) रति—जिसके उदयसे पदार्थो में प्रीति उत्पन्न हो।(३)अरति—जिसके उदयसे पदार्थोंमें अप्रीति उत्पन्न हो।(४) शोक—जिसके उदयसे चित्तमें खेदरूप उद्वेग उत्पन्न हो। (५) भय—जिसके उदय-से डर लगे। (६) जुगुप्सा—जिसके उदयसे पदार्थों में घृणा उत्पन्न हो। ३ वेद—(१) पुरुषवेद—जिसके उदयसे स्त्रीसे रमनेकी इच्छा हो(२) स्त्री-वेद—जिसके उदयसे पुरुषसे रमनेकी इच्छा हो। (३) नपुंसकवेद—जिसके उदयसे स्त्री-पुरुष दोनोंसे रमनेकी इच्छा हो। २५।

योग—मन-वचन-कायद्वारा आत्म-प्रदेशोंके कम्पायमान होनेको योग कहते हैं। ये १५ प्रकारके हैं। ४ मनोयोग—मनकी सत्यरूप प्रवृत्ति सो सत्य-मनोयोग है। मनकी असत्यरूप प्रवृत्ति सो असत्य मनोयोग है। मन की सत्य-असत्य दोनों मिश्ररूप प्रवृत्ति सो उभयमनोयोग है। मनकी सत्य-असत्य

कल्पना-रहित प्रवृत्ति सो अनुभयमनोयोग है। ४ वचनयोग—वचनकी सत्यरूप प्रवृत्ति सो सत्यवचनयोग है। वचनकी असत्यरूप प्रवृत्ति सो असत्यवचनयोग है। सत्य-असत्य मिश्ररूप वचनकी प्रवृत्ति सो उभयवचनयोग है। सत्य-असत्य कल्पनारहित वचनकी प्रवत्तिसो अनुभय वचनयोग है। ७ काययोग—औदारिकशरीरकी प्रवृत्ति सो औदारिक काययोग है। औदारिक मिश्र काय की प्रवृत्ति सो औदाकिक मिश्र काययोग है। वैक्रियिक शरीरकी प्रवृत्ति सो वैक्रियिक काययोग है। वैक्रियिक मिश्रकायकी प्रवृत्ति सो मिश्र काययोग है। आहारक काय की प्रवृत्ति सो आहारक काययोग है। आहारकमिश्रकायकी प्रवृत्ति सो आहारक मिश्र काययोग है। कार्माणशरीरकी प्रवृत्ति मो कार्माण काययोग है[1]। १५।

जब मन-वचन कायके योग तीव्र कषायरूप होते हैं तब पापास्रव होता है और जब मन्द कषायरूप होते हैं तब पुण्यास्रव होता है। जब कषाययुक्त योगोंकी प्रवृत्ति होनी है तब सांपरायिक आस्रव होता है और जब कषायरहित पूर्वबद्ध कर्मानुसार योग चलते है, तब ईर्यापथ आस्रव होता है। सांपरायिक आस्रवमें प्रकृतिबन्ध, प्रदेशबन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभागबन्ध चारों प्रकारका बन्ध होता है परन्तु ईर्यापथ आस्रवमें केवल प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्ध दो ही प्रकारका बन्ध होता है।

बंधतत्व

जीवके रागादिरूप अशुद्ध भावोके निमित्तसे पौद्गलिक कार्माणवर्गणाओंका आत्माके प्रदेशोंसे एकक्षेत्रावगाहरूप होना सो बन्ध कहलाता है। पूर्व-बद्ध द्रव्यकर्मके उदयसे आत्माके चैतन्य परिणामोंका राग-द्वेषरूप परिणत होना सो भावबन्ध और आत्माके राग-द्वेषरूप होनेसे नूतन कार्माणवर्गणओंका आत्मासे एकक्षेत्रावगाहरूप होना द्रव्यबंध है। सो द्रव्यबन्ध चार प्रकार है (१) **प्रदेशबन्ध**—जीवके मन, वचन, कायकी हीनाधिक प्रवृत्तिके अनुसार कर्मवर्गणाओंका आत्म-प्रदेशोंसे एक-

१. औदारिक काययोगकी प्रवृत्ति पर्याप्त मनुष्य तिर्यंच के और औदारिक मिश्रयोगकी अपर्याप्त मनुष्य तिर्यंचके, वैक्रियिककाययोगकी प्रवृत्ति पर्याप्त देव-नारकीके और वैक्रियिकमिश्रयोगकी अपर्याप्त देव नारकीके, आहारक काय योगकी प्रवृत्ति छठे गुणस्थान में पर्याप्तआहारक पुतले के और आहारक मिश्रयोगकी अपर्याप्त आहारकपुतलेके, कार्माणकाय योगकी प्रवृत्ति अनाहारक अवस्थामें तथा केवलि समुद्घातके मध्यके ३ समयोंमें होती है।

क्षेत्रावगाहरूप होना सो प्रदेशबन्ध है। सब संसारी जीवोंके कार्माण-वर्गणाओंका बन्ध प्रत्येक समयमें होता है। इन समयप्रबद्ध वर्गणाओंमें ज्ञानावरणादि अष्टकर्मोंका अलग-अलग हीनाधिक विभाग होता है। वह विभाग या बंटवारा इस प्रकार है—सबसे अधिक वेदनीयका, उससे कुछ कम मोहनीयका, उससे कुछ कम ज्ञानावरणी, दर्शनावरणी और अन्तराय तीनोंका (बराबर-बराबर), इनसे कुछ कम नाम, गोत्र—दोनोंका बराबर-बराबर और सबसे कम आयुकर्मका विभाग होता है। प्रतिसमय बंधी हुई कार्माणवर्गणाओंमें केवल आयुबन्धके योग्य त्रिभागके अन्तर्मुहूर्त कालको छोड़ शेष समयोंमे सात कर्मरूप ही बंटवारा होताहै, और आयु बंधके योग्य त्रिभाग के अंतर्मुहूर्त कालमें[1] ८ कर्मरूप बंटवारा होता है (२) **प्रकृति-बन्ध**—कर्मके प्रत्येक बंटवारेमें आई हुई वर्गणाओंमें आत्मगुणके घातनेकी पृथक्-पृथक् शक्तियोंका उत्पन्न होना सो प्रकृतिबन्ध है, जैसे ज्ञानावरणीमें ज्ञानको आच्छादनेकी शक्ति, दर्शनावरणमें दर्शनको आच्छादनेकी शक्ति, मोहनीयमें आत्मज्ञानके होने देनेमें असावधानी करानेकी शक्ति, अन्तरायमें वीर्य अर्थात् आत्मबलको उत्पन्न न होने देनेकी शक्ति, आयुकर्ममें आत्माको शरीरमें स्थित रखनेकी शक्ति, नाम कर्ममे अनेक प्रकारके शरीर रचनेकी शक्ति, गोत्र कर्ममें नीच ऊच गोत्रमे उत्पन्न करानेकी शक्ति, और वेदनीय कर्ममें सांसारिक सुख-दु.ख अनुभव करानेकी शक्ति होती है। (३) **स्थिति-बन्ध**—कषायकी तीव्रता-मन्दताके अनुसार उन कर्मवर्गणाओंमें आत्मासे बधरूप रहनेके कालकी मर्यादा का पड़ जाना स्थितिबध है। इसमें उत्कृष्ट स्थिति ज्ञानावरणी-दर्शनावरणी-अंतराय और वेदनीयकी ३० कोड़ाकोड़ी

[1] वर्तमान आयुके दो भाग बीत जानेपर तीसरे भागके आरम्भके अंतर्मुहूर्तमे आयु बन्ध होनेकी योग्यता होती है। यदि वहां बध न हो तो उस शेष एक भागके दो तिहाई काल बीत जानेपर शेष तीसरे भागके आरम्भके अंतर्मुहूर्तमे आयुबधकी योग्यता होती है। इस प्रकार आठ विभागो मे आयुबध की योग्यता होती है। यदि इन आठोंमे बध न हो—तो आवलीका असख्यातवा भागमात्र समय मरनेमें शेष रहे उसके पूर्व अंतर्मुहूर्तमे अवश्य ही आयुका बध होता है। प्रकट रहे कि जिस त्रिभागमें आयुका बन्ध हो जाता है। उसमे तथा उसके पीछे त्रिभागोके आरम्भिक अंतर्मुहूर्त कालमे आठ कर्मरूप बँटवारा अवश्य होता है।

सागरकी, नाम-गोत्रकी २० कोड़ाकोड़ी सागरकी, मोहनीयकी ७० कोड़ाकोड़ी सागरकी (चारित्रमोहनीयकी ४० कोड़ाकोड़ी सागरकी, और दर्शनमोहनीयकी ७० कोड़ाकोड़ी सागरकी) तथा आयुकी ३३ सागरकी पड़ सकती है। जघन्यस्थिति ज्ञानावरणी, दर्शनावरणी, मोहनीय, अन्तराय और आयुकी अंतर्मुहूर्त, नाम-गोत्रकी ८ मुहूर्त और वेदनीयकी १२ मुहूर्तकी पड़ सकती हैं। (४) '**अनुभागबन्ध**—कषायोंकी तीव्रता मन्दताके अनुसार उनकर्म-वर्गणाओंमें तीव्रतर, तीव्र, मन्द, मन्दतर रस (फल) देनेकी शक्तिका पड़ना अनुभाग बंध कहलाता है। यह रसशक्ति घातिया कर्मोंमें शैल-अस्थि-दारु-लतारूप, अघातिया कर्मोंकी पापप्रकृतियोंमें हलाहल-विष-कांजी-नीमरूप और पुण्य प्रकृतियोंमें अमृत-शर्करा-खांड-गुड़रूप इस तरह चार-चार प्रकारकी होती है।

योगकी प्रवृत्तिसे प्रदेश-प्रकृति बंध और कषायोंकी प्रवृत्तिसे स्थिति-अनुभाग बंध होता है। इसलिए जब कषाययुक्त योगकी प्रवृत्ति होती है तब प्रकृति-प्रदेश-स्थिति-अनुभाग चारों प्रकार का बंध होता है। यह चारों प्रकारका बंध दशवें सूक्ष्मसांपराय गुणस्थान तक होता है। ऊपरके गुणस्थानोंमें कषायोंका अभाव होनेसे केवल योगोंकी ही प्रवृत्ति होती है तब प्रदेश-प्रकृतिरूप दो ही प्रकारका बंध होता है। इन योग-कषायोंकी विशेषतासे अष्ट कर्मोके बंधमें जो विशेषता होती है उसका सारांश इस प्रकार है—योगोंके अधिक चलनेसे अधिक कार्माण वर्गणाओं का प्रकृति बंध प्रदेशबंध होता है और कम चलनेसे कम होता है। कषायोंकी तीव्रतासे पाप रूप १०० प्रकृतियोंमें अनुभाग अधिक और ६८[1] पुण्यप्रकृतियोंमें अनुभाग कमतथा कषायोंकी मन्दतासे ६८ पुण्यप्रकृतियोंमें अनुभाग अधिक और १०० पाप प्रकृतियोंमें अनुभाग कम पड़ता है। इसी प्रकार तीव्र कषायसे मनुष्य,

१. चारों घातिया कर्मोंकी ४७ प्रकृतियां तो पापरूप ही है, अघातियोमे शुभ आयु, शुभ नाम, शुभ गोत्र तथा सतावेदनीय आदि ६८ पुण्य प्रकृतियां और अशुभ आयु, अशुभ नाम, अशुभ गोत्र तथा असाता वेदनीय आदि ५३ प्रकृतियां पापरूप हैं। इस प्रकार ८ कर्मोंकी १०० प्रकृतियां पापरूप और ६८ पुण्यरूप है। यद्यपि अष्टकर्मोंकी कुल प्रकृतियां १४८ ही है तथापि वर्ण रसादिकी २० प्रकृतियां पाप-पुण्य दोनोंरूप ही होती हैं।

तिर्यंच, देव इन तीनों आयुकी स्थिति कम और शेष सब कर्म-प्रकृतियोंकी स्थिति अधिक पड़ती है और मंद कषाय होनेसे इन तीनों आयुकी स्थिति अधिक और शेष कर्म-प्रकृतियोंकी स्थिति कम पड़ती है।

यहाँ यदि कोई सन्देह करे कि जड़ कर्मोंमें यह क्रिया आप ही आप कैसे हो जाती है ? तो इसका उत्तर यह है कि जैसे एक कालमें ग्रहण किया हुआ अन्न पेटमें पहुंचकर वायु, पित्त कफ, रस, रुधिरादि धातु उप-धातुरूप परिणमता है और उसमें पचनेके कालकी स्थिति तथा वायु, पित्त, कफादि रूप मंदतेज रसशक्ति उत्पन्न हो जाती है, उसी प्रकार जीवके शुभा-शुभ भावोंकानिमित्त पाकर कार्माणवर्गणायें आत्मासे एक क्षेत्रावगाह होकर ज्ञानावरणादि अष्टप्रकार कर्मरूप परिणमती हैं और उनमें स्थिति-अनुभाग आदिका विशेष हो जाता है।

संवरतत्व

जिन मिथ्यात्वादि भावोंके होनेसे कर्मास्रव होकर बन्ध होता है, उन भावोंका रुकना सो भावसंवर और कर्मवर्गणाओंके आगमनका रुकना सो द्रव्यसंवर है।

इस जीवके मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योगोंद्वारा आस्रव होकर बन्ध होता है जो संसारभ्रमणका कारण है। अतएव आस्रव रोकनेके लिए सम्यक्त्वकी प्राप्तिसे मिथ्यात्वका, देशविरति और महाविरतिके धारने से अविरतिका,यथाख्यातचारित्रकी प्राप्तिसे कषायोंका और योगप्रवृत्ति रोककर योग संवर करना प्रत्येक मोक्षाभिलाषी पुरुषका कर्तव्य है। इस प्रकार आस्रवों के रोकने की अपेक्षा संवरके ५७ भेद हैं। दशलक्षणधर्म-प्राप्ति, द्वादश-अनुप्रेक्षा-चिंतवन, बाईस परीषह-जय, पंच आचार, पंच समिति और तीन गुप्तिका पालन करना। इनका पूर्ण विवरण श्रावक धर्म तथा मुनिधर्म के प्रकरणों में यथा स्थान दिया गया है।

निर्जरा तत्व

पूर्वसंचित कर्मोंका एकदेश (कुछ अंश) क्षय होना निर्जरा कहलाती है। यह दो प्रकारकी है—(१) सविपाकनिर्जरा—जिससे कर्म उदय

कालमें रस (फल) देकर नष्ट हों, ऐसी निर्जरा सम्पूर्ण संसारी जीवोंके सदा काल होती रहती हैं। यह मोक्षमार्गमें कार्यकारी नहीं होती, क्योंकि इससे नवीन कर्मबंध होता है। (२) अविपाकनिर्जरा—परिणामोंकी निर्मलतासे अर्थात इच्छाओंको रोक, चित्तको रागद्वेषरहित करके ध्यान करने से व तप करनेसे पूर्वसंचित (सत्तास्थित) कर्मों का अपने उदय कालसे पहले ही बिना रस दिये एक देश नाश (क्षय) हो जाना। यह अविपाक निर्जरा है, यह मोक्षमार्गमें कार्यकारी है, क्योंकि यह संवरपूर्वक होती है अर्थात् इसमें नवीन कर्मोंका बध नही होता।

मोक्ष तत्व

सर्वकर्मो के सर्वथा नाश होनेसे आत्माके स्वभाव-भावका प्रकट हो जाना अर्थात् भावकर्म (रागद्वेष), द्रव्य कर्म (ज्ञानावरणादि) तथा नोकर्म (औदारिक आदि शरीरों) से रहित होकर अपने अनन्तज्ञान-अनन्तदर्शनादि आत्मीक गुणोको प्राप्त होना और सदाके लिये जन्म-जरा-मृत्युरहित निर्बन्ध अवस्थाको प्राप्तहो जाना सो मोक्ष है।

इन उपर्युक्त सप्त तत्वोंका चितवन करनेसे मिथ्यात्व मन्द पड़ता है और सम्यक्त्वकी उत्पत्तिकी संम्भावना हो जाती है।

जहाँ तहाँ शास्त्रोंमें उपर्युक्त सप्त तत्वोंके साथ पुण्य-पापको मिला-कर नव पदार्थोंका वर्णन किया गया है। यद्यपि पुण्य पाप आस्रवके ही भेद हैं, अर्थात् शुभास्रव पुण्यरूप और अशुभास्रव पापरूप है, तथापि आचार्योंने व्यवहारी-मन्दबुद्धि जीवोंको स्पष्टरूपसे समझानेके लिए पुण्य-पापको पृथक् रीतिसे वर्णन किया है। यहां पर जो आस्रवके ५७ भेद कहे गये हैं, उनमें ५ मिथ्यात्व और १२ अविरति तो पापास्रवके ही कारण हैं और कषाय तथा योगोंकी जब शुभरूप प्रवृत्ति होती है तब पुण्यास्रव होता है। और अशुभ रूप प्रवृत्ति होती है तब पापास्रव होता है

सम्यक्त्वका स्वरूप

इस प्रकार ऊपर कहे हुए द्रव्यों तथा तत्वोंका स्वरूप भली भाँति जानकर उनपर दृढ़ विश्वास करना ही सम्यग्दर्शन, सम्यक्त्व या श्रद्धान

कहाता है। यह श्रद्धान धर्मरूप वृक्षकी जड़, यथार्थमें तत्त्वज्ञानपूर्वक आत्म-धर्ममें श्रद्धा-रुचि, प्रतीतिरूप है। आप्त, आगम, पदार्थादिका श्रद्धान निश्चय सम्यक्त्वका कारण है इसलिए व्यवहार सम्यक्त्व कहलाता है और आत्म-श्रद्धान कार्यरूप निश्चय सम्यग्दर्शन है जो आत्माका स्वभाव है। इसके उत्पन्न होनेपर उपाधिरहित शुद्धजीवकी साक्षात् अनुभूति (स्वानुभव-गोचरता) होती है। यह अनुभव अनादिकालसे मिथ्यादर्शन (मिथ्यात्व) कर्मके उदयसे विपरीत रहता है। अनादि मिथ्यादृष्टि जीवके दर्शन मोहकी एक मिथ्यात्व प्रकृतिकी ही सत्ता होती है। जब जीवका पहिले ही पहिल तत्व श्रद्धान होनेसे उपशमसम्यक्त्व होता है तो उस समय मिथ्यात्वकी उदयरहित अवस्थामें परिणामोंकी निर्मलतासे उस सत्तास्थित मिथ्यात्व प्रकृतिका द्रव्य शक्तिहीन होकर मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व 'सम्यक्प्रकृति-मिथ्यात्व इन तीनरूप होजाता है। इसके सिवाय अनन्तानुबंधी क्रोध-मान-माया-लोभकी चार प्रकृतियां भी इस मिथ्यादर्शनकी सहकारिणी है। इसी कारण अनादिमिथ्यादृष्टिके ४ अनन्तानुबंधी, १ मिथ्यात्व और सादिमिथ्या-दृष्टि[1] के ४ अनन्तानुबन्धी, ३ मिथ्यात्वकी सत्ता होती है और इन्हीं पांच या सात प्रकृतियोंके उपशम होनेसे उपशम सम्यक्त्व होता है।

सम्यक्त्वकी उत्पत्ति में उपादानकारण परिणाम और वाह्यकारण सामान्यरूपसे द्रव्य-क्षेत्र-काल भावकी योग्यताका मिलना है। द्रव्योंमें प्रधान द्रव्य तो साक्षात् तीर्थंकरके दर्शन-उपदेशादि है। क्षेत्रमें--समवसरण, सिद्ध-क्षेत्रादि है। कालमें अर्धपुद्गलपरिवर्तन काल संसार परिभ्रमणका शेष रहना है। भावमें अधःप्रवृत्तआदि करण (भाव) हैं। तथा विशेषकारण अनेक हैं। जैसे—किसीके अरहंतके विम्बका दर्शन करना है, किसीके तीर्थं करके जन्मकल्याणआदिकी महिमाका देखना है, किसीके जातिस्मरण (पूर्व जन्मकी वातों की स्मृति) है, किसीके वेदना (दुःख) का अनुभव है, किसी के धर्मश्रवण और किसीके देवादिककी ऋद्धिका देखना है। इत्यादि

१. जिस जीवको अनादिकालसे कभी सम्यक्त्व (आत्माके स्वभावविभावोंका श्रद्धान) नही हुआ उसे अनादि मिथ्यादृष्टि कहते हैं। और जो सम्यक्त्व होकर पुनः आत्मश्रद्धानसे च्युत होकर मिथ्यात्वी हो जाता है उसे सादि मिथ्यादृष्टि कहते हैं।

सहकारी अनेक कारण हैं। भव्य जीवको जब इनमें से कोई बाह्य कारण मिलता है तब सम्यक्त्वकी बाधक उपर्युक्त ५ या ७ प्रकृतियोंका उपशम (अन्तर्मुहूर्त तक उदय आकर रस देनेके अयोग्य) होनेसे उपशम सम्यक्त्व हो जाता है। इस सम्यक्त्वकी जघन्य तथा उत्कृष्ट स्थिति अन्त-मुहूर्त की है। पश्चात् नीचे लिखी चार अवस्थाओंमेंसे कोई एक अवस्था अवश्य हो जाती है। अर्थात्—जो मिथ्यात्व प्रकृतिका उदय आ जाय तो मिथ्यात्वी, अनन्तानुबन्धी किसी कषायका उदय हो जाय तो सासादन-सम्यग्दृष्टि, और जो मिश्रमोहनीयका उदय हो जाय तो मिश्रसम्यक्त्वी हो जाता है, अर्थात् उसके सम्यक्त्व और मिथ्यात्वसे विलक्षण मिश्ररूप परि-णाम हो जाते हैं, जैसे गुड़मिश्रित दहीका खट्टा-मीठारूप मिश्रित स्वाद होता है। कदाचित् किसी जीवके सम्यक्प्रकृति मिथ्यात्वका उदय हो जाय तो क्षयोपशम या वेदक[1] सम्यक्त्व हो जाता है। इसकी जघन्यस्थिति अन्त-मुहूर्त और उत्कृष्ट स्थिति साधिक ६६ सागर है। यद्यपि क्षयोपशम सम्य-क्त्वमें सम्यक्प्रकृति मिथ्यात्वके उदयसे किंचित् मल-दोष लगते हैं तथापि वे मल-दोष सम्यक्त्वके घातक न होने से सम्यक्त्व नहीं छूटता। जब जीवके सम्यक्त्वकी विरोधिनी उपर्युक्त ७ प्रकृतियोंकी सत्ताका सर्वथा अभाव हो जाता है तव क्षायिक सम्यक्त्व होताहै इसकी जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट स्थिनि साधिक (कुछ अधिक) तेतीस सागर है। इस प्रकार उपशम, क्षयोपशम, क्षायिकके भेदसे सम्यक्त्व ३ प्रकार है।

'पंचाध्यायी' में सम्यक्त्वको परमावधि, सर्वावधि तथा मनःपर्यय ज्ञानका विषय कहा है, सो दर्शनमोहकी कर्म प्रकृतिके उपशम, क्षयोपशम या क्षय (को जानने) की अपेक्षा जान पड़ता है। अन्य ग्रन्थोंमें यह भी कहा है कि सम्यक्त्वके परिणाम (भाव) केवलज्ञानगम्य हैं सो सम्यक्त्व होने पर आत्मामें जो निर्मलता उत्पन्न होती है उस भावकी अपेक्षा कहा हुआ जान पड़ता है। छद्मस्थ (अल्प ज्ञानी) के प्रकट रूपसे ज्ञानमें आनेके लिए परिणामोंके प्रकट होने योग्य चिन्होंकी परीक्षा करके सम्यक्त्वके

१. सम्यक्त्व घातक सर्वघातिया (४ अनन्तानुबन्धी, मिथ्यात्व और मिश्र मिथ्यात्व) प्रकृतियोंके क्षयोपशमकी अपेक्षा क्षयोपशम सम्यक्त्व और सम्यक्त्वप्रकृति मिथ्यात्व के उदयकी अपेक्षा वेदक सम्यक्त्व कहलाता है।

जाननेका व्यवहार है यदि ऐसा न हो तो छद्मस्थ—व्यवहारी जीवके सम्यक्त्वके होनेका निश्चय न होने से आस्तिक्यका अभाव ठहरे और व्यवहारका सर्वथा लोप हो जायेगा। इसी कारण आप्त (सच्चे देव) के कहे हुए वाह्य चिन्हों की आगम (शास्त्र), अनुमान तथा स्वानुभवसे परीक्षा करके निश्चय करना योग्य है।

किसी जीवके तो पूर्व जन्मके तत्वविचार की वासना से वर्तमानमें परोपदेशके बिना निसर्गज सम्यक्त्व (स्वतः) ही उत्पन्न होता है तथा किसी के वर्तमान पर्याय में उपदेश पाकर तत्वविचार करने से अधिगमज सम्यक्त्व उत्पन्न होता है। पहिले कह ही चुके हैं कि सम्यक्त्वकी उत्पत्ति के वाह्य कारण देव, गुरु, शास्त्रका समागम, उपदेश की प्राप्ति, विभव का देखना, वेदना—तकलीफ का अनुभव आदि हैं। नरक में यद्यपि देव, गुरु, शास्त्र का समागम नहीं है, तो भी तीसरे नरक तक तो स्वर्गवासीदेव जाकर, उपदेश देकर सम्यक्त्व ग्रहण करा सकते हैं, तथा नीचे के नरकों में वेदनाजनित दुःखों के अनुभव से सम्यक्त्व हो सकता है। देवोंमें देवदर्शन, गुरु उपदेश आदि बनही रहा है। मनुष्यों, तिर्यंचोंमें देव, गुरु, शास्त्र का समागम तथा पूर्वभवस्मरण भी सम्यक्त्वका कारण होता है। इससे स्पष्ट होता है कि चारों गति के सैनी पर्याप्त भव्यजीवों को जागृत अवस्था में सम्यक्त्व हो सकता है। तिसपर भी मुख्यतया मनुष्य पर्याय में जितनी अधिक योग्यता सम्यक्त्व तथा चारित्र प्राप्तिकी है- उतनी और पर्यायों में नही। मनुष्य पर्याय ही एक ऐसी अमूल्य नौका है जिसपर चढ़कर जीव संसार सागरसे पार हो मुक्तिपुरी में पहुँच सकता है। फिर भी अन्य पर्यायोंमें जो थोड़ासा कारण पाकर सम्यक्त्वकी प्राप्ति हो जाती है सो भी पूर्वकाल में मनुष्य पर्याय में तत्वों की भलीभांति ऊहापोह (छानबीन) करनेका फल है। इसप्रकार दृढ़ विश्वास (सम्यक्त्व) के प्राप्त होने पर ही चारित्र का धारण करना कार्यकारी हो सकता है। अन्यथा बिना उद्देश्यों के समझे बूझे व्रतादि धारण करना अन्धेकी दौड़ के समान व्यर्थ अथवा अल्प (निरतिशय) पुण्यबंधका कारण होता है। देखो सम्यक्त्वकी महिमा, जिसके प्रभावसे सम्यग्दृष्टि गृहस्थको द्रव्यलिंगी मुनिसे भी श्रेष्ठ कहा है, क्योंकि यद्यपि द्रव्यलिंगी मुनि चारित्र पालन करता है तो भी सम्यक्त्व-रहित होने से मोक्षमार्गी नहीं है। और गृहस्थ चारित्र रहित है तो भी सम्यक्त्वसहित होने से मोक्षमार्गी है। सम्यक्त्वरहित होने पर देवायु के सिवाय नरक, तिर्यंच, मनुष्य आयुका बंध नहीं होता, यदि सम्यक्त्व होने के पूर्व नरकायु

का बंध हो गया हो, तो सम्यक्त्व सहित प्रथम नरक तक अथवा सम्यक्त्व छूटकर तीसरे नरक तक जाता है, नीचे नही जाता। यदि तिर्यंच या मनुष्यायु का बंध हो गया हो तो सम्यक्त्व होने पर भोगभूमि का मनुष्य या तिर्यंच होता है। सम्यक्त्वी जीव भवनवासी, व्यंतर, ज्योतिषीदेव, स्त्रीपर्याय, स्थावर, विकलत्रय तथा पशुपर्यायमें नही जाता, किन्तु सम्यक्त्वके प्रभाव से जबतक निर्वाण (मोक्ष) की प्राप्ति न हो, तबतक इन्द्र, चक्रवर्ती मंडलीक राजा, तीर्थंकर आदि महान् अभ्युदययुक्त पद पाता हुआ अल्पकालमें ही मोक्ष जाता है।

इस क्षेत्र में इस घोर पचमकालमे साक्षात् पंचपरमेष्ठी का समागम मिलना दुर्लभ है। इससे उनके रचित जैनागम तथा उस पवित्र मार्गके अनुसार प्रवर्तनेवाले सम्यक्त्वी वा एकदेशचारित्र के धारक विद्वानों के समागम द्वारा तत्वार्थ श्रद्धानपूर्वक आत्मश्रद्धान करना तथा इससे शंका, कांक्षा, विचिकित्सा, मिथ्यादृष्टियों की प्रशंसा–इन पांच अतीचारोंको त्याग, सम्यक्त्वको निर्दोष करना चाहिए, क्योंकि सम्यक्त्वरूपी दृढ़नींवके बिना चारित्ररूपी महल नही बन सकता, इसी कारण आचार्योंने कहा है कि "सम्मं धम्मो मूलो" सम्यक्त्व धर्मकी जड़ है। इसके प्राप्त होते ही कुज्ञान सुज्ञान और कुचारित्र सुचारित्र हो जाता है। सम्यक्त्व होने से ही कर्तव्या-कर्तव्यका ज्ञान होकर आत्महित के मार्ग में यथार्थ प्रवृत्ति होती है। सम्यक्त्व होने पर ही चारित्रमोह के अभाव के लिए सयम धारण करनेसे आत्मस्वभाव (धर्म) की उत्पत्ति अर्थात् कषायादि विभाव भावोंका अभाव होकर शुद्ध चैतन्य भाव प्रकट होता है।

सम्यक्त्वके चिन्ह

सम्यक्त्वका मुख्य चिन्ह तो उपाधिरहित शुद्ध चैतन्य स्वरूप आत्मा-की अनुभूति है। यद्यपि यह अनुभूति ज्ञानका विशेष है तथापि सम्यक्त्व होने पर इस अनुभूतिका स्वसवेदन ज्ञानद्वारा इस प्रकार आस्वाद एवं अनुभव होता है—"यह शुद्ध ज्ञान है सो मैं हूं तथा जो विकार है सो कर्म-जनित भाव है मेरा स्वरूप नही।" इस प्रकार भेद ज्ञानपूर्वक ज्ञानका आस्वाद, ज्ञानकी तथा आत्माकी अनुभूति कहलाती है। यह अनुभूति शुद्ध-नयका विषय, स्वानुभवगोचर और वचनअगोचर है। यह अनुभूति ही सम्यक्त्वका मुख्य चिन्ह है जो मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी कषायके अभावसे उत्पन्न होता है। इसके होनेसे प्रशम, संवेग, अनुकपा, आस्तिक्यादि

गुण प्रकट होते हैं, इन गुणोंके आश्रयसे ही सम्यक्त्वकी उत्पत्तिके जाननेका व्यवहार है। इस विषय में अपनी परीक्षा तो अपने स्वसंवेदन ज्ञान से होती है और दूसरों की उनके मन, वचन, कायकी चेष्टा एवं क्रियाद्वारा की जाती है।

जिस सम्यक्त्वके साथ प्रशम, संवेग, अनुकंपा, आस्तिक्ययुक्त राग-भाव होता है उसे सराग सम्यक्त्व कहते हैं। और जिसमें केवल चैतन्यमात्र आत्मस्वरूपकी विशुद्धता होती है उसे वीतराग सम्यक्त्व कहते हैं। यद्यपि कषायोंकी मन्दता, संसारसे उदासीनता, धर्मानुराग, अहिंसारूप भाव, और तत्व श्रद्धानकी दोनों सम्यक्त्वोंमें समानता है तथापि अहिंसामें जैसे वीत-रागभाव और दया में जैसे सरागभाव होते हैं वैसे ही सराग, वीतराग सम्यक्त्वके भावोंमें अन्तर है। वीतराग सम्यक्त्वमें आत्मश्रद्धान वीत-रागता लिये उदासीनतारूप और सराग सम्यक्त्वमें रागभावादियुक्त अनु-कम्पादिरूप होता है। ये सराग-वीतराग विशेषण सम्यक्त्व में चारित्रमोह-की अधिकता हीनताकी अपेक्षा है। सराग सम्यक्त्व चौथे गुणस्थानसे छठे गुणस्थान तक शुभोपयोगकी मुख्यता लिये होता है। और वीतराग सम्यक्त्व सातवे गुणस्थानमें शुद्धोपयोग की मुख्यता लिये होता है। अब यहां इन चारों चिन्होंका स्पष्ट स्वरूप कहते हैं।

१. **प्रशम**- मिथ्यादृष्टियोंमें तथा उनके बाह्यभेषों में सत्यश्रद्धानका अभिमान, आत्माके अतिरिक्त शरीरादि पर्यायों में आत्मबुद्धिका अभिमान व प्रीति, कुदेवादिकमें भक्ति, और अन्यायरूप विषय (सप्तव्यसनादि) सेवनमें रुचि ये सब बातें अनन्तानुबन्धी कषायके उदयसे होती हैं, परन्तु जिस जीवके प्रशमभाव उत्पन्न हुआ हो उसके ऐसे भाव नहीं होते अथवा जिस प्रकार अपना बुरा करनेवालोंके घात करनेका विचार मिथ्यादृष्टि करता है वैसा निर्दयभाव सम्यग्दृष्टि नही करता। वह विचारता है कि मेरा भला-बुरा जो कुछ हुआ है वह वास्तवमें मेरे शुभाशुभ परिणामों द्वारा बंधे हुए पूर्वसंचित कर्मोंका फल है। ये अन्य पुरुष तो निमित्तमात्र हैं। ऐसे यथार्थ विचारोंके उत्पन्न होनेसे उस प्रशमवान् जीवकी कषाय मन्द रहती है अथवा अप्रत्यख्यानावरण कषायके उदयवश न्यायपूर्वक विषयोंमें लोलुपता तथा गृहस्थीके आरम्भादिकमें प्रवृत्ति होती है सो भी बहुत विचारपूर्वक होती है। वह विवश इन कार्योंको करते हुए भी भला नहीं समझता, अपनी निन्दा-गर्हा करता रहता है। वह विचारता है कि कौन

समय हो, जब इन जंजालोंसे दूर होकर इष्ट-सिद्धिके सन्मुख होऊं। ऐसी कषायोंकी मन्दताको प्रशम कहते हैं। जहां अनंतानुबंधी कषायकी चौकड़ी सम्बन्धी रागद्वेषका अभाव हो जाता है, सो प्रशम है।

२. **संवेग**--धर्म तथा धर्मके फलमें अनुराग एवं परम उत्साहका उत्पन्न होना संवेग कहलाता है। इसको अभिलाषा या वांछा नहीं कह सकते, क्योंकि अभिलाषा या वांछा इन्द्रिय-विषयों की चाह को कहते हैं, सो वह यहां है नहीं, यहां तो केवल आत्म हितरूप शुभ वांछा है। इसीमें संसार-शरीर भोगोंसे विरक्तिरूप निर्वेद भी गर्भित है, क्योंकि जब पंचपरिवर्तनरूप संसारसे भयभीतपना होकर अपने आत्मस्वरूप धर्मकी प्राप्तिमें अनुराग होता है तभी अन्य सांसारिक विषयाभिलाषाओंसे तथा परद्रव्योंसे सच्ची विरागता होती है यही निर्वेद कहलाता है।

३. **अनुकम्पा**– अन्य प्राणियोंको दुखी देखकर दयावश दुखी होना, उनके दुख दूर करनेका शक्तिभर उपाय करना, न चले तो पश्चात्ताप करना और अपना बड़ा दुर्भाग्य मानना। इस प्रकार अनुकम्पा करनेसे अपने तईं पुण्यकर्मका बन्ध होनेके कारण तथा कुछ अंशोंमें पापकर्मके बंधसे बचनेके कारण अपनी आत्मापर भी अनुकम्पा होती है।

४. **आस्तिक्य**-लोकमें (संसारमें) जो जीवादि पदार्थ हैं उनका भली भांति बोध दो प्रकारसे होता है। एक तो हेतुवाद से नय-प्रमाणद्वारा। दूसरे सूक्ष्म स्वभावसे (इन्द्रियोंके अगोचर जैसे-परमाणु), अन्तरित (कालसे अन्तरवाले जैसे—राम-रावण), दूरवर्ती (देशकी अपेक्षा जैसे—मेरु) पदार्थोंका आगम प्रमाणसे। अतएव अपनी बुद्धिपूर्वक की हुई श्रद्धाको अथवा सर्वज्ञ वीतराग देव (केवली) ने सूक्ष्मादि पदार्थोंका जैसा निरूपण किया है यथार्थमें पदार्थोंका स्वरूप वैसा ही है, अन्यथा प्रकार नहीं, इस-प्रकारकी श्रद्धाको आस्तिक्य कहते हैं।

कई ग्रन्थोंमें सम्यक्त्वके संवेग, निर्वेद, निन्दा, गर्हा, उपशम, भक्ति, वात्सल्य और अनुकम्पा इन ८ गुणोंका उत्पन्न होना कहा है। सो ये आठों गुण उपर्युक्त चारों भावनाओं में ही गर्भित हो जाते हैं। प्रशममें निन्दागर्हा और संवेगमें निर्वेद, वात्सल्य और भक्ति गर्भित हैं।

सम्यक्त्वके अष्ट अंग

सम्यक्त्वके ८ अङ्ग होते हैं--निःशङ्कित, निःकांक्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढ़दृष्टि, उपगूहन या उपबृंहण, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना :—

१. **निःशंकित अंग**—शङ्का नाम संशय तथा भयका है। इस लोकमें धर्म-द्रव्य, अधर्म-द्रव्य, पुद्गल परमाणु आदि सूक्ष्म पदार्थ, द्वीप, समुद्र, मेरु पर्वतादि दूरवर्त्ती पदार्थ, तथा तीर्थंकर, चक्रवर्त्ती, राम-रावणादि अन्तरित पदार्थ है। इनका वर्णन जैसा सर्वज्ञ-वीतरागभाषित आगममें कहा गया है सो सत्य है या नही ? अथवा सर्वज्ञ देवने वस्तुका स्वरूप (अनेकान्तात्मक अनन्तधर्मसहित) कहा है सो सत्य है कि असत्य ? ऐसी शङ्का उत्पन्न न होना निःशङ्कित अंग है, क्योंकि ऐसी शङ्का तो मिथ्यात्वकर्मके उदयसे ही होती है।

मिथ्यात्वप्रकृतिके उदयसे परपदार्थोंमें आत्मबुद्धि उत्पन्न होती है। इसीको पर्यायबुद्धि कहते हैं अर्थात् कर्मोदयसे मिली हुई शरीरादि सामग्री-को ही जीव अपना स्वरूप समझ लेता है। इस अन्यथा बुद्धिसे ही सप्त प्रकारके भय उत्पन्न होते हैं—इहलोकभय, परलोकभय मरणभय, वेदनाभय, अरक्षाभय, अगुप्तिभय और अकस्मात्भय। जब इनमें से किसी प्रकारका भय हो तो जानना चाहिये कि मिथ्यात्वकर्मके उदयसे हुआ है।

यहांपर कोई शङ्का करे कि भय तो श्रावकों तथा मुनियोंके भी होता है, क्योकि भयप्रकृतिका उदय अष्टम गुणस्थान तक है तो भयका अभाव सम्यक्त्वीके कैसे सम्भव हो सकता है। उसका समाधान—सम्यग्दृष्टिके कर्मके उदयका स्वामीपना नही है और न वह परद्रव्य द्वारा अपने द्रव्यत्व-भावका नाश मानता है। पर्यायका स्वभाव विनाशीक जानता है। इसलिये चारित्रमोह सम्बन्धी भय होते हुए भी दर्शनमोह सम्बन्धी भयका तथा तत्त्वार्थश्रद्धानमें शङ्काका अभाव होनेसे वह निःशङ्क और निर्भय ही है। यद्यपि वर्तमान पीड़ा सहनेमें अशक्त होनेके कारण भयसे भागता, इलाज आदि भी करता है तथापि तत्त्वार्थ श्रद्धानसे चिगनेरूप दर्शनमोह सम्बन्धी भयका लेश भी उसे उत्पन्न नहीं होता। अपने आत्मज्ञान-श्रद्धानमें निःशङ्क रहता है।

२. **निःकांक्षित अंग**—विषय-भोगोंकी अभिलाषाका नाम कांक्षा या

वांछा है यह भोगाभिलाष मिथ्यात्वकर्मके उदय से होता है, इसके चिन्ह ये हैं—पहिले भोगे हुए भोगोंकी वांछा, उन भोगों की मुख्य क्रियाकी वांछा, कर्म और कर्मके फलकी वांछा, मिथ्यादृष्टियोंको भोगोंकी प्राप्ति देखकर उनको अपने मनमें भले जानना अथवा इन्द्रियोंकी रुचिके विरुद्ध भोगोंमें उद्वेगरूप होना ये सब सांसारिक वांछाएँ हैं। जिस पुरुष के ये न हों सो निःकांक्षित अङ्ग-युक्त है। सम्यग्दृष्टि यद्यपि कर्मके उदयकी जबर्दस्तीसे इन्द्रियोंको वश करनेमें असमर्थ है इसलिए पचइन्द्रियों के विषय सेवन करता है तो भी उसको उनसे रुचि नहीं है। ज्ञानी पुरुष व्रतादि शुभाचरण करता हुआ भी उनके उदयजनित शुभ फलोंकी वांछा नहीं करता, यहाँ तक कि व्रतादि शुभाचरणोंको आत्म-स्वरूपके साधक जान आचरण करते हुए भी हेय जानता है।

३. **निर्विचिकित्सा अंग**—अपनेको उत्तम गुणयुक्त समझकर अपने, तईं श्रेष्ठ माननेसे दूसरेके प्रति जो तिरस्कार करनेकी बुद्धि उत्पन्न होती है उसे विचिकित्सा या ग्लानि कहते हैं। यह दोष मिथ्यात्वके उदयसे होता है। इसके बाह्य चिन्ह ये हैं—जो कोई पुरुष पापके उदयसे दुःखी हो वा असाताके उदयसे ग्लान-शरीरयुक्त हो, उसमें ऐसी ग्लानि रूप बुद्धि करना कि "मैं सुन्दर रूपवान्, संपत्तिवान्, बुद्धिमान हूं, यह रंक-दीन, कुरूप मेरी बराबरीका नहीं।" सम्यग्दृष्टि के ऐसे भाव कदापि नहीं होते वह विचार करता है कि शुभाशुभ कर्मोंके उदयसे जीवोंकी अनेक-प्रकार विचित्र दशा होती है। कदाचित् मेरा भी अशुभ उदय आ जाय तो मेरी भी ऐसी ही दुर्दशा होना कोई असंभव नहीं है। इसलिये वह दूसरोंको हीन-बुद्धि से या ग्लान-दृष्टिसे नहीं देखता।

४. **अमूढदृष्टि अंग**—अतत्त्वमें तत्त्व श्रद्धान करनेकी बुद्धिको मूढ़-दृष्टि कहते हैं। वह मिथ्यात्वके उदयसे होती है। जिनके यह मूढ़दृष्टि नहीं, वे अमूढ़दृष्टि अंग-युक्त सम्यग्दृष्टि हैं। इसके बाह्य चिन्ह ये हैं— मिथ्यादृष्टियोंने पूर्वापर विवेक विना, गुण दोषके विचार रहित अनेक पदार्थोंको धर्मरूप वर्णन किया है और उनके पूजनेसे लौकिक और पारमार्थिक कार्योंकी सिद्धि बताई है। अमूढ़दृष्टिका धारक इन सबको असत्य जानता और उनमें धर्मरूप बुद्धि नहीं करता तथा अनेक प्रकारकी लौकिक मूढताओंको निस्सार तथा खोटे फलोंकी उत्पादक जानकर व्यर्थ समझता है। कुदेव, या अदेवमें देव बुद्धि, कुगुरु या अगुरु में गुरुबुद्धि, तथा इनके

निमित्त हिंसा करनेमें धर्म मानना आदि मूढदृष्टिपनेको मिथ्यात्व समझ दूर ही से तजता है, यही सम्यक्त्वीका अमूढ़दृष्टिपना है। अमूढ़दृष्टिकी प्राप्तिके लिए सच्चे देव-गुरु-शास्त्र की पहिचान करना आवश्यक है :

देव—जिस किसी भी आत्मासे रागादि दोष और ज्ञानावरणादि आवरण सर्वथा नष्ट हो जाते हैं वह देव कहलाता है। यहाँ देव शब्दसे देवगति सम्बन्धी चार प्रकारके देव नहीं, किन्तु परमात्मा समझना चाहिये। देव सामान्य अपेक्षासे तो एक ही प्रकार है, परन्तु विशेष अपेक्षा अर्हत, सिद्ध दो प्रकार हैं तथा गुणोंकी मुख्यता, गौणताकी अपेक्षा तथा नामादि भेदसे अनेक प्रकार हैं तो भी अर्हत्, सिद्ध ये प्रसिद्ध हैं। इनका स्वरूप इस-प्रकार है—(१) 'अर्हत्' या अर्हत्—जिस आत्माने गृहस्थावस्थाको छोड़कर मुनिपद धारणकर लिया हो और शुक्ल ध्यानके बलसे चार घातियाकर्मोंका नाश करके अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख, अनन्तवीर्य (अनन्तचतुष्टय) की प्राप्ति कर ली हो और जो परम औदारिक शरीरमें रहकर भव्य-जीवों को मोक्षमार्गका उपदेश देता हो, उसे अर्हत् कहते हैं। अर्हत्‌में आन्तरिक अनन्तचतुष्टय गुणोंके सिवाय बाह्य ३४ अतिशय, अष्टप्रातिहार्य और भी होते है इस तरह बाह्य-अभ्यन्तर सब मिलाकर ४६ गुण होते हैं। (२) सिद्ध—जो पौद्गलिक देहरहितपरमात्मा लोकके शिखर (अन्त) में स्थित हैं, अष्ट कर्मके अभावसे आत्मिक सम्यक्त्वादि अष्टगुणमण्डित हैं, जन्म, जरा, मरणसे रहित हैं, और अनन्त, अविनाशी आत्मिक सुखमें मग्न हैं वे सिद्ध कहलाते हैं। इन ही अर्हत्-सिद्ध-परमात्माके गुणोंकी अपेक्षा अनेक नाम हैं यथा—अर्हंत, जिन, सिद्ध, परमात्मा, ब्रह्मा, विष्णु, महेश, हरि, बुद्ध, सर्वज्ञ, वीतराग, शंकर, त्रिलोकज्ञ आदि।

गुरु—जो सांसारिक विषय-कषायोंसे विरक्त होकर आरम्भ परिग्रह को त्याग मोक्षसाधनमें तत्पर हों और स्वपर-कल्याणमें कटिबद्ध हों, वे गुरु कहलाते हैं। वास्तवमें ऐसे परम गुरु तो अर्हन्त देव ही हैं; क्योंकि उक्त सब गुण इनमें ही पूर्णताको प्राप्त हुए हैं। इनके अतिरिक्त इनकी परिपाटीमें चलने वाले, छद्मस्थ, क्षायोपशमिक ज्ञानके धारक, निर्ग्रन्थ दिगम्बर मुद्राधारी भी गुरु हैं। क्योंकि इनमें भी एकदेश रागादि दोषोंकी हीनता और सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रकी शुद्धता पाई जाती है। यही शुद्धता संवर-निर्जरा-मोक्षका कारण है। ये ही गुरु मोक्षमार्गके उपदेशक हैं। इस प्रकार सामान्यरीतिसे गुरु एक प्रकार है और विशेष रीतिसे पदके अनु-

सार आचार्य, उपाध्याय और साधु तीन भेदरूप हैं। इन तीनोंमें मुनिपनकी क्रिया, बाह्य निर्ग्रन्थ लिंग, पंचमहाव्रत, पंचसमिति, तीन गुप्तिका साधन, शक्ति अनुसार तप, साम्यभाव, मूलगुण, उत्तरगुण धारण, परीषह उपसर्ग सहन, आहार-विहार-निहार की विधि, चर्या-आसन-शयनकी रीति, मोक्षमार्गके मुख्य साधक सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रकी प्रवृत्ति, ध्यान,-ध्याता-ध्येयपना, ज्ञान-ज्ञाता ज्ञेयपना, चरित्र-आराधनाका आराधन, क्रोधादि कषायों का जीतना आदि सामान्यरीत्या मुनियोंके आचरणकी समानतासे अभिन्नता है। इनकी विशेषताएं मुनि-धर्म प्रकरण में बताई गई हैं।

ये तीनों प्रकारके साधु दयाके उपकरण पीछी, शौच के उपकरण कमंडलु और ज्ञानके उपकरण शास्त्रयुक्त होते है, और आगमोक्त ४६ दोष ३२ अन्तराय १४ मलदोष बचा कर शुद्ध आहार लेते हैं। ये ही मोक्षमार्गके साधक सच्चे साधु हैं और ये ही गुरु कहलाते हैं।

शास्त्र—जो सर्वज्ञ, वीतराग और हितोपदेशी आप्त अर्हंत) द्वारा कहे गये हैं। अर्थात् अर्हंत देवकी दिव्य-ध्वनि से उत्पन्न हुए हों, जिनका वादी प्रतिवादियोंद्वारा खंडन न हो सके, जो प्रत्यक्ष और परोक्ष प्रमाणोंसे विरोध रहित हों, तत्वोपदेशके करनेवाले, सबके हितैषी और मिथ्या अंधकारके दूर करनेवाले हों, वे ही सच्चे शास्त्र (आगम) हैं। ऐसा नहीं कि यह प्राकृतभाषामय है या संस्कृतभाषामय हैं अथवा बड़े आचार्योंके नामसे वेष्टित हैं इसलिये ये हमारे मान्य हैं, हम इन्हींके वाक्योंको मानेंगे; किन्तु वस्तु-स्वरूपके निर्णय करनेमें अनेक आगमोंका अवलोकन, युक्तिका अवलंबन, परम्परा या उपदेशक गुरु और स्वानुभव इन चारका भी आश्रय लेना चाहिये। इस प्रकार निर्णय करनेसे जो वस्तुस्वरूप निश्चित हो वही श्रद्धान करने योग्य है। क्योंकि इस घोर पञ्चमकालमें कषायभावसे कई पाखंडियोंमें शास्त्रोंमें महान-महान आचार्योंसरीखे नामोंको रचियताके स्थानपर लिखकर अन्यथा धर्म-विरुद्ध, विषय-कषायपोषक रचनाएं भी करडाली हैं। इस प्रकार देव, गुरु, शास्त्रके वर्णनके भीतर पंचपरमेष्ठीका संक्षिप्त स्वरूप कहा गया है।

५. उपगूहन अंग—इसको उपवृंहण भी कहते हैं। पवित्र जिनधर्ममें अज्ञानता अथवा अशक्ततासे उत्पन्न हुई निन्दाको योग्य रीतिसे दूर करना तथा अपने गुणोंको वा दूसरोंके दोषोंको ढांकना सो उपगूहन है। पुनः अपनी

तथा अन्य जीवोंकी सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र-शक्तिका बढ़ाना, सो उपबृंहण है।

६. स्थितिकरण अंग—आप स्वयं या अन्य पुरुषकर्म के उदयवश ज्ञान, श्रद्धान चारित्र से डिगते या छूटते हों, तो अपने को व उन्हें दृढ़ तथा स्थिर करना सो स्थितिकरण अंग है।

७. वात्सल्य अंग—अर्हंत, सिद्ध, उनके बिम्ब, चैत्यालय, चतुर्विध संघ तथा शास्त्रोंमें अन्तःकरणसे अनुराग करना—भक्ति-सेवा करना, सो वात्सल्य अंग है। यह वात्सल्य वैसा ही होना चाहिये जैसे स्वामीमें सेवककी अनुराग-पूर्वक भक्ति होती है या गायका बछड़ेमें उत्कट अनुराग होता है। यदि इनपर किसी प्रकारके उपसर्ग या संकट आदि आवें, तो अपनी शक्तिभर मेटनेका यत्न करना चाहिए, शक्ति नहीं छिपाना चाहिए।

८. प्रभावना अंग—जिस तरहसे बन सके, उस तरहसे अज्ञान अंधकारको दूर करके जिन शासनके महात्म्यको प्रकट करना प्रभावना है अथवा अपने आत्म-गुणोंको उद्योतरूप करना अर्थात् रत्नत्रयके तेजसे अपनी आत्माका प्रभाव बढ़ाना और पवित्र मोक्षदायक जिनधर्मको दान-तप-विद्या आदिका अतिशय प्रगट करके तन, मन, धनद्वारा (जैसी अपनी योग्यता हो) सब लोकमें प्रकाशित करना सो प्रभावना है। इस प्रकार ऊपर कहे हुए आठ अंग जिस पुरुषके २५ मल दोषरहित प्रगट हों वह सम्यग्दृष्टि है।

२५ मल दोष

अष्ट दोष—उपर्युक्त अष्ट अंगोंसे उल्टे (विरुद्ध) शंका, कांक्षा, विचिकित्सा मूढ़दृष्टि, अनुपगूहन, अस्थितिकरण, अवात्सल्य, अप्रभावना ये अष्ट दोष मिथ्यात्वके उदयसे होते हैं। इसलिये सम्यक्त्वके अष्ट अंगोंका जो स्वरूप ऊपर कहा गया है उससे उल्टा दोषोंका स्वरूप जानना चाहिये। इन दोषोंको मन-वचन-कायसे त्यागनेसे सम्यग्दर्शन शुद्ध होता है। यद्यपि जहाँ तहाँ इनको अतीचाररूप कहा है तथापि ये त्यागने ही योग्य हैं, क्योंकि जैसे अक्षरन्यून मंत्र कभी विषकी वेदनाको दूर नहीं कर सकता, उसी प्रकार अंगरहित सम्यक्त्व संसारभ्रमणको नहीं मिटा सकता। पुनः इनके होनेसे तीन मूढ़ता, षट् अनायतन, अष्ट मद ये दोष उत्पन्न होते हैं और सम्यक्त्व को दूषित करके नष्ट कर देते हैं, अतएव ये अष्टदोष त्यागने योग्य है।

तीन मूढ़ता (१) देव मूढ़ता—किसी प्रकारके वर (सांसारिक भोगों या पदार्थों की इच्छाकी पूर्ति) की वांछा करके रागी-द्वेषी देवोंकी उपासना

करना, उन्हें पाषाणादिमें स्थापित करना, उनकी पूजनआदि करना देवमूढ़ता है। (२) गुरुमूढ़ता—परिग्रह, आरम्भ और हिंसादिदोषयुक्त पाखंडी-भेषियोंका आदर-सत्कार-पुरस्कार करना गुरुमूढ़ता है। (३) लोक मूढ़ता-जिस क्रियामें धर्म नहीं, उसमें अन्यमतियोंके उपदेशसे तथा स्वयमेव बिना विचारे देखादेखी प्रवृत्ति करके धर्म मानना सो लोकमूढ़ता है। जैसे सूर्यको अर्घ देना, गंगास्नान करना, देहली पूजना, सती होना (मृतक पतिके साथ चितापर जल जाना) आदि।

षट् अनायतन— कुगुरु, कुदेव, कुधर्म (कुशास्त्र) तथा इनके सेवकोंको धर्मके स्थान समझ कर उनकी स्तुति-प्रशंसा करना सो षट् अनायतन है। क्योंकि ये छहों बिल्कुल ही धर्मके ठिकाने नहीं है।

आठ मद--(१) पूजा (बड़प्पन,) (२) कुल (पितापक्ष) (३) जाति (माता-पक्ष), (४) बल (५) ऋद्धि (धन-सम्पत्ति) (६) तप (७) ज्ञान तथा (८) शरीरकी सुन्दरता-रूपका मद करना और इनके अभिमान वश धर्म-अधर्मका, हित अहितका, कुछ भी विचार न करना, आत्मधर्म तथा आत्म-हित को भूल जाना। जिस तरह मद्य पीनेवाला मद्य पीकर बेसुध हो जाता है, उसी तरह मदोंमें भूला हुआ धर्मकी ओरसे बेसुध हो जाता है।

सम्यक्त्वकी निर्मलताके लिए उपर्युक्त २५ मल दोषोंका सर्वथा त्याग करना ही योग्य है।

पंचलब्धियां

सम्यक्त्व प्राप्तिके लिए नीचे लिखी हुई पाँच बातों की प्राप्ति (लब्धि) होना आवश्यक है :--

(१) जीवको इस संसारमें भ्रमण करते हुए जब कभी पापकर्मका उदय मन्द तथा पुन्य प्रकृतियोंका उदय तीव्र होता है तब वह पंचेन्द्रियपना, मनुष्यपर्याय, उत्तम कुल, शारीरिक नीरोगता, दीर्घायु, इन्द्रियोंकी पूर्णता, कुटुम्बकी अनुकूलता, आजीविकाकी योग्यता आदि सामग्री पाकर कुछ सुखी और धर्मके सन्मुख होने योग्य हो सकता है। इस प्रकार की सामग्रीके प्राप्त होनेको **क्षयोपशम लब्धि** कहते हैं।

(२) क्षयोपशम लब्धि द्वारा साता प्राप्त होनेपर जब कुछ मोह तथा कषाय मन्द होती है, तब वह जीव न्याय मार्ग तथा शुभकर्मों में रुचि करता हुआ धर्मको हितकारी जान उस की खोज करता है, सो **विशुद्धिलब्धि** है।

(३) तत्वोंकी खोजमें प्रयत्नशील होनेपर पूर्ण भाग्योदय वश वीत-राग-विज्ञानी-हितोपदेशी देव, निर्ग्रन्थ गुरु तथा उनके द्वारा कथित शास्त्रों का व उनके मार्गके श्रद्धानी सदाचारी विद्वानोंका समागम मिलना, उनके द्वारा धर्मका स्वरूप और सांसारिक दशाका सत्य स्वरूप प्रकट होना तथा उनके द्वारा प्राप्त हुए उपदेशके धारण करनेकी शक्तिका होना सो **देशना लब्धि** कहलाती है। इतना होनेपर जीव मनमें विचारने लगता है कि यथार्थमें ये ही देव, धर्म, गुरु और इनके मार्गमें प्रवर्तनेवाले अन्य सत्पुरुष हमको सुमार्ग बतलानेवाले हमारे हितैषी हैं ये स्वयं संसारसागरसे पार होते हुए दूसरोंको भी पार करनेवाले हैं और जो रागी-द्वेषी देव, गुरु, धर्म, हैं वे पत्थरकी नावके समान स्वयं संसारमें डूबनेवाले और अपने आश्रित-जनोंको डुबोनेवाले हैं। वह इसका प्रत्यक्ष अनुभव करता है कि हर एक मतमें जब नाममात्रके तत्वज्ञानी तथा संसार-से विरक्त पुरुष माने जाते हैं तो जो पूर्णज्ञानी (सर्वज्ञ) और संसारसे अत्यन्त विरक्त एवं विरक्ति उत्पन्न (वीतरागी) देव, गुरु, धर्म हैं, वे सर्वोपरि आत्मकल्याणकारी और पूज्य क्यों न हों? तथा उनके कहे हुए तत्व हितकारी क्यों न हों? अवश्य ही हों। क्योंकि जिस तत्वोपदेशदातामें सर्वज्ञता-वीतरागता अर्थात् रागद्वेष रहितपना (क्रोध-मान-माया-लोभादि कषाय तथा इन्द्रियोंका विषय वासनासे राहित्य) होगा, वही उपदेष्टा सच्चा आप्त हो सकता है। उसीके वचन हितकारी तथा मानने योग्य हैं। क्योंकि जो स्वतः जिस मार्गपर चल कर परम उत्कृष्ट स्थान (परमेष्ठीपने) को प्राप्त हुआ है, वही संसारी जीवोंको उस पवित्र मार्गका उपदेश देकर मुक्तिके सन्मुख कर सकता है। जिसमें उपर्युक्त गुण नहीं, किंतु राग-द्वेष और अल्पज्ञता है उसके वचन कदापि हितकारी आदरणीय नहीं हो सकते। सो यथार्थमें देखा जाय तो उपर्युक्त पूर्ण गुण भगवान् अर्हंतमें ही पाये जाते हैं, या एक देश उनके अनुयायी दिगम्बर आचार्यादिकोंमें होते हैं। जब ऐसा दृढ़ विश्वास हो जाता है, तब वह विचारने लगता है कि मैं कौन हूं? पुद्गल शरीरादिसे मेरा क्या सम्बन्ध है? संसार (जन्ममरण) का कारण क्या है? इसके छूटनेका क्या उपाय है? कर्मबंधनसे छूटनेपर आत्मा किस हालतको प्राप्त होता है? और इसके लिए मुझे क्या कर्तव्य करना चाहिए?

(४) जब इस प्रकार आत्महितका विचार और ऊहापोह किया जाता है और काललब्धिकी निकटता होती है तब पूर्वमें बंध किए हुए सत्ता-

स्थित कर्मों की स्थिति घटकर अंतः कोटा कोटी सागर[1] की रह जाती है और नवीन बंधनेवाले कर्म भी ऐसी ही मध्यम स्थितिको लेकर बंधते हैं। ऐसी दशामें शुभ (पुण्य) प्रकृतियोंका रस (अनुभाग) बढ़ने लगता है और पाप प्रकृतियोंका रस घटने लगता है। इस प्रकारकी योग्यताकी प्राप्ति **प्रायोग्य लब्धि** कहलाती है।

(५) इन उपर्युक्त चार लब्धियोंके प्राप्त होनेपर जब जीव तत्व-विचारमें संलग्न होता है और उसके परिणामोंमें अंतर्मुहूर्तके अनंतगुणी विशुद्धता होती है। तब इस विशुद्धतारूप **करणलब्धि** के बलसे सम्यक्त्वकी घातक मिथ्यात्वप्रकृति अनंतानुबंधी चौकड़ी इन पांचों प्रकृतियोंका (अनादि मिथ्यादृष्टिके पांच और सादिमिथ्यादृष्टिके सात) अंतर्मुहूर्तके लिये अंतःकरण पूर्वक उपशम (उदय न होना, सत्तामें स्थित रहना) हो जानेसे उपशम सम्यक्त्व प्रकट हो जाता है। इस उपशम सम्यक्त्वके कालमें परिणामोंकी निर्मलताके कारण मिथ्यात्व प्रकृतिके द्रव्यका अनुभाग क्षीण होकर मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व तथा सम्यकप्रकृति मिथ्यात्व इन तीन रूप परिणम जाता है। सम्यक्त्व होनेके पूर्व जो मिथ्यात्व तथा अनंतानुबंधी कषाय अपनी तीव्र दशामें इस जीवको आत्महितकरनेवाले तत्वोंके विचारों के निकटवर्ती नहीं होने देते तथा मोक्षमार्गसे विमुख विचारोंमें उद्यत करते थे, उन्हींके उदयके अभावसे जीवका सम्यग्दर्शन गुण प्रकट हो जाता है, जिससे सच्चे देव, धर्म, गुरु पर, सात तत्वों पर तथा आत्मतत्व पर पुरुषार्थी मुमुक्षुओंकी अटूट भक्ति तथा दृढ़ श्रद्धा हो जाती है। जीवको प्रथम उपशम सम्यक्त्व ही होता है। पश्चात् उपशम सम्यक्त्वका काल (अंतर्मुहूर्तपूर्ण होनेपर सम्यक्प्रकृतिमिथ्यात्वके उदय होनेसे क्षयोपशमिक सम्यक्त्व हो जाता है। जो जीव क्षयोपशम सम्यक्त्वकी दशामें ४ अनंता-नुबंधी तथा तीन मिथ्यात्व इन सातोंका क्षय कर देता है उसके क्षायिक सम्यक्त्व हो जाता है।

सम्यक्ज्ञान-प्रकरण

दोहा निश्चय आत्मज्ञान पुनि, साधन आगम-बोध।
सम्यग्दर्शन पूर्व जिहि, सम्यग्ज्ञान विशोध ॥१॥

आत्मामें अनंत स्वभाव तथा शक्तियां है। पर सबमें ज्ञान मुख्य है; क्योंकि इसी प्रसिद्ध लक्षणद्वारा आत्माका बोध होता है तथा आत्मा इसीके

१. कोट (करोड़) सागरसे ऊपर कोटाकोटी (करोड़ × करोड़) सागरसे नीचे अर्थात् इन दोनोंके मध्यवर्ती कालको अंतः कोटाकोटी सागर कहते है।

द्वारा प्रवृत्ति करता है। यद्यपि संसारी अशुद्ध आत्माका ज्ञान अनादिकालसे ज्ञानावरण कर्मसे आवृत्त (ढँका) हो रहा है तो भी सर्वथा ढक नहीं गया, थोड़ा बहुत सदा खुला ही रहता है, क्योंकि गुणका सर्वथा अभाव कभी होता नहीं। जैसा-जैसा ज्ञानावरण कर्मका क्षयोपशम घटता बढ़ता, वैसा-वैसा ज्ञान घटता बढ़ता रहता है। जब तक दर्शन मोहनीय कर्मका उदय रहता है, तब तक ज्ञान कुज्ञानरूप परिणमता है। जब आत्मा तथा पुद्गलकर्मका भेद-विज्ञान हो जाता और मोहके उदयका अभाव होने या मंद पड़नेसे सम्यक्त्वकी प्राप्ति हो जाती है तब वही ज्ञान सुज्ञान हो जाता है। प्रगट रहे कि यद्यपि आत्माका यह ज्ञान गुण अखडित चैतन्यरूप एक ही प्रकार है, तथापि अनादि-कालसे ज्ञानावरण कर्मकी मतिज्ञानावरणी, श्रुतज्ञानावरणी, अवधिज्ञाना-वरणी, मन:पर्ययज्ञानावरणी, केवलज्ञानावरणी इन पांच प्रकार कर्म प्रकृतियों से आवृत होनेके कारण यह ज्ञान खंड-खंड रूप हो रहा है इसी कारण ज्ञान-के सामान्यत: ५ भेद हैं। मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मन:पर्ययज्ञान और केवलज्ञान। इनमें केवलज्ञान के सिवाय शेष ४ ज्ञान तो अपने-अपने आवरणके हीनाधिक क्षयोपशमके अनुसार कम बढ़ होते है। सिर्फ केवल-ज्ञान केवलज्ञानावरणीके सर्वथा क्षय होने पर ही उत्पन्न होता है। इन पांचो ज्ञानोंमेंसे मति-श्रुत-अवधि ये तीन ज्ञान मिथ्यात्वके उदयसे मिथ्यारूप रहते हैं और तब मिथ्याज्ञान कहलाते है, सम्यक्त्व होने पर सम्यक्रूप सम्य-ग्ज्ञान कहलाते हैं। विशेष यह भी है कि परमावधि और सर्वावधि ज्ञान सम्यक् ही होते हैं, मिथ्या नही होते। इसी प्रकार मन: पर्यय तथा केवलज्ञान भी सम्यक् ही होते हैं, क्योंकि इनकी उत्पत्ति सम्यग्दृष्टिके ही होती है। इन पांचों ज्ञानोंमें यद्यपि मतिश्रुत दोनों ज्ञान परोक्ष हैं, तथापि इन्द्रिय प्रत्यक्ष होनेसे मतिज्ञान सांव्यवहारिक – प्रत्यक्ष कहलाता है। अवधि, मन:पर्ययज्ञान एकदेश प्रत्यक्ष और केवलज्ञान सकल प्रत्यक्ष होता है। प्रत्येक जीवके कम-से-कम मति, श्रुत ये दो ज्ञान प्रत्येक दशामें अवश्य ही रहते हैं।

मतिज्ञान

मति ज्ञानावरण, वीर्यान्तरायके क्षयोपशमके अनुसार इन्द्रियों और मनके द्वारा जो ज्ञान होता है वह मतिज्ञान कहाता है जैसे स्पर्शन इन्द्रियसे स्पर्शका जानना, रसना इन्द्रियसे रसका जानना, नासिका इन्द्रियसे गंधका बोध होना, चक्षु इन्द्रियसे रूपका बोध करना, श्रोत्र इन्द्रियसे शब्द-श्रवण करना तथा मनकी सहायतासे किसी विषयका स्मरण करना ये सब मति-ज्ञान हैं। प्रत्यभिज्ञान, तर्क तथा अनुमान ये भी मतिज्ञान ही है। इस मति-

ज्ञानके पांचों इंद्रियों व छठे मनके द्वारा बहु बहु-विधि आदि ज्ञेय पदार्थोंके अर्थावग्रह, व्यंजनावग्रह, ईहा, अवाय, धारणा होनेसे ३३६ भेद होते हैं।

श्रुतज्ञान

श्रुतज्ञानावरण, वीर्यान्तरायके क्षयोपशमके अनुसार मतिज्ञानद्वारा ग्रहण किये हुए पदार्थोंके अवलम्बनसे पदार्थों से पदार्थान्तरका जानना सो श्रुतज्ञान है। यह अक्षरात्मक, अनक्षरात्मक दो प्रकारका होता है। जैसे स्पर्शनेन्द्रियद्वारा ठण्डा ज्ञान होनेपर 'ये मुझे अहितकारी है' ऐसा अनक्षरात्मक श्रुतज्ञान होता है, इसकी प्रवृत्ति सैनी पंचेन्द्रियको मनकी सहायतासे स्पष्ट और एकेन्द्रियसे असैनी पंचेन्द्रिय तक मनके बिना आहार, भय, मैथुन परिग्रह संज्ञाओं तथा मतिज्ञानकी सहायतापूर्वक यत्किंचित् सामान्य आभास मात्र होता है। पुनः 'घोड़ा' ये दो अक्षर पढ़कर या सुनकर घोड़ा पदार्थका जानना ऐसा अक्षरात्मक श्रुतज्ञान केवल सैनी पंचेन्द्रियोंके ही होता है। इसी कारण 'श्रुतमनिन्द्रयस्य' ऐसा तत्वार्थशास्त्रमें कहा हुआ है। दोनों ज्ञानोंमें अक्षरात्मक श्रुतज्ञान ही मुख्य है, क्योंकि सांसारिक लेन-देन, तथा पारमार्थिक मोक्षमार्ग सम्बन्धी संपूर्ण व्यवहार इसीके द्वारा होता है। यह अक्षरात्मक श्रुतज्ञान, जघन्य एक अक्षरसे लेकर उत्कृष्ट अंग-पूर्व-प्रकीर्णकरूप जितना केवलज्ञानीकी दिव्यध्वनिके अनुसार श्रीगणधर देवने निरूपण किया है उतना है। इस श्रुतज्ञान का विषय केवल ज्ञानकी नाईं अमर्यादारूप है। अवधि मनःपर्ययज्ञानकी नाई मर्यादारूप नहीं है। रूपी-अरूपी सभी पदार्थ इसके विषय हैं। अन्तर यह है कि केवलज्ञान विशद् प्रत्यक्ष और श्रुतज्ञान अविशद-परोक्ष है।

अवधिज्ञान

अवधि ज्ञानावरण, वीर्यान्तरायके क्षयोपशमसे होता है। द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावकी मर्यादाको लिये हुये रूपी पदार्थोंको (इन्द्रिय-मनकी सहायता बिना ही) आत्मा जिस ज्ञानके द्वारा प्रत्यक्ष जाने, वह अवधिज्ञान कहलाता है। यह दो प्रकारका होता है। (१) भवप्रत्यय—जो देव, नारकी, छद्मस्थ-तीर्थंकरके सर्व आत्मप्रदेशोंमें अवधिज्ञानावरण, वीर्यान्तरायके क्षयोपशमसे होता है। इन जीवोंके अवधिज्ञानका मुख्य कारण भव ही है और यह देशावधिरूप ही होता है। (२) गुणप्रत्यय— पर्याप्त मनुष्य तथा संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त तिर्यंचके सम्यग्दर्शन तथा तप गुणसे नाभिसे ऊपर किसी अंगमें शंख-चक्र-कमल-वज्र-सांथिया-मत्स्य (मछली)-कलश आदि चिन्हयुक्त

आत्मप्रदेशोंमें अवधिज्ञानावरण, वीर्यान्तरायके क्षयोपशमसे होता है। यह देशावधि, परमावधि, सर्वावधि तीनोंरूप होता है। गुणप्रत्यय अवधिज्ञान अनुगामी-अननुगामी, अवस्थित-अनवस्थित, वर्धमान-हीयमानके भेदसे ६ प्रकारका होता है। जो अवधिज्ञान जीवके एक भवसे दूसरे भवमें साथ चला जाय सो भवानुगामी, जो भवान्तरमें साथ न जाय सो भवाननुगामी है। जो अवधिज्ञान क्षेत्रसे क्षेत्रान्तरमें जीवके साथ चला जाय सो क्षेत्रानुगामी है और जो क्षेत्रसे क्षेत्रान्तरमें जीवके साथ न जाय सो क्षेत्राननुगामी है। जो अवधिज्ञान भव तथा क्षेत्रसे भवान्तर तथा क्षेत्रान्तरमें साथ जाय सो उभयानुगामी और जो भवान्तर तथा क्षेत्रान्तरमें साथ न जाय सो उभयाननुगामी है। जो अवधिज्ञान जैसा उपजे तैसा ही बना रहे सो अवस्थित और जो घटे-बढ़े सो अनवस्थित। जो अवधिज्ञान उत्पन्न होनेपर क्रमशः बढ़ता हुआ उत्कृष्ट हद तक चला जाय सो वर्धमान और जो क्रमशः घटकर नष्ट हो जाय सो हीयमान है।

अवधिज्ञानके सामान्यसे तीन भेद हैं। देशावधि, परमावधि, सर्वावधि।

(१) **देशावधि** इसका विषय तीनोंमें थोड़ा है, यह भवप्रत्यय और गुणप्रत्यय दोनोंरूप होता है तथा संयमी-असंयमी दोनोंके होता है। इसका उत्कृष्ट भेद मनुष्य-महाव्रतीके ही होता है। यह प्रतिपाती (छूट जानेवाला) व अप्रतिपाती (न छूटनेवाला) दोनों प्रकारका होता है।

(२) **परमावधि**—मध्यम भेदरूप और (३) **सर्वावधि**—एक उत्कृष्ट भेदरूप ही होता है। ये दोनों चरम-शरीरी तदभवमोक्षगामीके ही होते हैं। देशा-वधि-परमावधि दोनोंके विषयभूत द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावके भेदोंकी अपेक्षा असंख्यात भेदरूप होते हैं, और सर्वावधि केवल एक भेदरूप ही होता है।

मनःपर्ययज्ञान

मनःपर्यय ज्ञानावरण और वीर्यान्तरायके क्षयोपशमसे, आंगोपाङ्ग नामकर्मके अवलम्बनसे, मनके सम्बन्धसे, अवधिज्ञानद्वारा जानने योग्य द्रव्यके अनंतवें भाग सूक्ष्म रूपी पदार्थको, जिस ज्ञानके द्वारा आत्मा स्वतः प्रत्यक्ष जाने, सो मनःपर्ययज्ञान कहलाता है। इसका क्षयोपशम संयमी मुनियोंके ही मनके आत्म-प्रदेशोंमें होता है (जहाँ मतिज्ञानावरणका क्षयोपशम है)। इसके दो भेद हैं।

(१) **ऋजुमति**—जो परके मनमें तिष्ठते, सरल मनद्वारा चिन्तवन किये हुये, सरल वचनद्वारा कहे हुये, सरल काय द्वारा किये हुये पदार्थको किसीके पूछे या बिना पूछे ही जाने, इस पुरुषने ऐसा चिंतवन किया, ऐसा कहा, ऐसा कायद्वारा किया, इस प्रकार आपके, परके जीवित-मरण, सुख-दुःख, लाभ-अलाभको ऋजुमति मनःपर्ययज्ञानी जान सकता है।

(२) **विपुलमति** जो सरल वा वक्र मन, वचन, कायद्वारा चिन्तित, अर्ध-चिन्तित, अचिन्तित ऐसे ही कहे हुये-किये हुये, पुन. कालान्तरमें विस्मरण हुए मनमे मौजूद पदार्थको पूछे या बिना पूछे ही जाने। इस प्रकार आपके वा पर के जीवित-मरण, सुख-दुख, लाभ-अलाभको विपुलमति मन.पर्यय ज्ञानी जान सकता है ।

केवलज्ञान

ज्ञानावरण, कर्मके सर्वथा क्षय होनेमे जो आत्माका स्वच्छ-स्वाभाविक ज्ञान प्रकट होना है सो केवलज्ञान है। यह आत्माके सर्व प्रदेशोंमें होता है, इसकी स्वच्छतामें लोकालोकके सम्पूर्ण रूपी-अरूपी पदार्थ अपनी भूत-भविष्यत्-वर्तमानकालिक अनत पर्यायोंसहित युगपत् झलकते हैं। यह ज्ञान परमात्म-अवस्थामें होना है।

चार अनुयोग

सम्यग्दर्शनके विषयमे जितना कुछ कहा गया है वह ज्ञानका ही विषय है। यह सम्यग्दर्शन, जीव-अजीवादि तत्त्वार्थमें उन्मुखी बुद्धि (श्रद्धा) उनमें प्रीति (रुचि) और दृढ़ विश्वास (प्रतीति) होनेसे होता है। इस प्रकार निश्चय तत्त्वार्थ श्रद्धानके साथ ही शुद्धानुभूति होती है। सम्यग्ज्ञानमें संशय-विपर्यय अनध्यवसाय नही रहते, सो ही शास्त्रोंमें स्पष्ट कहा है कि 'जीवादि मोक्षमार्गके उपयोगी पदार्थोंको न्यूनता-अधिकता, विपरीतता अयथार्थता तथा सन्देहरहित जैसाका तैसा जाननेवाला सम्यग्ज्ञान है।'

इस सम्यग्ज्ञानका मुख्य कारण श्रुतज्ञान है। विषयभेदसे इसके चार विभाग है—प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग। इनमें आत्मज्ञानकी उत्पत्तिका कारणपना होनेसे इन्हें वेद भी कहते हैं।

(१) **प्रथमानुयोग**—इसमे मुख्यतया ६३ शलाका पुरुषोंका अर्थात् २४ तीर्थंकर, १२ चक्रवर्ती, ९ बलभद्र, ९ नारायण, ९ प्रतिनारायणका तथा इनके अन्तर्गत और भी अनेक प्रधान पुरुषोंका चरित्र वर्णित है। चरित्रके

आश्रय पुण्यपापरूप कार्य तथा उनके फलका वर्णन है। इसके अध्ययन करने से जीव पापोंसे हटकर पुण्यकी ओर झुकता और धर्मके सामान्य स्वरूपको जानकर विशेष जाननेका अभिलाषी होकर दूसरे-दूसरे अनुयोगोंका अभ्यास करता है। आरभमें धर्मके सन्मुख करनेको उपयोगी होनेसे प्रथमानुयोग इसका सार्थक नाम है।

(२) **करणानुयोग**—इसमें तीन लोकका अर्थात् ऊर्ध्वलोक (स्वर्गों) का, मध्यलोक (मनुष्यलोक) का, अधोलोक (नरकों) का विस्तारपूर्वक वर्णन है। तथा आत्मामें कर्मके मिश्रितपनेसे गति, लेश्या, कषाय, इन्द्रियाँ, योग, वेदादिरूप कैसी-कैसी विभाव अवस्थाएं होती और कर्मोंकी हीनाधिकतासे उनमें किस-किस प्रकार अदल-बदल अथवा हानि-वृद्धि होती है, अथवा किस क्रमसे इनका अभाव होकर आत्मा निष्कर्म अवस्थाको प्राप्त होता है, कर्मोंके भेद, बध, उदय, सत्ता आदिका विस्तृत वर्णन है। इसका हर-एक विषय गणितसे सम्बन्ध रखता है, इसलिये इसे करणानुयोग कहते हैं।

(३) **चरणानुयोग** इसमें श्रावक (गृहस्थ) तथा मुनि (साधु) धर्मका वर्णन है। इसमें बताया गया है कि किस-किस प्रकार पापोंके त्यागनेसे आत्म-परिणाम उज्ज्वल हो कर कर्मबंधका अभाव होता है और आत्मा शुद्ध अवस्थाको प्राप्त हो सकता है। आत्मामें कर्मोंके बध होनेका कारण आत्मा-के मलीन भाव अर्थात् राग-द्वेष है और आत्माके कर्मबंधसे छूटने (मुक्त होने का कारण निर्मल भाव है इसलिये इस अनुयोगमें क्रमशः उज्ज्वल भाव होनेके लिये आचरण-विधि बताई गई है इसलिये इसे चरणानुयोग कहते हैं।

(४) **द्रव्यानुयोग** इसमे जीवादि षट्द्रव्यों, सप्त तत्त्वों, नव पदार्थों और जीवके स्वभावों-विभावों का वर्णन है, जिससे जीवको वैभाविक-भावोंके त्यागने और स्वाभाविक भावोंको प्राप्त करने की रुचि उत्पन्न हो। इसमें द्रव्योंका वर्णन विशेषरूपमें होनेके कारण यह द्रव्यानुयोग कहलाता है।

सम्यग्ज्ञानकी प्राप्तिके आठ अङ्ग है—

(१) **शब्दाचार**—व्याकरणके अनुसार अक्षर-पद-वाक्योंका शुद्ध उच्चारण करना।

(२) **अर्थाचार**—शब्दके यथार्थ अर्थको अवधारण करना।

(३) **उभयाचार**—शब्द और अर्थ दोनोंकी शुद्धता करना।

(४) **कालाचार**—योग्य कालमें श्रुत-अध्ययन करना। गोसर्ग काल (दोपहर-के दो घड़ी पहिले और प्रातःकालके २ घड़ी पीछे), प्रदोषकाल (दोपहर के दो घड़ी पीछे तथा संध्याके २ घड़ी पहिले अथवा संध्याके २ घड़ी पीछे और अर्धरात्रिके २ घडी पहिले), विरात्रिकाल (अर्धं रात्रिके २ घड़ी पीछे और प्रात.कालके २ घड़ी पहिले) इन कालोंके सिवाय दिग्दाह, उल्कापात, इन्द्र-धनुष, सूर्यग्रहण, चन्द्रग्रहण, तूफ़ान, भूकम्पादि, उत्पातोंके समय सिद्धान्त-ग्रन्थों (अङ्गपूर्वों) का पठन-पाठन वर्जित है। स्तोत्र-आराधना-धर्म-कथादि ग्रन्थोंका पठन-पाठन वर्जित नही है।

(५) **विनयाचार**-शुद्ध जलसे हस्त-पादादि प्रक्षालन कर शुद्ध स्थानमें पर्यंकासन बैठकर, पूज्यबुद्धिपूर्वक, नमस्कारयुक्त शास्त्र पठन-पाठन करना अथवा आप शास्त्रमर्मी होकर भी नम्ररूप रहना, उद्धतरूप न होना।

(६) **उपधानाचार** स्मरणसहित स्वाध्याय करना।

(७) **बहुमानाचार**—ज्ञान, पुस्तक, शिक्षक, विशेषज्ञानी इनका यथायोग्य आदर करना, ग्रन्थको लाते-लजाते उठ खड़ा होना, पीठ नही देना, ग्रन्थको उच्चासनपर विराजमान करना, अध्ययन करते समय अन्य वार्तालाप न करना, अशुचि अग, अशुचि वस्त्रादिक रहते स्पर्श न करना।

(८) **अनिह्नवाचार**—जिस शास्त्र व जिस गुरुसे शास्त्र ज्ञान हुआ हो, उसका नाम न छिपाना, छोटे शास्त्र या अल्पज्ञानी शिक्षकका नाम लेनेसे मेरा महत्व घट जायगा, इस भयसे बड़े ग्रन्थ या बहुज्ञानी शिक्षकका नाम अपने नामके अर्थं असत्य ही न लेना, क्योंकि ऐसा करनेमें मायाचारका अति दोष होता है।

इस प्रकार भलीभांति-रक्षापूर्वक-सम्यग्ज्ञानके अङ्गोंके पालन करनेसे ज्ञानावरण कर्मका क्षयोपशम विशेष होकर ज्ञान बढ़ता है। इसमें एक विशेपता यह भी है कि जितने अशोंमें संसारकी आसक्ति घटती और चित्त स्थिर होता है उतना ही अधिक और शीघ्र ज्ञान बढ़ना है अतएव सम्यग्ज्ञान-की वृद्धि के लिए सांसारिक स्थूल आकुलताओंका घटाना भी जरूरी है।

सामान्य तत्वज्ञानपूर्वक श्रद्धान होनेपर ज्ञानकी वृद्धि और परिणामों की निर्मलताके लिये सदा शास्त्राभ्यास करता रहे, जिससे पुण्यबन्ध होनेके साथ दिन-दिन पदार्थोंका विशेष बोध होता जाय।

अनेकान्त व स्याद्वाद

भगवान् महावीर एक परम अहिंसक तीर्थंकर थे। मन, वचन, और काय त्रिविध अहिंसा की परिपूर्ण साधना, खासकर मानसिक अहिंसा की स्थायी प्रतिष्ठा, वस्तुस्वरूप के यथार्थ दर्शन के बिना होना अशक्य थी। उन्होंने देखा कि आज का सारा राजकरण धर्म और मतवादियों के हाथ में है। जब तक इन मतवादों का वस्तुस्थिति के आधार से यथार्थ-दर्शनपूर्वक समन्वय न होगा, तब तक हिंसा और संघर्ष की जड़ नहीं कट सकती। उन्होंने विश्व के तत्वों का साक्षात्कार किया और बताया कि विश्व का प्रत्येक चेतन और जड़ तत्व अनन्त धर्मों का भण्डार है। उसके विराट् स्वरूप को साधारण मानव पूर्णरूप में नहीं जान सकता। उसका क्षुद्र ज्ञान वस्तु के एक-एक अंश को जानकर अपने में पूर्णता का दुर-भिमान कर बैठा है। विवाद वस्तु में नहीं है, विवाद तो देखनेवालों की दृष्टि में है। काश, यह वस्तु के विराट् अनन्त धर्मात्मा या अनेकान्तात्मक स्वरूप की झांकी पा सकते।

प्रत्येक वस्तु अनन्त गुण, पर्य्याय और धर्मों का अखण्ड पिण्ड है। यह अपनी अनादि अनन्त सन्तानस्थिति की दृष्टि से नित्य है। कभी भी ऐसा नहीं हो सकता जब विश्व के रंग मंच से एक कण का भी समूल विनाश हो जाय या उसकी सन्तति सर्वथा उच्छिन्न हो जाए। साथ ही उसकी पर्य्याय प्रतिक्षण बदल रही हैं। उसके गुण धर्मों में भी सदृश या विसदृश परिवर्तन हो रहा है। अतः वह अनित्य भी है। इसी तरह अनन्त गुण, शक्ति पर्य्याय और धर्म प्रत्येक वस्तु की निजी सम्पत्ति है। हमारा स्वल्प ज्ञानलव इनमें से एक-एक अंश को विषय करके क्षुद्र मतवादों की सृष्टि कर रहा है। उन्होंने बताया कि वस्तु में अनन्त दृष्टिकोणों से देखे जाने की क्षमता है। उसका विराट् स्वरूप अनन्त धर्मात्मक है। हां, वस्तु की सीमा और मर्य्यादा का उल्लंघन नहीं होगा। जड़ में चेतनत्व खोजा जाय या चेतन में जड़त्व, तो वह नहीं मिल सकता, क्योंकि प्रत्येक पदार्थ के अपने अपने निजी धर्म सुनिश्चित हैं।

वस्तु अनन्तधर्मात्मक है न कि सर्वधर्मात्मक। अनन्त धर्मों में चेतन के सम्भव अनन्त धर्म चेतन में मिलेंगे, और अचेतनगत अनन्त धर्म अचेतन में। चेतन के गुण धर्म अचेतन में नहीं पाये जा सकते और न अचेतन के चेतन में। हां कुछ ऐसे सादृश्यमूलक वस्तुत्व आदि सामान्यधर्म भी हैं जो

चेतन और अचेतन सभी द्रव्यों में पाये जा सकते हैं, परन्तु सबकी सत्ता जुदी जुदी है। तात्पर्य यह कि वस्तु इतनी विराट् है कि अनन्त दृष्टिकोणों से देखी और जानी जा सकती है। मानससमता के लिए इस प्रकार वस्तु-स्थिति मूलक अनेकान्त तत्वज्ञान अत्यावश्यक है।

शब्दों में यह सामर्थ्य नही है कि वह वस्तु के पूर्णरूप को युगपत् कह सके। वह एक समय में एक ही धर्म को कह सकता है। अतः उसी समय वस्तु में विद्यमान शेष धर्मों का सूचन करने के लिए 'स्यात्' शब्द का प्रयोग किया जाता है। 'स्यात्' का अर्थ सुनिश्चित दृष्टिकोण या निर्णीत अपेक्षा है, न कि शायद, सम्भव, या कदाचित आदि। 'स्यादस्ति' का वाच्यार्थ है—स्वरूपादि की अपेक्षा वस्तु है ही, न कि शायद है, सम्भव है, कदाचित् है, आदि।

'स्यात्' शब्द विधिलिंग में निष्पन्न होता है। वह अपने वक्तव्य को निश्चित रूप में उपस्थित करता है, न कि संशय रूप में। जैन तीर्थंकर ने पदार्थों के स्वरूप का यथार्थ निरूपण तो किया ही, साथ ही पदार्थों के देखने का, उनके ज्ञान करने का और उनके स्वरूप को वचन से कहने का रास्ता भी दिखाया।

अनेकान्त दर्शन वस्तुतः विचारविकास की चरम रेखा है। अनेकान्त-दृष्टि वस्तु के उसी स्वरूप का दर्शन कराती है, जहाँ विचार समाप्त हो जाते हैं। जब तक वस्तुस्थिति स्पष्ट नहीं होती, तभी तक विवाद चलते हैं। अग्नि ठंडी है या गरम इस विवाद की समाप्ति अग्नि को हाथ से छू लेने पर जैसे हो जाती है, उसी तरह एक-एक दृष्टिकोण से चलने वाले विवाद अनेकान्तात्मक वस्तुदर्शन के बाद अपने आप समाप्त हो जाते हैं।

अनेकान्त दर्शन को ठीक-ठीक प्रतिपादन करने वाली 'स्याद्वाद' नाम की भाषा शैली का आविष्कार उसी अहिंसा के वाचनिक विकास के रूप में हुआ। जब वस्तु अनन्तधर्मात्मक है और उसको जाननेवाली दृष्टि अनेकान्त दृष्टि है तब वस्तु के सर्वथा एक अंशका निरूपण करने वाली निर्धारिणी भाषा वस्तु का यथार्थ प्रतिपादन करनेवाली नही हो सकती। जैसे यह कलम, लम्बी, चौड़ी, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, हल्की, भारी आदि अनेक धर्मों का युगपत् आधार है। अब यदि शब्द से यह कहा जाय कि यह कलम 'लम्बी ही है' तो शेष धर्मों का लोप इस वाक्य से फलित होता है। जब कि उसमें उसी समय अनन्त धर्म विद्यमान हैं। न केवल

इसी तरह, किन्तु जिस समय कलम अमुक अपेक्षा से लम्बी है, उसी समय अन्य अपेक्षा से लम्बी नहीं भी है। प्रत्येक धर्म की अभिव्यक्ति सापेक्ष होने से उसका विरोधी धर्म उस वस्तु में पाया ही जाता है। अतः विवक्षित धर्म-वाची शब्द के प्रयोगकाल में हमें अन्य अविवक्षित अशेष धर्म के अस्तित्व को सूचन करने वाले 'स्यात्' शब्द के प्रयोग को नहीं भूलना चाहिए। यह 'स्यात्' शब्द विवक्षित धर्मवाची शब्द को समस्त वस्तुपर अधिकार करने से रोकता है और कहता है कि भाई, इस समय शब्द के द्वारा उच्चारित होने के कारण यद्यपि मुख्य तुम हो, फिर भी इसका अर्थ यह नहीं है कि सारी वस्तु पर तुम्हारा ही अधिकार हो, तुम्हारे अनन्त धर्म भाई इसी वस्तु के उसी तरह समान अधिकारी हैं जिस तरह कि तुम।

'स्यात्' शब्द सन्देह या संभावना को सूचित नही करता किन्तु एक निश्चित स्थिति को बताता है कि वस्तु अमुक दृष्टि से अमुक धर्म वाली है ही। उसमें अन्य धर्म उस समय गौण हैं।

'स्यात्' शब्द हिन्दी भाषा में भ्रान्तिवश शायद का पर्यायवाची समझा जाने लगा है। प्राकृत और पाली में 'स्यात्' का 'सिया' रूप होता है। यह वस्तु के सुनिश्चित भेदों के साथ सदा प्रयुक्त होता रहा है।

प्रत्येक धर्मवाची शब्द के साथ जुड़ा हुआ 'स्यात्' शब्द एक सुनि-श्चित दृष्टिकोण से उस धर्म का वर्णन करके भी अन्य अविवक्षित धर्मोंका अस्तित्व भी वस्तु में द्योतित करता है। कोई ऐसा शब्द नही है, जो वस्तु के पूर्णरूप को स्पर्श कर सके। हर शब्द एक निश्चित दृष्टिकोण से प्रयुक्त होता है और अपने विवक्षित धर्म का कथन करता है। 'स्यात्' शब्द श्रोता को विवक्षित धर्म की प्रधानता से ज्ञान कराके भी अविवक्षित धर्मों के अस्तित्व का द्योतन कराता है।

सम्यक्चारित्र

निज स्वरूपमें रमणता, सम्यक्चारित धर्म।
व्यवहारे द्वैविधि कहो, श्रावक अरु मुनिधर्म ॥१॥

इस प्रकार ऊपर किये गए वर्णनके अनुसार मिथ्यात्वके अभाव होनेसे भव्य जीवोंको सम्यग्दर्शन तथा सम्यग्ज्ञानकी प्राप्ति हो जाती है। साथ-साथ अनन्तानुबंधी कषायके अभावसे स्वरूपाचरण चारित्र की प्राप्ति होती है अर्थात् शुद्धात्मजनित निराकुल सच्चे सुखका अनुभव होने लगता है।

परन्तु तो भी चारित्रमोहकी अप्रत्याख्यानावरणादि प्रकृतियोंके उदयसे आत्मस्वरूपमें अमलता, अचलता नहीं होती। अतएव इसी दोषको दूर करनेके लिए उन्हें अणुव्रत महाव्रतादिरूप संयम धारण करनेकी उत्कट इच्छा होती है। अविरत सम्यग्दृष्टि जीव यद्यपि चारित्रमोहकी तीव्रतावश, अनिवार्य बाह्य कारणोंसे पराधीन हुए, चारित्र धारण नहीं कर सकते, तथापि अन्तरंगमें संसारसे विरक्त और मोक्षसे अनुरक्त रहते हैं। धर्म-मर्मी होजानेसे उन्हें पवित्र जैनधर्ममें तीव्र पक्ष हो जाता है। नियमपूर्वक एवं क्रमसे व्रत न होनेके कारण यद्यपि वे अविरत हैं तथापि उनके अनन्तानुबन्धीके साथ अप्रत्याख्यानावरणका जैसा तीव्र उदय मिथ्यात्व अवस्थामें था, वैसा तीव्र उदय अनन्तानुबंधी के अभाव होनेपर नही रहता, किन्तु मध्यमरूपसे रहता है जिससे अन्याय, अभक्ष्यसे वनसे रुचि नही रहती और न वे निरर्गलपनमे हिंसामें प्रवृत्ति करते हैं। प्रशम, संवेग, अनुकम्पा उत्पन्न हो जाने से सप्तव्यसन-सेवनकी बात तो दूर ही रही, इन्द्रियविषय जनित सुख उन्हें दुःखमय भासने लगते हैं। अतरंगमें उन्हे आत्मसुख झलकने लगता है और विषयसुखोंसे घृणा हो जाती है।

सम्यग्दृष्टि जीवको दृढ श्रद्धान हो जाता है कि मैं आत्मा शुद्ध चैतन्य शक्तियुक्त होता हुआ कर्मावरणके कारण क्षायोपशमिक ज्ञान-दर्शनरूप अनेकाकार हो रहा हूं, राग-द्वेषसे मलिन हो निजात्मस्वरूपको छोड़ अन्य पर-पदार्थोंमें रत हो रहा हूं, इसलिए कब चारित्र धारण कर राग-द्वेषका समूल नाश करूं और निष्कर्म होकर निजस्वरूप में लीन हो शांत दशा प्राप्त करूं। इस प्रकार स्वरूपाचरण चारित्रका अंश उत्पन्न होना ही सम्यग्दृष्टि-मोक्षमार्गीका असाधारण चिन्ह है। सो ही शास्त्रोंमें स्पष्ट कहा है—"सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः" अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप रत्नत्रयकी एकता ही मोक्षमार्ग है। यदि सम्यग्दृष्टि के स्वरूपाचरण चारित्रका अंश उत्पन्न न हो तो वह मोक्षमार्गी नहीं ठहर सकता।

इस प्रकार संसारसे उदासीनता और आत्महितकी इच्छा उत्पन्न होते ही कोई विरल उत्तम जीव, जिनके चारित्रमोहका मंद उदय हो अप्रत्याख्यानावरण-प्रत्याख्यानावरण कषायकी चौकड़ीका उपशम हो गया हो, भव्यता निकट आ गई हो, जो दृढ संहननके धारक हों वे एकाएक निर्ग्रन्थ (मुनि) धर्म धारण कर आत्मस्वरूपका साधन करते हैं। जिनके चारित्र मोहकी अल्प मंदता हुई हो, अप्रत्याख्यानावरणकी चौकड़ीका

उपशम हुआ हो, जो हीन शक्तिके धारक हों, वे श्रावक-व्रतोंका अभ्यास करते हुए क्रमशः विषय-कषायोंको घटा कर पीछे मुनिव्रत धारण करते और मोक्षके पात्र बनते हैं, यही राजमार्ग है। क्योंकि विषय-कषाय घटाये बिना मुनिव्रत धार लेना अकार्यकारी स्वांगमात्र है। अतएव सम्यक्त्व होने पर राग-द्वेष दूर करनेके लिए अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावकी अनुकूलतानुसार चारित्र धारण करना चाहिये, और यह बात स्मरण रखना चाहिये, कि आचार्योंने जहाँ-तहाँ चारित्र धारणका मूल-उद्देश्य विषय-कषायों का घटाना बताया है अर्थात् जहाँ जिस प्रकारकी कषायके उत्पादक बाह्य हिंसादि पापों का त्याग बताया है वहीं उसीके साथ साथ उसी प्रकारकी कषायके उत्पादक और और कारणोंका भी त्याग कराया है। अतएव प्रत्येक जिज्ञासु पुरुषको बहिरङ्ग कारणों और अन्तरङ्ग कार्योंकी ओर पूरी पूरी दृष्टि देकर चारित्र धारण करना चाहिये, तभी इष्ट प्रयोजनकी सिद्धि हो सकती है। अन्यथा केवल कुछ बाह्य कारणोंके छोड़ने और उसी प्रकारके अन्य बहुतसे कारणोंके न छोड़नेसे इष्ट साध्यकी सिद्धि नहीं हो सकती।

चारित्र सकल अर्थात् महाव्रतरूप साधुधर्म और विकल अर्थात अणुव्रतरूप-गृहस्थधर्म दो प्रकारका होता है। यहाँ प्रथम गृहस्थधर्मका स्पष्ट और विस्तृत वर्णन किया जाता है, क्योंकि अल्पशक्तिके धारक पुरुषों को गृहस्थाश्रममें रहकर श्रावक-व्रतोंके यथाक्रम ठीक ठीक रीतिसे अभ्यास करनेसे मुनिव्रत धारण करनेकी शक्ति उत्पन्न होती है।



द्वितीय भाग

अणुव्रतरूप गृहस्थ अथवा श्रावक धर्म

यद्यपि प्रथमानुयोगके ग्रन्थोंमें सामान्य रीतिसे छोटी-मोटी प्रतिज्ञा लेनेवाले जैनी-गृहस्थको भी कई जगह श्रावक कहा है तथापि चरणानुयोगकी पद्धतिसे यथार्थ मे पाक्षिक, नैष्ठिक तथा साधक तीनोंकी ही श्रावक संज्ञा है क्योंकि श्रावकके अष्ट मूलगुण धारण और सप्त व्यसनोंका त्याग ही हीनाधिकरूपसे इन तीनोंमें पाया जाता है। सो ही सागारधर्मामृतादि ग्रन्थोंमें स्पष्ट कहा है कि पंच उदुम्बरादि-त्यागकर पंचाणुव्रत धारण और तीन मकार का त्याग श्रावकके अष्ट मूलगुण तथा अहिंसादि १२ व्रत उत्तरगुण हैं। इन्ही १२ व्रतोंकी विशेष श्रावक की ५३ क्रियाये है, इन क्रियाओंको धारण एवं पालन करने के कारण ही श्रावकोंको "त्रेपन क्रिया प्रति-पालक" विशेषण दिया जाता है। इन क्रियाओंकी शोधना क्रमशः प्रथमादि प्रतिमाओंमें होती हुई पूर्णता ग्यारहवीं प्रतिमामें होती है।

श्रावक की ५३ क्रियाएं

गाथा

गुण-वय-तव-सम-पडिमा, दाणं-जलगालणं च-अणत्थमियं ॥
दंसण-णाण-चरित्तं, किरिया तेवण्ण सावया भणिया ॥१॥

अर्थ—८ मूलगुण, १२ व्रत, १२ तप, १ समता (कषायों की मन्दता) ११ प्रतिमा, ४ दान, १ जलगालन, १ रात्रिभोजन त्याग १ दर्शन, १ ज्ञान, और १ चारित्र ये श्रावककी ५३ क्रियाएं हैं।

अब पाक्षिक, नैष्ठिक तथा साधक इन तीन प्रकारके श्रावकोंका पृथक् पृथक वर्णन किया जाता है।

पाक्षिक श्रावक

जिनको जैनधर्म के देव, गुरु, शास्त्रोंद्वारा आत्म-कल्याणका स्वरूप वा मार्ग भली भांति ज्ञात तथा निश्चित हो जानेसे पवित्र जिन धर्मका तथा

श्रावकधर्म (अहिंसादि) का पक्ष हो जाता है, जिनके मैत्री, प्रमोद, कारुण्य, माध्यस्थ भावनायें दिन-दिन वृद्धिरूप होती जाती हैं, जो स्थूल त्रसहिंसाके त्यागी हैं, ऐसे चतुर्थ गुणस्थानी सम्यग्दृष्टि, पाक्षिक श्रावक कहलाते हैं। इन्हें व्रतादि प्रतिमाओंके धारण करनेके अभिलाषी होनेसे प्रारब्ध संज्ञा भी दी है। इनके सप्त व्यसनोंका त्याग तथा अष्ट मूलगुणधारण, सातिचार होता है। ये जान बूझकर अतीचार नहीं लगाते, किन्तु बचाने का प्रयत्न करते हैं, तो भी अप्रत्याख्यानावरण कषायके उदयसे विवश अतीचार लगते हैं।

पाक्षिक श्रावक आपत्ति आनेपर भी पंच परमेष्ठीके सिवाय चक्रेश्वरी, क्षेत्रपाल, पद्मावती आदि किसी देवी-देवताकी पूजा वंदना नहीं करता। रत्नकरन्डश्रावकाचारमें श्रीसमंतभद्रस्वामीने भी सम्यग्दृष्टिको इनकी पूजन-वंदनका स्पष्टरूपसे निषेध किया है।

नोट—जिनधर्मके भक्त देवोंको साधारण रीतिपर साधर्मी जान यथोचित आदर-सत्कारपूर्वक यज्ञ (प्रतिष्ठा) आदि कार्यों में उनके योग्य कार्यसंपादन करनेके लिए उनका सत्कार करनेसे सम्यक्त्वमें कोई हानि-बाधा नहीं आती।

अष्ट मूलगुण

कई ग्रन्थोंमें बड़, पीपल, गूलर (ऊमर), कठूमर, पाकर इन पंच उदुम्बर फलोंके (जिनमें प्रत्यक्ष त्रस जीव दिखाई देते हैं) तथा मद्य, मांस, मधु तीन मकारोंके (जो त्रस जीवोंके कलेवरके पिंड हैं) त्याग करनेको अष्ट मूलगुण कहा है। रत्नकरंडश्रावकाचारादि कई ग्रन्थोंमें पंचाणुव्रत धारण तथा तीन मकारके त्यागको अष्ट मूलगुण कहा है। महापुराणमें मधुकी जगह सप्तव्यसनके मूल जूआ खेलनेकी गणनाकी है। सागराधर्मामृतादि कई ग्रन्थोंमें मद्य (शराब) मांस, मधु (शहद) इन तीन मकारके त्यागके ३, उपर्युक्त पंच उदुम्बर फलोंके त्यागका १, रात्रि भोजनके त्यागका १, नित्य देववंदना करनेका १, जीवदया पालनेका १, जल छानकर पीनेका १, इस प्रकार अष्ट मूलगुण कहे हैं। इन सब ऊपर कहे हुए अष्ट मूलगुणोंपर जब सामान्यरूपसे विचार किया जाता है तो सभीका मत अभक्ष्य, अन्याय और निर्दयताके त्याग कराने और धर्ममें लगानेका एक सरीखा ज्ञात होता है। अतएव सबसे पीछे कहे हुए त्रिकाल वंदना, जीवदया पालनादि अष्ट मूलगुणोंमें इन अभिप्रायोंकी भली भांति सिद्धि होनेके कारण यहाँ उन्हींके अनुसार वर्णन किया जाता है।

१. मद्यपान त्याग—मद्य बनानेके लिए, दाख, छुहारे आदि पदार्थ कई दिनोंतक सड़ाये जाते हैं पीछे यन्त्रद्वारा उनसे शराब उतारी जाती है, यह महा दुर्गन्धित होती है, इनके बननेमें असंख्यात-अनन्त, त्रस-स्थावर जीवोंकी हिंसा होती है। यह मद्य मनको मोहित करती है, जिससे धर्म-कर्मकी सुध-बुध नहीं रहती तथा पंच पापोंमें निश्शंक प्रवृत्ति होती है, इसी कारण मद्य को पाँच पापों की जननी (माता) कहते हैं। मद्य पीनेसे मूर्च्छा, कम्पन, परिश्रम, पसीना, विपरीतपना, नेत्रोंके लाल होजाने आदि दोषोंके सिवाय मानसिक एवं शारीरिक शक्ति नष्ट होजाती है। शराबी धनहीन और अविश्वासका पात्र हो जाता है, उसका शरीर प्रतिदिन अशक्त हो जाता है, अनेक रोग आ घेरते हैं, आयु क्षीण होकर नाना प्रकारके कष्ट भोगता हुआ मरता है। प्रत्यक्ष ही देखो! मद्यपी मद्य पीकर उन्मत्त हुआ माता, पुत्री, बहिन आदिकी सुधि भूलकर निर्लज्ज हुआ यद्वा तद्वा बर्ताव करता है। इस प्रकार मद्यपी स्व-परको दुखदायी होता हुआ, जितने कुछ संसारमें दुष्कर्म करता है, उससे कोई भी व्यसन बचा नहीं रहता। ऐसी दशामें धर्मकी शुद्धि तथा उसका सेवन होना सर्वथा असम्भव है। पीनेवाला इस लोकमें निंद्य तथा दुखी रहता और मरनेपर नरकको प्राप्त होकर अति तीव्र कष्ट भोगता है। वहाँ उसे संडासियोंसे मुंह फाड़ फाड़ कर गर्म ताँबा-सीसा पिलाया जाता है। इस प्रकार मद्य-पानको लोक परलोकको बिगाड़नेवाला जान दूरसे ही तजना योग्य है। चरस, चंडू, अफीम, गांजा, तमाखू, कोकेन आदि नशीली चीजे खाना-पीना भी मदिरापानके समान धर्म-कर्म नष्ट करने वाली है, अतएव मद्यत्यागीको इनका त्यागना ही योग्य है।

२. मांस भक्षण त्याग—मांस त्रसजीवोंके वधसे उत्पन्न होता है। इसके स्पर्श, आकृति, नाम और दुर्गन्धिसे चित्तमें महा ग्लानि उत्पन्न होती है। यह जीवोंके मूत्र, विष्टा एवं सप्त धातु-उपधातुरूप महाअपवित्र पदार्थों का समूह है। मांसका पिंड चाहे सूखा हुआ हो, चाहे पका हुआ हो, उसमें हर हालतमें त्रसजीवोंकी उत्पत्ति होती ही रहती है। मांस-भक्षणके लोलुपी विचारे निरपराध, दीन-मूक पशुओंका वध करते हैं। मांस भक्षियोंका स्वभाव निर्दय, कठोर, सर्वथा धर्म धारणके योग्य नहीं रहता है। मांस-भक्षणके साथ साथ मदिरापानादि व्यसन भी लगते हैं। मांसभक्षी इस लोकमें सामाजिक एवं धर्मपद्धतिमें निंद्य गिना जाता है, मरनेपर नरक के महान दुस्सह दुःख भोगता है। वहाँ लोहेके गर्म गोले, संडासियोंसे मुंह फाड़ फाड़ कर खिलाये जाते तथा दूसरे दूसरे नारकी गृद्धादि मांसभक्षी पशु

पक्षियोंका रूप धारण कर इसके शरीरको चोंटते और नाना प्रकारके दुःख देते हैं। अतएव मांस-भक्षणको अति निंद्य, दुर्गति एवं दुःखोंका दाता जान सर्वथा त्यागना ही योग्य है।

३. मधु भक्षण त्याग—मधु अर्थात् शहदकी मक्खियां नाना प्रकारके फूलोंका रस चूस-चूस कर लाती हैं और उगलकर अपने छत्तेमें एकत्र करती हैं, वे वहीं रहती हैं, उसीमें सम्मूर्छन अंडे उत्पन्न होते हैं, भील गोंड आदि निर्दयी नीच जातिके मनुष्य उन छत्तोंको तोड़ मधु मक्खियोंको नष्ट कर उन अण्डों-बच्चोंको बची खुची मक्खियों समेत निचोड़ कर इस मधुको तैयार करते हैं। यथार्थ में यह त्रस जीवोंके कलेवर (मांस) का पुंज अथवा सत् है। इसमें असंख्यात त्रसजीवोंकी उत्पत्ति होती रहती है। अन्य मतोंमें भी इसके भक्षण करनेका निषेध किया गया है। मधुभक्षणके पापसे नीचगति में गमन और नाना प्रकारके दुःखोंकी प्राप्ति होती है अतएव इसे सर्वथा त्यागना योग्य है।

जिस प्रकार ये तीन 'मकार' अभक्ष्य एवं हिंसामय होनेसे त्यागने योग्य हैं उसी प्रकार मक्खन भी है। यह महाविकृत, मदको उत्पन्न करने-वाला और घृणारूप है। तैयार होनेपर यद्यपि इसमें अंतर्मुहूर्तके पीछे त्रस जीवोंकी उत्पत्ति होना शास्त्रोंमें कहा है, तथापि विकृत होनेके कारण आचार्यों ने तीन मकारके समान इसे भी अभक्ष्य और सर्वथा त्यागने योग्य कहा है।

४. पंच उदुम्बरफलभक्षण त्याग—जो वृक्षके काठको फोड़कर फलें, वे उदुम्बर फल कहलाते हैं। (१) गूलर या ऊमर, (२) वट या बड़, (३) प्लक्ष या पाकर, (४) कठूमर या अंजीर, (५) पिप्पल या पीपल। इन फलोंमें हिलते, चलते, उड़ते सैकड़ों जीव आँखोंसे दिखाई देते हैं। इनका भक्षण निषिद्ध, हिंसाका कारण और आत्मपरिणामको मलिन करनेवाला है। जिस प्रकार माँसभक्षीके दया नहीं, मदिरापायीके पवित्रता नहीं, उसी प्रकार पंच उदुम्बर फलके खानेवालेके अहिंसाधर्म नहीं होता, अतएव इनका भक्षण तजना योग्य है। इनके सिवाय जिन वृक्षोंसे दूध निकलता हो, ऐसे क्षीरवृक्षोंके फलोंका अथवा जिनमें त्रस जीवोंकी उत्पत्ति होती हो, ऐसे सभी फलोंका सूखी, गीली आदि सभी दशाओंमें भक्षण सर्वथा त्याज्य है। इसी प्रकार सड़ा-घुना अनाज भी अभक्ष्य है, क्योंकि इसमें भी त्रसजीव होने से मांसभक्षणका दोष आता है।

५. रात्रिभोजनत्याग—दिनको भोजन करनेकी अपेक्षा रात्रिको भोजन करनेमें राग-भावकी उत्कटता, हिंसा और निर्दयता विशेष होती है। जिस प्रकार रात्रिको भोजन बनानेमें असंख्यात जीवोंकी हिंसा होती है उसी प्रकार रात्रिको भक्षण करनेमें भी असंख्यात जीवोंकी हिंसा होती है, इसी कारण शास्त्रोंमें रात्रिभोजियोंको निशाचरकी उपमा दी गई है। यहाँ कोई शंका करे कि रात्रिको दीपकके प्रकाशमें भोजन किया जाय तो क्या दोष है? उसका समाधान—दीपकके प्रकाशके कारण बहुतसे पतङ्गादि सूक्ष्म तथा बड़े बड़े कीड़े उड़कर आते और भोजनमें गिरते हैं। रात्रि भोजनमें अरोक (अनिवारित) महान् हिंसा होती है। रात्रि में अच्छी तरह न दिखनेसे हिंसा (पाप) के सिवाय शारीरिक नीरोगतामें भी बहुत हानि होती है। मक्खी खा जानेसे वमन हो जाता है, कीड़ी खा जानेसे पेशाबमें जलन होती है, केश भक्षणसे स्वरका नाश होता है, जुआँ खा जानेसे जलोदर रोग होजाता है, मकड़ी भक्षणसे कोढ़ होजाता है और विषमरा आदि भक्षणसे तो आदमी मर तक जाता है।

धर्मसग्रह श्रावकाचारमें रात्रिभोजन-प्रकरणमें स्पष्ट कहा है कि रात्रिमें जब देवकर्म, स्नान, दान, होमकर्म नहीं किये जाते हैं (वर्जित हैं) तो फिर भोजन करना कैसे सम्भव हो सकता है? कदापि नहीं। वसुनन्दि-श्रावकाचारमें कहा है कि रात्रिभोजी किसी भी प्रतिमाका धारक नहीं हो सकता। इसी कारण यह रात्रिभोजन उत्तम जाति, उत्तम धर्म, उत्तम कर्मको दूषित करने वाला, नीचगतिको ले जाने वाला है ऐसा जानकर सर्वथा त्यागने योग्य है।

६. देव-वंदना—वीतराग सर्वज्ञ हितोपदेशी श्री अरहंत देवके साक्षात् वा प्रतिविम्ब रूपमें, सच्चे चित्तसे अपना पूर्व पुण्योदय समझ पुलकित—आनन्दित होते हुए दर्शन करने, गुणोंके चिंतवन करने, तथा उनको आदर्श मान अपने स्वभाव-विभावोंका चिंतवन करनेसे सम्यक्त्वकी उत्पत्ति हो सकती है। नित्य पूजन, दर्शन करनेसे सम्यक्त्वकी निर्मलता, धर्म की श्रद्धा, चित्तकी शुद्धता, धर्ममें प्रीति बढ़ती है। इस देववंदनाका अन्तिम फल मोक्ष है, अतएव मोक्षरूपी महानिधिको प्राप्त करानेवाली यह देववंदना अर्थात् जिनदर्शनपूजादि प्रत्येक धर्मेच्छुक पुरुषको अपने कल्याणके निमित्तयोग्यतानुसार नित्य करना चाहिये। तथा शक्ति एवं योग्यताके अनुसार पूजनकी सामग्री, एक द्रव्य अथवा अष्ट द्रव्य नित्य अपने घरसे लेजाना चाहिये।

किसी किसी ग्रन्थमें प्रातः, मध्याह्न और संध्या तीनों काल देव-वन्दना कही है सो सन्ध्यावन्दनसे कोई रात्रिपूजन न समझ लें, क्योंकि रात्रिपूजनका निषेध धर्मसंग्रह श्रावकाचार, वसुनन्दि श्रावकाचारादि ग्रन्थोंमें स्पष्ट रूपसे किया है तथा प्रत्यक्ष हिंसाका कारण भी है इसलिये सन्ध्याके पूर्वकालमें यथाशक्य पूजन करना ही सन्ध्यावन्दन है। रात्रिको पूजनका आरम्भ करना अयोग्य और अहिंसामयी जिनधर्मके सर्वथा विरुद्ध है अतएव रात्रिको केवल दर्शन करना ही योग्य है।

यह बात भी विशेष ध्यानमें रखने योग्य है कि मन्दिरमें विनय-पूर्वक रहे, यद्वा-तद्वा उठना-बैठना बोलना-चालना आदि कार्य न करे।

७. **जीवदया पालन** –सदा सब प्राणी अपने-अपने प्राणों की रक्षा चाहते हैं। जिस प्रकार अपने प्राण अपनेको प्रिय हैं उसी प्रकार एकेन्द्रीसे लेकर पंचेन्द्रीपर्यन्त सभी प्राणियों को अपने अपने प्राण प्रिय हैं। जिस प्रकार हम जरासा भी कष्ट नहीं सह सकते उसी प्रकार वृक्ष, लट, कीड़ी, मकोड़ी, मक्खी, पशु, पक्षी, मनुष्यादि कोई भी प्राणी दुःख भोगनेकी इच्छा नहीं करते और न सह सकते हैं। अतएव सब जीवोंको अपने समान जान कर उनको जरा भी दुःख कभी मत दो, कष्ट मत पहुँचाओ, सदा उनपर दया करो। जो पुरुष दयावान् हैं, उनके पवित्र हृदयमें ही पवित्र धर्म ठहर सकता है, निर्दयी पुरुष धर्मके पात्र नहीं, उनके हृदयमें धर्मकी उत्पत्ति अथवा स्थिति कदापि नहीं हो सकती। ऐसा जानकर सदा सर्व जीवोंपर दया करना योग्य है। दयापालकके झूठ-चोरी कुशीलादि पंच पापोंका त्याग सहज ही हो जाता है।

८. **जलगालन** अनछने जलकी एक बूंदमें असंख्यात छोटे छोटे त्रस जीव होते हैं। अतएव जीवदयाके पालन तथा अपनी शारीरिक आरोग्यता-के निमित्त जलको दोहरे छन्नेसे छानकर पीना योग्य है। छन्नेका कपड़ा स्वच्छ सफेद, साफ और गाढ़ा हो। खुरदरा, छेददार, पतला, पुराना, मैला फटा तथा ओढा-पहिना हुआ कपड़ा छन्नेके योग्य नहीं। पानी छानते समय छन्ने में गुड़ी न रहे। छन्नेका प्रमाण सामान्य रीतिसे शास्त्रोंमें ३६ अंगुल लम्बा और २४ अंगुल चौड़ा[1] कहा है, जो दुहरा करने से २४ अंगुल

---

१. षड्त्रिंशदंगुलं वस्त्रं चतुर्विंशतिविस्तृतं।
तद्वस्त्रं द्विगुणीकृत्य तोयं तेन तु गालयेत ॥ १ ॥ (पीयूषवर्षश्रावकाचार)

लम्बा १८ अंगुल चौड़ा होता है। यदि बर्तनका मुंह अधिक चौड़ा हो, तो बर्तन के मुंहसे तिगुना दुहरा छन्ना होना चाहिए। छन्नेमें रहे हुए जीव अर्थात् जीवाणी (बिलछानी) रक्षापूर्वक उसी जलस्थानमें क्षेपे, जिसका पानी भरा हो। तालाब, बावडी, नदी आदि जिसमें पानी भरनेवाला जल तक पहुँच सकता है, जीवाणी डालना सहज है। कुएं में जीवाणी बहुधा ऊपरसे डाल दी जाती है सो या तो वह कुएं में दीवालों पर गिर जाती है अथवा कदाचित् पानी तक भी पहुँच जाय, तो उसमेंके जीव इतने ऊपरसे गिरनेके कारण मर जाते हैं, जिससे जीवाणी डालनेका अभिप्राय "अहिंसा-धर्म" नहीं पलता। अतएव भंवरकड़ीदार[1] लोटेसे कुएं के जलमें जीवाणी पहुँचाना योग्य है।

पानी छानकर पीनेसे जीवदया पलनेके सिवाय शरीर भी नीरोगी रहता है। अनछना पानी पीनेसे बहुधा मलेरिया ज्वर, नहरुआ आदि दुष्ट रोगोंकी उत्पत्ति होती है। इन उपर्युक्त हानि-लाभोंको विचार कर हर-एक बुद्धिमान पुरुषका कर्त्तव्य है कि शास्त्रोक्त रीतिसे जल छानकर पीवे। छाननेके पीछे उसकी मर्यादा दो घड़ी अर्थात् ४८ मिनट तक होती है। इसके बाद त्रस जीव उत्पन्न हो जानेसे वह जल फिर अनछने के समान होजाताहै।

इन अष्ट मूलगुणोंमें देवदर्शन, जलछानन और रात्रि-भोजनत्याग ये ३ गुण तो ऐसे हैं जिनसे हरएक सज्जन पुरुष जैनियोंके दया धर्मकी तथा धर्मात्मापन की पहिचान कर सकता है। अतएत आत्महितेच्छु—धर्मात्माओं को चाहिए कि जीवमात्रपर दया करते हुए प्रामाणिकतापूर्वक बर्ताव करके इस पवित्र धर्मकी सर्व जीवोंमें प्रवृत्ति करें।

मूर्तिपूजन—

वर्तमान में कितने ही मत ऐसे भी है जो मूर्तिपूजन का निषेध करते हैं। वे मूर्तिपूजन का अभिप्राय समझे बिना मूर्तिपूजकों को बुतपरस्त अर्थात् पाषाणपूजक ठहराते हैं। उनको यह बात ज्ञात नहीं है कि मूर्ति अर्थात् स्थापना-सत्य माने बिना सांसारिक एवं पारमार्थिक कोई भी कार्य नहीं चल सकते। प्रत्यक्ष ही देखो कि अक्षर जो लिखे जाते हैं, वे

---

१. लोटेके पैंदे में एक आंकड़ा लगवावे, आंकड़े में रस्सी फंसाकर जीवाणी समेत सीधा लोटा कुए में डालने और पानी की सतहपर पहुंचते ही हिलाने से लोटा औंधा हो जाता और जीवाणी पानी में गिर जाती है। जीवाणी गिर चुकनेपर लोटा ऊपर खींच लेवे।

जिस पदार्थ के द्योतक याने मूर्तिस्वरूप हों, उसी पदार्थ का ज्ञान उन अक्षरों के देखने से होता और तदनुसार ही हर्ष-विषाद होता है। जैसे निन्दा या गाली के द्योतक अक्षरों को पढ़कर अप्रसन्नता और प्रशंसा रूप अक्षरों को पढ़कर चित में प्रसन्नता होती है अथवा फोटो की तस्वीर या पत्थर की स्त्री-पुरुष की सुन्दर मूर्ति देखकर मन प्रसन्न होता और कुरूप-डरावनी मूर्ति को देखने से भय और घृणा उत्पन्न होती है। जिस प्रकार नक्शों के बिना केवल भूगोल की पुस्तक पढ़ने से यथार्थ ज्ञान नही होता उसी प्रकार मूर्ति के बिना सांसारिक एवं पारमार्थिक कार्यों का समुचित रीति से बोध तथा उसमें प्रवृत्ति नहीं हो सकती। इसके लिए इतना ही कहना बस होगा कि मूर्ति निषेधक लोग भी फोटो (तस्वीर) तथा स्मारक मूर्तियों के द्वारा असली पदार्थ का बोध करते हैं और तदनुसार ही बर्ताव करते हैं। अब विचारने की बात केवल इतनी ही है कि मोक्षमार्ग के प्रकरण में मूर्ति किस की और किस आकार की होनी चाहिए और उसकी पूजन करने का अभिप्राय क्या होना चाहिए। इत्यादि बातों को भलीभाँति जाने बिना मूर्ति-पूजन से जो लाभ होना चाहिए, सो कदापि नहीं हो सकता, इसलिए इस विषय को भलो-भाँति जानना जरूरी है। इसके लिए इतना कहना ही बस होगा कि यदि सूक्ष्म दृष्टि से मूर्ति स्थापना एवं मूर्तिपूजन सम्बन्धी अभिप्राय ध्यान में लाये जाएं, तो कदाचित् भी कोई हमें बुतपरस्त नहीं कह सकता किन्तु पूर्ण तत्व ज्ञानी, सत्य-खोजी और सच्चा मुमुक्षु कह सकता है।

मूर्तिपूजा के विषय में जैनियों के उद्देश्य और सिद्धान्त ये हैं कि जिन महात्माओं ने संसार अर्थात् जन्म-मरण की परिपाटी को बढ़ाने वाले, रागद्वेष को उत्पन्न करने वाले विषय-कषायों को त्याग दिया और परम वीतरागता (शांति) अंगीकार की, जिन्होंने अशुभ-शुभ दोनों प्रकार के कर्मों को संसार-बन्धन के लिए बेड़ी सदृश जान त्याग दिया, जिन्होंने एकाग्र ध्यान (समाधि) के बल से सर्वज्ञ पद को प्राप्त किया और शुद्धात्म-रूप-परमात्मा हुए। ऐसे सर्वज्ञ, परमात्मा, कर्मशत्रु-विजेता वीरों की ध्यान-मुद्रा का सदा स्मरण होता रहे। उनके सद्गुणों के प्राप्त करने की सदा इच्छा उत्पन्न होती रहे, हम इसी अभिप्राय से उनकी तादृश (उन्हीं के समान) वीतरागतापूर्ण मूर्ति स्थापना करते हैं। उनका सिद्धान्त है कि ऐसी मूर्ति के दर्शन द्वारा परमात्मा के गुण चिंतवन करना और उनके समान सद्गुणी बनने की इच्छा करना ही आत्मोन्नति का मूल साधन है।

यह बात भी ध्यान में लाने योग्य है कि हम मूर्ति के दर्शन, पूजन

करते हुए पाषाण, पीतल आदि की स्तुति नहीं करते, कि "हे पाषाण या पीतल की मूर्ति ! तू अमुक खान से निकाली जाकर अमुक कारीगर के द्वारा इतने मूल्य में अमुक जगह तैयार कराई जाकर हम लोगों के द्वारा स्थापित होकर पूज्य मानी गई है।' किन्तु संसारविरक्त मोक्षगामी परमात्मा की तदाकृति मूर्ति के आश्रय उसके सद्‌गुणों की स्तुति तथा पूजन करते और उसी के समान मोक्ष प्राप्त करने की भावना करते हैं। मोक्षमार्गी सच्चे वीरों की मूर्ति के दर्शन करके यह शिक्षा लेते हैं कि यह मुद्रा ध्यान करने की है। जब हम संसार, शरीर, भोगों से सर्वथा विरक्त होकर इस नग्न दिगम्बर मूर्ति सरीखे ध्यानारूढ़ होंगे, तभी अपने आत्मस्वरूप में लीन होकर शान्तिरस का आस्वादन कर सकेंगे, अन्यथा नहीं। मन में वीतराग मूर्ति के देखने से इस प्रकार शुद्धात्म स्वरूप के ध्यान की भावना उत्पन्न होती है कि मेरे आत्मा में जब तक राग द्वेष रूप मल लगा हुआ है तब तक ही संसार में भ्रमण करता नाना प्रकार दुखी होता हुआ जन्म-मरण कर रहा हूँ। जिस समय रागद्वेष विकार मुझसे दूर हो जाएगा, उस समय मैं अपने स्वरूप में ऐसा निश्चल लीन हो जाऊँगा, जैसी कि यह पाषाण की वीतराग मूर्ति ध्यानस्थ है।

मूर्ति चाहे पद्मासन हो, चाहे खड्‌गासन किन्तु, स्त्री-वस्त्र-शस्त्र-आभूषण आदि परिग्रहरहित नासाग्रदृष्टि, पूर्ण वैराग्य सूचक नग्न दिगम्बर ध्यानारूढ होती है। इसमें कुछ भी सन्देह नही कि मोक्ष प्राप्ति के लिए ऐसी शान्त अवस्था धारण करना बहुधा सभी मतावलम्बी स्वीकार करते हैं।

यहाँ कोई कहे कि वीतराग सर्वज्ञ की मूर्ति के नित्य अभिषेक (प्रक्षाल) पूर्वक पूजन करने की क्या आवश्यकता है ? उसका समाधान — इसका विज्ञान बहुत विज्ञता से भरा हुआ है। मूर्ति के प्रक्षाल करने का अंतरंग अभिप्राय तो यह है कि ऐसी पवित्र ध्यानस्थ-मुद्रा के अति निकटवर्ती होने से उसकी वीतरागता पूर्णरूप से दरशती है। उसके स्पर्श करने से चित आह्लादित होता है मानो साक्षात् अर्हतदेव का ही स्पर्शन किया और चरणोदक लगाने से मस्तक तथा सम्पूर्ण शरीर पवित्र होकर मन में साक्षात् तीर्थंकर भगवान् के अभिषेक करने सरीखी भावना उत्पन्न होती है। प्रक्षाल करने का बाह्य कारण ये भी है कि मूर्ति पर कूड़ा, कचरा, जाला, मैल, दाग न लगने पावे क्योंकि आच्छादन होने से मूर्ति की वीतरागता बिगड़ती और स्पष्ट-दर्शन में बाधा आती है।

गृहस्थों को गृह-सम्बन्धी जंजालों के कारण अनेक संकल्प विकल्प

उत्पन्न होते रहते हैं, जिससे एकाएक आत्मध्यान में उनका चित्त एकाग्र नहीं हो सकता, इसलिए उन्हें सांसारिक अशुभ आलंबनों के त्यागने और पारमार्थिक शुभ आलंबनों में लगने की बड़ी भारी आवश्यकता है। अतएव गृहस्थ को जिन-पूजा से बढ़कर दूसरा कोई प्रबल धार्मिक अवलम्बन नहीं है। इसी कारण शास्त्रों में गृहस्थ को धार्मिक षट्कर्मों के आरम्भ में ही देवपूजन करने का उपदेश है। पूजन करने से पूजन के द्रव्य एकत्र करने, धोने, चढ़ाने, पाठ-मंत्रादि बोलने, पूज्य परमेष्ठी के गुणों के चिंतवन करने में जितने समय तक चित्त लगा रहता है उतने काल तक परिणाम पुण्यरूप रहते, सांसारिक विषयकषाय की ओर चित्त नहीं जाने पाता जिससे महान् पुण्यबंध और पाप की हानि होती है तथा उतने काल तक संयम (इन्द्रियों का जीतना) और तप (इच्छा का निरोध) होता है। जिससे आत्मीक शक्तियाँ सबल और निर्मल होती हैं।

अष्टद्रव्य (जल, सुगंध, अक्षत, पुष्प, नैवेद्य, दीप, धूप, फल) से पूजन करने की आज्ञा है। इनको परमात्मा या गुरु के सन्मुख चढ़ाने का अभिप्राय, पूजकों के सांसारिक तापों के दूर करने की इच्छा है। इसी हेतु से ये अष्टद्रव्य पृथक्-पृथक् मंत्रों द्वारा परमात्मा के सन्मुख क्षेपण किये जाते हैं और भावना की जाती है कि "इन जल, सुगंध, अक्षतादि द्रव्यों को हमने अनादिकाल से सेवन किया, परन्तु हमारे तृषा, क्षुधादि सांसारिक ताप दूर नही हुए। अतएव हे प्रभु! ये द्रव्य आपके सन्मुख क्षेपण कर चाहते हैं कि आपकी तरह हम भी क्षुधा, तृषा, मोह, अज्ञानादि दोषों से रहित होकर आप सरीखी निर्दोष और उत्कृष्ट दशा को प्राप्त होवें"।

यहाँ कोई आशंका करे कि भगवान् अरहंत तो आयु पूर्णकर लोक के अग्र भाग मोक्ष स्थान में जा विराजे हैं, धातु-पाषाण के स्थापनरूप प्रतिबिम्ब में आते नही, अपना पूजन-स्तवन चाहते नहीं, अपने अनंत ज्ञान, अनंत सुख में लीन तिष्ठते हैं, किसी का उपकार, अपकार करते नहीं, पूजन-स्तवनादि करनेवाले से राग और निन्दा करने वाले से द्वेष करते नहीं। अपना पूजन स्तवन तो मान कषाय से संतापित, अपनी बड़ाई का इच्छुक, स्तवन करने से संतुष्ट होनेवाला, ऐसा संसारी (रागी-द्वेषी) होय सो चाहे। तो फिर किस प्रयोजन से उनकी पूजन की जाती है? उसका समाधान—जो भगवान् वीतराग तो पूजन स्तवन चाहते नहीं परन्तु गृहस्थ का परिणाम शुद्ध-आत्मस्वरूप की भावना में तो लगता नहीं, साम्यभावरूप रहता नहीं, निरालंब ठहरता नही, इसलिए परमात्म-भावना

का अवलम्बन कर वीतराग स्वरूप के धातु, पाषाणमय प्रतिबिम्ब में संकल्प कर परमात्मा का ध्यान, स्तवन-पूजन किया जाता है। उस समय कषायादि संकल्प के अभाव से, दुर्ध्यान के छूटने से, परिणामों की विशुद्धता के प्रभाव से देव, मनुष्य, तिर्यंच तीन शुभ आयु बिना शेष कर्मों की स्थिति घट जाती है तथा पुण्यरूप कर्म प्रकृतियों में रस बढ़ जाता, और पाप प्रकृतियों का रस सूख जाता है। पापकर्म का नाश होकर सातिशय पुण्य कर्म का उपार्जन होता है।

पूजन में जो जल, चन्दन, अक्षतादि चढ़ाया जाता है सो भगवान् भक्षण करते नहीं, पूजा किये बिना अपूज्य रहते नहीं, वासना लेते नहीं। जैसे राजा को भेंट, नजर, निछरावल करके आनन्द मनाते हैं उसी प्रकार भगवान् अरहंत के सन्मुख (अग्रभाग में) हर्षपूर्वक अष्ट द्रव्यों का अर्घ चढ़ाया जाता है।

पूजन के योग्य नव देव हैं: १ अरहंत २ सिद्ध ३ आचार्य ४ उपाध्याय ५ सर्वसाधु ६ जिनवाणी ७ जिनधर्म ८ जिन प्रतिमा ९ जिनमन्दिर। सो अरहंत प्रतिबिम्ब में ही ये नव देव गर्भित हो जाते हैं, क्योंकि आचार्य, उपाध्याय, साधु तो अरहंत ही की पूर्व अवस्था है और सिद्ध होते हैं सो अर्हन्त पूर्वक ही होते हैं। अरहंत की वाणी सो जिनवचन, और वाणी द्वारा प्रगट हुआ जो वस्तु स्वरूप सो जिनधर्म है। अर्हन्तका बिम्ब सो जिन-प्रतिमा और वह जहाँ तिष्ठें, सो जिनालय है। इस प्रकार नव देव गर्भित जिनबिम्ब तथा उसके ऋषभादि नाम, सम्मेदशिखरादि क्षेत्र, पंच कल्याणादि काल और रत्नत्रय, दशलक्षणधर्म, षोडशकारणादि भाव (गुण) नित्य ही पूजने योग्य हैं। पवित्र जल को झारी में धारण करें अर्हन्त प्रति-बिम्ब के अग्रभाग में ऐसा ध्यान करें कि "हे जन्म-जरा-मरण को जीतने वाले जिनेन्द्र, मैं जन्म, जरा, मरणरूप त्रिदोष के नाशार्थ, आपके चरणारविन्दकी अग्रभूमि में जल की तीन धारा क्षेपण करूँ हूं, आपका चरण-शरण ही इन दोषों के नाश होने का कारण है।' इत्यादि आठों द्रव्यों के चढ़ाने के पद बोलकर भावसहित भगवान् के अग्रभाग में द्रव्य चढ़ावे। इस प्रकार देश-काल की योग्यतानुसार पवित्र निर्जन्तु एकादि अष्ट द्रव्य से पूजन करे, परिणामों को परमेष्ठी के ध्यान में युक्त करे, स्तवन पढ़े, नमस्कार करे।

परमात्मा में भूख, तृष्णा, सोने, जागने आदि दोषों की कल्पनाकर उनकी निवृत्ति के लिए जल चन्दनादि से पूजन करना अभिप्राय जैनियों का नहीं है। क्योंकि परमात्मा (उत्कृष्ट आत्मा) के न तो ये उपाधियाँ ही हैं,

न इनका उपचार है। पूजा केवल पारमार्थिक सिद्धि के लिए ही है। उसके पूर्ण अभिप्राय पूजा के प्रत्येक पद के पढ़ने से भलीभांति झलकते हैं, जो अलौकिक और सच्चे सुख के साधक हैं।

यहाँ कोई सन्देह करे कि जब आपका उद्देश्य "अहिंसा धर्म" है और पूजन आरम्भ करने में थोड़ी या बहुत हिंसा होती ही है, तो फिर पूजन के आरम्भ का उपदेश क्यों ? उसका समाधान—आरम्भयुक्त द्रव्यपूजन आदि शुभ कार्य गृहस्थ करते हैं, आरम्भ-त्यागी मुनि कदापि नहीं करते। तो भी "त्रस हिंसा को त्याग वृथा थावर न संहारे" के अनुसार पूजादि सम्पूर्ण क्रियाओं में गृहस्थों को अति यत्नाचार सहित प्रवर्तने की आज्ञा है जिससे बुद्धिपूर्वक पाप अल्प भी न हो और पुण्य विशेष हो। यद्यपि सम्यग्ज्ञानी गृहस्थ शुद्धोपयोग को ही इष्ट समझता है, तथापि गृहस्थपन में अशुभ त्याग शुभ में प्रवृत्ति होना ही सम्भव है।

जो द्रव्य ममत्वरहित होकर उन महात्माओं के सन्मुख क्षेपण किया जाता है वह अति निर्मल है इसलिए उसे "निर्माल्यद्रव्य" कहते हैं। उस द्रव्य पर चढ़ानेवाले का कुछ भी अधिकार या स्वामित्व स्वतः लेने या किसी को देने का नहीं रहता, इसलिए उसको चाहे सो ले जावे, परन्तु अपने तई किसी भी रीति से अपनाना अत्यन्त अयोग्य और पापजनक है। ऐसा करने से इसी भव में कुष्टादि रोग, दारिद्र आदि दुःख प्राप्त होते और भविष्य के लिए तीव्र पाप का बंध होता है।

यहाँ कोई प्रश्न करे कि भगवान् के सन्मुख चढ़ाये हुए द्रव्य को ग्रहण करने से महापाप क्यों होता है ? उसका उत्तर भगवान् को चढ़ाया हुआ द्रव्य यद्यपि महापवित्र, मस्तक पर चढ़ाने योग्य है तथापि अपनाने योग्य नहीं है क्योंकि निर्ममत्व होकर (त्याग करके) महात्माओं के सन्मुख अर्पण किया है इसलिए अग्राह्य के अधिकारी बनना महापाप का कार्य है।

सप्तव्यसन दोष

अन्यायरूप कार्यको बार-बार सेवन किये बिना चैन नहीं पड़े, ऐसा शौक पड़ जाना व्यसन कहलाता है अथवा व्यसन नाम आपत्ति (बड़े-कष्ट) का है इसलिए जो महान् दुःखको उत्पन्न करे, अति विकलता उपजावे सो व्यसन है (मूलाचार)। पुनः जिसके होनेपर उचित अनुचितके विचारसे रहित प्रवृत्ति हो (स्याद्वादमंजरी) वह व्यसन कहलाता है।

प्रगट रहे कि जूआ खेलना, माँसभक्षण करना, मद्यपान करना, वेश्या-

सेवन करना, शिकार खेलना, चोरी करना, परस्त्रीसेवन, ये सात अति अन्यायरूप और लुभावने कार्य हैं कि एकबार सेवन करनेसे इनमें अति आसक्तिता हो जाती है जिससे इनके सेवन किये विना चैन (जक) नहीं पड़ती, रात-दिन इन्हीं में चित्त रहता है। इनमें उलझना तो सहज पर सुलझना महा कठिन है इसी कारण इनकी शास्त्रोंमें व्यसन संज्ञा है। यद्यपि चोरी, परस्त्रीसेवनको पंच पापोंमें भी कहा है तथापि जहाँ इन पापोंके करनेकी ऐसी टेव पड़ जाय कि राजदण्ड, जातिदण्ड, लोकनिन्दा होने पर भी न छोड़े जावें सो व्यसन है और जहाँ कोई कारण विशेषसे किंचित् लोकनिंद्य वा गृहस्थधर्म-विरुद्ध ये कार्य बन जाय सो पाप है।

यद्यपि इन व्यसनों का नियमपूर्वक त्याग सम्यक्त्व होनेपर पाक्षिक अवस्थामें होता है, तथापि ये इतने हानिकारक, ग्लानिरूप और दुखदाई हैं कि इन्हें उच्चजातीय सामान्य गृहस्थ भी कभी सेवन नहीं करते। इनमें लवलीन (आसक्त) पुरुषोंको सम्यक्त्व होना तो दूर रहा, किन्तु धर्मरुचि, धर्मकी निकटता भी होना दुस्साध्य है। ये सप्त व्यसन वर्तमान में नष्ट-भ्रष्ट करने वाले और अन्तमें सप्त नरकों में ले जाने वाले दूत हैं। इनका संक्षिप्त स्वरूप इस प्रकार है।

१. **जुआ खेलना**—जिसमें हार जीत हो, ऐसे चौपड़, गंजफ़ा, मूठ, नक्की आदि खेलना, जुआ है। यह जुआ सप्त व्यसनोंका मूल और सर्व पापोंका स्थान है। जिनके धनकी अधिक तृष्णा है, वे जुआ खेलते हैं। जुआरी, नीच जातिके लोगोंके साथ भी राज्यके भयसे छिपकर मलिन और शून्य स्थानोंमें जुआ खेलते हैं। अपने विश्वासपात्र मित्र-भाई आदिसे भी कपट करते हैं। हार जीत दोनों दशाओंमें ही (चाहे धन सम्बन्धी हो, चाहे बिना धन सम्बन्धी) जुआरीके अति व्याकुल परिणाम रहते हैं। उन्हें रात-दिन इसीकी मूर्च्छा रहती है। ऐसे लोगोंसे न्यायपूर्वक अन्य कोई रोज-गार धंधा हो नहीं सकता। जीतनेपर मद्यपान, माँसभक्षण, वेश्यासेवनादि निंद्यकर्म करते और हारनेपर चोरी, छल, झूठ आदिका प्रयोग करते हैं। जुआ खेलनेवालोंसे कोई दुष्कर्म बचा नहीं रहता। इसी कारण जुएको सप्त व्यसनका राजा कहा है। सट्टे (फाटके) का धंधा, होड़ लगाकर चौपड़, शतरंज आदि खेलना यह सब जुएका ही परिवार है। जुआरी पुत्र-पुत्री, स्त्री, हाट, महल, दुकान आदि पदार्थोंको भी जुएपर लगाकर घड़ी भरमें दरिद्री, नष्ट-भ्रष्ट बन बैठता है। इसके खेलमात्रसे पाँडवोंने जो दुःख उठाया सो जगत् में प्रसिद्ध है।

२. मांसखाना—

३. मद्यपान करना—

इनका वर्णन तीन मकार में हो चुका है।

४. वेश्यासेवन—जिस अविवेकिनी नारीने पैसेके प्रति लालचसे वेश्यावृत्ति अंगीकार कर अपने शरीरको, अपनी इज्जतआबरूको, अपने पतिव्रत धर्मको नीच लोगोंके हाथ बेच दिया, ऐसी वेश्याका सेवन महानिंद्य है। यह पैसेकी स्त्री है, इसके पतियों की गिनती नहीं होती, यह सब दुर्गुणोंकी गुरानी है। मांस-मदिरा-जुआ आदि सब प्रकारके दुर्व्यसनोंमें फंसाकर अपने भक्तोंको कष्ट-आपदा रोगोंका घर बनाकर अन्तमें निर्धनदरिद्रीकी अवस्थामें मृतप्राय करके छोड़ती है। इसके सेवन करनेवाले महानीच, घिनावने, स्पर्श करने योग्य नहीं। जिनको वेश्यासेवनकी ऐसी लत पड़ जाती है वे जाति, पाँति और धर्म-कर्मकी बात तो दूर मरण भी स्वीकार कर लेते हैं, परन्तु इस व्यसनको छोड़ना स्वीकार नहीं कर सकते। जो लोग अज्ञानतावश वेश्याव्यसनमें फंस जाते हैं, उनकी गृहस्थी-धन-इज्जत-आबरू-धर्म-कर्म सब नष्ट हो जाते हैं और वे परलोक में कुगतिको प्राप्त होते हैं।

५. शिकार खेलना—बेचारे निरपराधी, भयभीत, जंगलवासी पशु, पक्षियों-को अपना शौक पूरा करनेके लिए या कौतुक-निमित्त मारना महा अन्याय और निर्दयता है। गरीब, दीन, हीन और अनाथोंकी रक्षा करना बलवानों का कर्त्तव्य है। जो प्रजाकी व निस्सहाय जीवोंकी घात व कष्टसे रक्षा करे वह सच्चा राजा तथा क्षत्रिय है। यदि रक्षक ही भक्षक हो जाय तो दीन, अनाथ जीव किससे फर्याद करें। ऐसा जानकर बलवानों को अपने बलका प्रयोग ऐसे निंद्य, निर्दय और दुष्ट कार्यों में करना सर्वथा-अनुचित है। इस शिकार दुर्व्यसन की ऐसी खोटी लत है कि एक बार इसका चसका पड़ जाने से फिर वही दिखाई देता है। हर समय इस व्यसनमें प्राण जानेका संकट उपस्थित रहता है। जो लोग इस व्यसनको सेवन कर वीर बनना चाहते हैं वे वीर नहीं, किन्तु धर्महीन अविवेकी और कायर हैं। वे इस लोकमें निंद्य गिने जाते हैं और परलोकमें कुगतिको प्राप्त होते हैं।

६. चोरी करना—भूली-बिसरी-रक्खी हुई पराई वस्तुको उसके स्वामीके आज्ञा बिना ले लेना, सो चोरी है। चोरी करनेमें आसक्त हो जाना, चोरी व्यसन कहलाता है। जिनको चोरीका व्यसन पड़ जाता है

वे धन पास होते हुए, महाकष्ट और आपदा आते हुए भी चोरी करते हैं। ऐसे पुरुष राजदंड, जातिदंडका दुःख भोग निन्दा एवं कुगतिके पात्र बनते हैं। चोरी करनेसे शिवभूति पुरोहित कष्ट-आपदा भोग, कुगति को प्राप्त हुआ।

७. **परस्त्री-सेवन** देव, गुरु धर्म और पंचोंकी साक्षी-पूर्वक पाणिग्रहण की हुई स्वस्त्रीके सिवाय अन्य स्त्रीसे संयोग (संभोग) करने में आसक्त हो जाना सो परस्त्री-सेवन व्यसन है। परस्त्रीसेवी धर्म-धन यौवनादि उत्तम पदार्थोंको गमा देते हैं, राजदण्ड, जातिदण्ड, लोकनिन्दा को प्राप्त हो, नरकमें जाकर लोहेकी तप्त पुतलियों से भिटाये जाते हैं। जैसे जूंठनखाकर कूकर काग प्रसन्न होते हैं, वैसीही पर-स्त्री लंपटीकी दशा जानो।

ये सप्त व्यसन संसार परिभ्रमणके कारण, रोग-क्लेश, वध-बंधनादिके करानेवाले, पापके बीज और मोक्षमार्गमें विघ्न करने वाले हैं। सर्व अवगुणोंके मूल, अन्यायकी मूर्ति तथा लोक-परलोकको बिगाड़नेवाले हैं। जो सप्तव्यसनोंमें रत होता है उसके विशुद्धि लब्धि अर्थात् सम्यक्त्व धारण होने योग्य पवित्र परिणामोंका होना भी सम्भव नहीं, क्योंकि उसके परिणामोंमें अन्यायसे अरुचि नहीं होती। ऐसी दशामें शुभ कार्योंसे तथा धर्म से रुचि कैसे हो सकती है ? इसलिए प्रत्येक स्त्री-पुरुषको इन सप्त व्यसनों को सर्वथा तजकर शुभ कार्योंमें रुचि करते हुए नियमपूर्वक सम्यक् श्रद्धानी बनना चाहिए और गृहस्थधर्मके उपर्युक्त अष्ट मूलगुणोंको धारण करना चाहिए।

पाक्षिकश्रावक के विशेष कर्त्तव्य

(१) कुलानुसार आचार अर्थात् अपने उच्चकुल-उच्च-जाति-उच्च-धर्मकी पद्धतिके अनुसार रहन-सहन-पहिनाव-उढ़ाव आदि करना और खान-पान शुद्ध रखना।(२) पंचाणुव्रत पालन करनेका अभ्यास करना[1]।(३) शास्त्राभ्यास करना। (४) गृहस्थोंके करने योग्य गृहस्थी सम्बन्धी षटकर्म अर्थात चक्की, ऊखली, चूला, बुहारी, जल तथा आजीविकाके कार्योंमें यत्नाचार तथा न्यायपूर्वक प्रवृत्ति करना और नित्यप्रति धर्मसम्बन्धी षट्कर्म जिनपूजा, गुरु-उपासना, स्वाध्याय, संयम, दान और तपमें शुभ परिणामोंकी प्राप्ति-निमित्त प्रवृत्ति करना। (५) जिस ग्राममें जिनमन्दिर न हो वहाँ न

---

१. इसमें कई बातें व्रती श्रावक सरीखी मालूम होती हैं, उन्हें यहाँ अभ्यास रूप समझना चाहिए।

रहना। सागारधर्मा० अध्याय २ श्लोक ५ "प्रतिष्ठा यात्रादि"। (६) जिनधर्मियोंका उपकार करना, जिनधर्मकी उन्नतिके निमित्त उत्कृष्ट श्रावक तथा मुनि उत्पन्न हों, इसलिए हर प्रकारसे सार्धर्मियोंकी सहायता करनेका प्रयत्न करना। (७) चार प्रकार दान देना। (८) भोगोपभोगका यथाशक्ति नियम करना। (६) यथाशक्ति तप करना। (१०) संकल्पी हिंसा न करना अर्थात् सिंह, सर्प, बिच्छू आदि किसी भी प्राणीको संकल्प करके न मारना। (११) सम्यक्त्वकी शुद्धताके लिये तीर्थ यात्रा करना, मन्दिर बनवाना, जैनपाठशाला स्थापित करना।

जैनगृहस्थकी नित्य चर्या

जैनी-गृहस्थ सामान्य रीतिसे पाक्षिक वृत्तिके धारक होते हैं, अतएव जैनी गृहस्थकी नित्यचर्या इस प्रकार होनी चाहिए—

(१) वह एक घंटा रात्रि अवशिष्ट रहे तब उठकर पवित्र हो आत्मचिंतवन (सामायिक) करे। (२) सबेरे शौच-स्नानादिसे निपटकर अपनी योग्यतानुसार शुद्ध-पवित्र द्रव्य लेकर जिनमन्दिर जावे, दर्शन-पूजनादि धार्मिक षट्कर्मोंमें यथाशक्ति प्रवर्ते। (३) धर्म-कर्मसे निपटनेके पीछे शुद्ध भोजन करे। (४) भोजनकी पवित्रता रखे—शूद्रको छोड़ शेष ३ वर्णोंके (मद्य-माँस-भक्षीको छोड़) हाथसे भरा अच्छी तरह दुहरे छन्ने से छना हुआ पानी, मर्यादित आटा, चर्मस्पर्शरहित घी, ताजा छना और प्राशुक किया हुआ दूध, ताजा मसाला, रसोईमें चंदोवा, अवींधा दाल-चावलादि अन्न ग्रहण करे, कन्द-मूलादि अभक्ष्य पदार्थोंको छोड़े। (५) चार बजे तक आजीविका सम्बन्धी कार्य अपनी योग्यतानुसार करे, पश्चात् दुबारा भोजन करना हो तो करे। (६) पाँच बजे जलपानादिसे निपटकर आध घंटे जीवजन्तुकी रक्षा करते हुए टहले। (७) संध्या समय पुनः आत्मचिंतन (सामायिक) करे, शास्त्रसभामें जाकर शास्त्र पढ़े या सुने। (८) समय बचे तो उपयोगीपुस्तकें, समाचारपत्र आदि पढ़े वा वार्तालाप करे और दस बजे रात्रिको सो जावे, इस प्रकार आहार-विहार, शयनादि तथा धर्मकार्योंको नियम-पूर्वक करता रहे।

गृहस्थके सत्रह यम

कुगुरु कुदेव कुवृष की सेवाऽनर्थदण्ड अघमय व्यापार।
द्यूत माँस मधु वेश्या चोरी परतिय हिंसादान शिकार॥
त्रसकी हिंसा थूलअसत्यरु बिनछन्यो जल निशिआहार।
ये सत्रह अनर्थ जगमाहीं यावज्जिअो करो परिहार॥१॥

नैष्ठिकश्रावक वर्णन

जो धर्मात्मा पाक्षिक श्रावककी क्रियाओं का साधन करके शास्त्रोंके अध्ययनद्वारा, तत्त्वोंका विशेष विवेचन करता हुआ पंचाणुव्रतोंका आरम्भ कर, अभ्यास बढ़ाने अर्थात् देशचारित्र धारण करनेमें तत्पर हो वह नैष्ठिक श्रावक कहलाता है। अथवा जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र और उत्तम क्षमादि दश-लक्षण-धर्म-पालन करनेकी निष्ठा (श्रद्धा) युक्त पंचम गुणस्थानवर्ती हो वह नैष्ठिक श्रावक कहलाता है।

नैष्ठिक श्रावकके अप्रत्याख्यानावरण कषायोंका उपशम होनेसे और प्रत्याख्यानावरण कषायोंके क्षयोपशम (मंद उदय) के क्रमशः बढ़नेसे ग्यारहवीं प्रतिमा तक बारह व्रत पूर्णताको प्राप्त हो जाते हैं, इसी कारण श्रावकको सागार (अणुव्रती) कहा है। ये श्रावककी ११ प्रतिमाएँ (पाप-त्यागकी प्रतिज्ञाएँ) ही अणुव्रतोंको महाव्रतोंकी अवस्थातक पहुँचाने वाली निसैनीकी पंक्तियोंके समान हैं जो अणुव्रतसे महाव्रतरूप महलपर ले जाती हैं। इनको धारण करनेका पात्र यथार्थमें वही पुरुष है जो मुनिव्रत (महा-व्रत) धारण करनेका अभिलाषी हो।

यह बात ध्यानमें रखने योग्य है कि जितने त्याग (व्रत) के योग्य अपने शरीरकी शक्ति, वासस्थान या भ्रमणक्षेत्र, कालकी योग्यता, परिणामों-का उत्साह हो और जिससे धर्म ध्यानमें उत्साह व वृद्धि होती रहे, उतनी ही प्रतिज्ञा धारण करना चाहिये। पुनः हरएक प्रतिज्ञाको विवेकपूर्वक इस रीतिसे लेना चाहिये कि जिससे कोई प्रतिज्ञा क्रमविरुद्ध न होने पावे। कोई प्रतिज्ञा ऊँची प्रतिमाकी और कोई नीची प्रतिमाकी लेना क्रमविरुद्ध कहलाता है। जैसे ब्रह्मचर्य या आरंभत्याग प्रतिमाके नियम पालते हुए पीछी-कमंडलु धारण कर ऊपरसे छुल्लक-ऐलक सरीखा भेष बना लेना, या व्रत, सामा-यिक प्रतिमा अच्छी तरह पालन न करते हुए रसोई बनाने या रोजगार-धंधा आदि करनेका त्याग कर बैठना। ऐसी अनमेल प्रतिज्ञाएँ बहुधा अज्ञानतापूर्वक क्रोध, माया, लोभादि कषायोंके वश होती हैं। जिसका फल यही होता है कि लाभ के बदले उलटी हानि होती है अर्थात् कषाय मंद होनेके बदले तीव्र होकर लौकिक हानि होनेके साथ-साथ मोक्ष-मार्गसे दूर-वर्तित्व अथवा प्रतिकूलता हो जाती है। अतएव इन प्रतिज्ञाओंके स्वरूप तथा इनके द्वारा होने वाले लौकिक-पारलौकिक लाभोंको भली भाँति जान-कर पीछे जितना सधता दिखे और विषय कषाय मन्द होते दिखें, उतना ही

व्रत-नियम धारण करना कल्याणकारी है, क्योंकि प्रतिमाका स्वरूप आचार्यों ने इस प्रकार कहा है :—

दोहा

संयम अंश जगौ जहाँ, भोग अरुचि परिणाम।
उदय प्रतिज्ञा कौ भयो, प्रतिमा ताको नाम ॥१॥

जब संयम धारण करनेका भाव उत्पन्न हो, विषय-भोगोंसे अंतरंगमें उदासीनता उत्पन्न हो, तब जो त्यागकी प्रतिज्ञाकी जाय वह प्रतिज्ञा 'प्रतिमा' कहलाती है। वे प्रतिमायें ११ हैं—१ दर्शनप्रतिमा २ व्रतप्रतिमा ३ सामायिकप्रतिमा ४ प्रोषधप्रतिमा ५ सचित्तत्यागप्रतिमा ६ रात्रिभोजन-त्यागप्रतिमा ७ ब्रह्मचर्यप्रतिमा ८ आरम्भत्यागप्रतिमा ९ परिग्रहत्याग-प्रतिमा १० अनुमतित्यागप्रतिमा ११ उद्दिष्टत्यागप्रतिमा।

जिस प्रतिमामें जिस व्रतके पालन या पापत्यागकी प्रतिज्ञा की जाती है, वह यथावत् पालने तथा अतीचार न लगानेसे ही प्रतिमा कहला सकती है। जो किसी प्रतिमामें अतीचार लगता हो तो नीचे की प्रतिमा जानना चाहिये जो निरतिचार पल रही हो। यदि नीचे की प्रतिमाओंका चारित्र बिलकुल पालन न कर या अधूरा ही रखकर ऊपरकी प्रतिमाका चारित्र धारण कर लिया जाय, तो वह जिनमतसे बाह्य, कौतुक मात्र है, उससे कुछ भी फल नहीं होता, क्योंकि नीचेसे क्रमपूर्वक यथावत् साधन करते हुए ऊपर को चढ़ते जानेसे ही—क्रमपूर्वक चारित्र बढ़ाने से ही—विषय-कषाय मन्द होनेसे आत्मिक सच्चे सुखकी प्राप्ति हो सकती है, जो कि प्रतिज्ञाओंके धारण करनेका मुख्य उद्देश्य है।

इन ग्यारह प्रतिमाओंमें छठी तक जघन्य श्रावक (गृहस्थ), नववीं तक मध्यम श्रावक (ब्रह्मचारी) और दशवीं, ग्यारहवींवाले उत्कृष्ट श्रावक (भिक्षुक) कहलाते हैं।

अब इन प्रतिमाओंका स्वरूप स्पष्ट, विस्तृत रीत्या वर्णन किया जाता है—

प्रथम दर्शनप्रतिमा

यह दर्शन प्रतिमा देशव्रत [श्रावकधर्म] का मूल है। त्रसजीवोंके घातद्वारा निष्पन्न हुए अथवा त्रसजीवों से युक्त पदार्थोंको भक्षण करनेका अतीचार सहित त्याग करनेवाला दार्शनिक श्रावक है अथवा दर्शन कहिये

धर्म या सम्यक्त्व तथा प्रतिमा कहिये, मूर्ति अर्थात् जो धर्म या सम्यक्त्वकी मूर्ति हो, जिसके बाह्य आचरणोंसे ही ज्ञात हो कि यह पवित्र जिनधर्मका श्रद्धानी है वह दार्शनिक है। वह नियमपूर्वक अन्याय-अभक्ष्योंका अतीचार-सहित त्यागी होता है। सो भी इनको शास्त्रोंमें त्यागने योग्य कहा है, ऐसा जानकर नहीं त्यागता, किन्तु यह तीव्र कषायरूप महापाप के कारण हैं एवं अत्यन्त अनर्थरूप हैं ऐसा जान हर्षपूर्वक त्यागता है। इस भाँतिसे त्याग करनेवाला ही व्रतादि प्रतिमा धारण करनेका पात्र या अधिकारी होता है। अथवा जिसने पाक्षिक श्रावक-सम्बन्धी आचारादि द्वारा सम्यग्दर्शनको शुद्ध कर लिया है, जो संसार, शरीर और भोगोंसे चित्तमें विरक्त है, नित्य यथाशक्य अर्हंत भगवान्‌की पूजादि षट्‌कर्म करनेवाला है, मूलगुणोंके अतीचार दोषोंका सर्वथा अभाव करके आगे की प्रतिमाओंको धारण करनेका इच्छुक तथा न्यायपूर्वक आजीविकाका करनेवाला है वह दार्शनिक श्रावक कहलाता है।

यहाँ कोई प्रश्न करे कि जब ११ प्रतिमाएँ देशव्रतके भेद हैं तो प्रथम भेदका नाम दर्शनप्रतिमा होते हुए (जिसमें निरतिचार केवल सम्यग्दर्शन ही होता है) देशव्रतमें इसे क्यों कहा ? उसका समाधान—इस प्रतिमामें सप्त व्यसनके त्याग और अष्ट मूलगुणके धारणसे स्थूल[1] पंचाणुव्रत होते हैं, इसीलिये इसे देशव्रतमें कहना योग्य ही है। व्रतके सातिचार

---

१. अष्टमूलगुण के धारण और सप्त व्यसन के निरतिचार पालनेसे दार्शनिक श्रावकके सातिचार पंचाणुव्रतों का पालन होता है अर्थात ५ उदुम्बर ३ मकार—मद्य, मांस, मधु और शिकारके त्याग से **अहिंसाणुव्रत**, जुएके त्यागसे **सत्याणुव्रत** और **परिग्रहपरिमाणव्रत** (अतितृष्णाका त्याग), चोरी के त्यागसे **अचौर्याणुव्रत**, वेश्या और परस्त्रीके त्यागसे **ब्रह्मचर्य अणुव्रत** होता है।

व्रतों के आचरण में शिथिलता होना अतीचार है, यथा—

अतिक्रमो मानसशुद्धिहानिर्व्यतिक्रमो यो विषयाभिलाषः।
तथातिचारं करणालसत्वं भंगो ह्यनाचारमिह व्रतानाम् ॥ १ ॥

अर्थ—मनकी शुद्धतामें हानि होना सो अतिक्रम, विषयोंकी अभिलाषा होना सो व्यतिक्रम, व्रतके आचरणमें शिथिलता होना सो अतिचार, सर्वथा व्रतका भंग होना सो अनाचार है।

सागारधर्मामृतमें व्रतके एक देश अर्थात अंतरंग या बाह्य किसी एक प्रकार के अभाव होने को अतीचार कहा है।

श्रीमूलाचारजीकी टीका में विषयाभिलाषा अतिक्रम, विषयोपकरणका उपार्जन करना व्यतिक्रम, व्रतमें शिथिलता, किंचित असंयम सेवन अतीचार, व्रतका भंग

होनेसे व्रतप्रतिमा नाम हो नहीं सकता; यहाँ तो केवल श्रद्धान निरतिचार होता है। इसी कारण इसका नाम दर्शनप्रतिमा कहा है, क्योंकि प्रतिमा यथावत् होनेको कहते हैं।

पाक्षिक अवस्थामें अष्ट मूलगुण धारण और सप्तव्यसन त्यागमें जो अतीचार लगते थे, उन अतीचारोंके दूर होनेसे मूलगुण विशुद्ध हो जाते हैं। ये अमुक-अमुक काम भी ऐसे हैं जिनके प्रमाद तथा अज्ञानतापूर्वक करनेसे यद्यपि विवक्षित व्रत सर्वथा भंग नहीं होता, तथापि उसमें दूषण लगता है। इसलिये इन दोष उत्पन्न करनेवाले कार्योंको भी तजनेका प्रयत्न करो जिससे निर्दोष व्रत पले। कोई-कोई लोग अतीचारोंका अभिप्राय ऐसा समझ लेते हैं कि मानों इनके करनेकी आचार्योंने छुट्टी दी है क्योंकि इनसे व्रत तो भंग होता ही नहीं, उनकी ऐसी समझ ठीक नहीं। अतीचारों का वर्णन[1] इस प्रकार है—

मद्यत्याग के अतीचार—मदिरापानका त्यागी मन, वचन, कायसे सर्व प्रकारकी मादक वस्तु गांजा, अफीम, तमाखू आदि खाना-पीना तजे, सम्पूर्ण संधानक अचार-मुरब्बा आदि व जिन पदार्थों में फूलन आगई हो तथा जो शास्त्रोक्त मर्यादाके उपरान्त की हो गई हो, ऐसी कोई भी वस्तु भक्षण न करे, चलित-रस वस्तु का भक्षण न करे, मदिरा पीनेवालेके हाथ का भोजन न करे और न उसके बर्तन काममें लावे।

मांस त्यागके अतीचार—मांसत्यागी चमड़े के भाजनादि में रखे हुए तेल, जल, घी, हींग, काढ़ा, आटा आदि को भक्षण न करे, चमड़े की चलनी, सूपड़े से स्पर्शा आटा भक्षण न करे।

मधुत्यागके अतीचार—मधुका त्यागी पुष्प-भक्षण न करे, अंजन तकके लिए भी मधु का स्पर्श न करे। (सा० ध०)

पंच उदम्बर फलत्याग के अतीचार—पंच उदम्बरफलका त्यागी अजानफल

करके स्वेच्छया प्रवृत्ति करना अनाचार कहा है।

उदाहरण— खेत के बाहिर एक बैल बैठा था उसने विचारा, निकटवर्ती खेतको चरूं, यह अतिक्रम है, खड़ा होकर चलना व्यतिक्रम, वारी तोड़ना सो अतीचार और खेत चरना अनाचार है।

१. ये अतीचार धर्मसंग्रहश्रावकाचार, सागारधर्मामृत तथा ज्ञानानन्दश्रावकाचारादि ग्रंथोंके आधार से लिखे गये हैं।

तथा काचरी, बोर सुपारी, खारक, नारियल आदि को बिना फोड़े, बिना देखे न खावे।

रात्रिभोजन त्यागके अतीचार—जो रात्रिभोजनके त्यागी हैं, उन्हें एक मुहूर्त[1] दिन रहे से एक मुहूर्त दिन चढ़े तक आम, घी आदि फल व रस भी नहीं खाना-पीना चाहिए, फिर और-और भोज्यपदार्थोंकी तो बात ही क्या है ? रात्रिका पिसा हुआ आटा व बना हुआ भोजन खाना, दिन को अन्धेरे में खाना, ये सब रात्रि-भोजनवत् हिंसाकारक हैं और रात्रिभोजन त्याग के अतिचाररूप हैं।

जलगालन के अतीचार— छने हुए जलकी दो घड़ी की मर्यादा है। मर्यादासे अधिक काल का या कुवस्त्र से (छन्ने सिवाय अन्य वस्त्र से अथवा मैले, कुचैले, फटे, छोटे या सड़े छन्ने से) छना हुआ या जिस छने हुए जल की जीवाणी जलस्थान में बराबर नही पहुंचाई गई हो या अन्य जलस्थानमें पहुंचाई गई हो, ऐसा जल पीना योग्य नहीं। ऐसा जल पीने से जलगालन व्रत में अतीचार लगता है।

जुआत्यागके अतीचार— जुआ खेलनेका त्यागी गंजफा, चौपड़, शतरंज, दौड़ आदिका खेल बिना शर्त लगाये भी न खेले यदि खेलता है तो जुआ-त्यागमें अतीचार लगता है।

वेश्यात्यागके अतीचार- वेश्यासेवन के त्यागीको वेश्याओं का गाना सुनना नाच देखना, उनके स्थानोंमें घूमना योग्य नही। वेश्याशक्तोंकी सोहबत-सगति नही करना। यदि करे तो अतीचार लगता है।

शिकारत्यागके अतीचार- शिकारके त्यागीको काष्ठ, पाषाण, चित्रामादिकी मूर्त्ति या चित्र आदिको सकल्पपूर्वक तोड़ना-फोड़ना, फाड़ना नहीं चाहिए। दूसरोंकी आजीविका बिगाड़ देनेसे, या धन लुटा देनेसे भी शिकारत्याग में अतीचार लगता हे।

चोरीत्यागके अतीचार— चोरी के त्यागीको राज्य के भय द्वारा अपने भाई बन्धुओका धन नही छीनना चाहिए, न हिस्सा बांट में धन छिपाना चाहिए, जो कुछ उनका वाजिब हिस्सा हो, देना चाहिए। यदि ऐसा नही करता है तो चोरी का अतीचार लगता है।

---

१. सागारधर्मामृतमे १ मुहूर्त अर्थात २ घड़ी और ज्ञानानन्द श्रावकाचार तथा क्रिया-कोषमे दो मुहूर्त अर्थात ४ घड़ी कहा है। घड़ी का प्रमाण २४ मिनट का है।

परस्त्रीत्यागके अतीचार—परस्त्री त्यागी गन्धर्वविवाह न करे, बालिका (अविवाहिता) के साथ विषयसेवन न करे[1]।

सप्तव्यसन के त्यागी को मद्य-माँसादि बेचनेवाले तथा इन व्यसनोंके सेवन करनेवाले, स्त्री-पुरुषों के साथ उठना-बैठना, खान पान आदि व्यवहार भी न रखना चाहिए, नही तो परिणाम ढीले होकर पहले तो अतीचार लगते हैं पीछे वे ही अनाचाररूप होकर, पूरा व्यसनी बना, धर्म से वञ्चित कर देते हैं।

इसी प्रकार पञ्च उदम्बर, तीन मकारके त्याग के अतीचार भी धर्मेच्छु पुरुषोंको तजना योग्य है। क्योंकि बड़, पीपल, मद्य, माँसादि तो धर्मविहीन अस्पर्श शूद्रादिक भी नहीं खाते तो भी जैनियोंको इनके त्यागकी आवश्यकता इसलिए बताई गई है कि जिससे दार्शनिक जैनी याने जैनधर्म का श्रद्धानी पुरुष इनके विशेषरूप बाईस अभक्ष्यको तजे, और अन्न, जल, दूध, घृतादि शास्त्रोक्त मर्यादाके अनुसार भक्षण करे, क्योंकि मर्यादाके पश्चात इन पदार्थों में भी त्रसराशि की उत्पत्ति हो जाती है। पुन: ऐसे बीज फलादिक भी भक्षण न करे जिनमें त्रसजीव उत्पन्न हो गए हों या जिनमें शंका हो, क्योंकि ऐसे भोजन से धर्महानिके सिवाय नाना प्रकारके रोग उत्पन्न होते हैं तथा बुद्धि धर्म ग्रहण करने योग्य नहीं रहती।

१. परस्त्री त्यागके अतीचार मे तत्वार्थसूत्र में परिग्रहीता, अपरिग्रहीता गमन कहा है उसका प्रयोजन यही है कि परायेकी विवाही या अनव्याही स्त्री के साथ में एकान्तमें उठना-बैठना आदि व्यवहार न करे, क्योंकि ऐसा करनेसे संसर्गजनित दोष उत्पन्न होना सम्भव है। सागारधर्मामृत तथा धर्म संग्रहश्रावकाचारमें बालिकासेवन अतीचार कहा है सो इसका अभिप्राय यह जान पड़ता है कि जिसके साथ सगाई हो गई हो या होना हो, ऐसी नियोगिनी के साथ विवाह के पहिले संभोग करने में अतीचार है। अन्य बालिकाके सेवन से तो अतीचार ही नही किन्तु महा अनाचार है, यही कारण है कि परस्त्रीसेवीकी अपेक्षा बालिका सेवन करनेवालोंको राज्य की ओरसे भी तीव्र दण्ड दिया जाता है। लोकनिन्दा और जातीयदण्ड भी अधिक होता है। (परस्त्री त्यागी सगाई वाली या अन्य बालिकाको परस्त्री न होने का ख्याल कर लेता है और व्रत भंग नहीं मानता वह अतीचार कहा होगा, पर है यह अनाचार।)

२२ अभक्ष्य

ओला, घोरबड़ा, निशिभोजन, बहुबीजा, बैंगन, संधान ।
बड़, पीपर, ऊमर, कठ-ऊमर, पाकर, फल जो होय अजान ।।
कन्दमूल, माटी विष, आमिष, मधु, माखन अरु मदिरापान ।
फल अति तुच्छ तुषार चलित रस ये जिनमत बाईस बखान ।। १ ।।

इनका अभिप्राय—(१) ओले—अनछने पानी के जमजानेसे होते हैं, जो असंख्य त्रसजीवोंके घर हैं। (२) घोरबड़ा अर्थात दही बड़े—उड़द या मूंग की दाल को फुलाकर पीसनेके पश्चात घृत या तेल में तलकर बड़े बनाये जाते हैं। इनको दही या छाछ में डालकर खाने से द्विदल दोष से असंख्य त्रसजीवों की उत्पत्ति होती है। इसलिए द्विदल[1] दोषयुक्त घोरबड़े खाना योग्य नहीं। (३) रात्रिभोजन का दोष कह ही चुके हैं। रात्रिभोजन का त्यागी रात्रिका बना हुआ, बिना शोधा देखा तथा अंधेरे में भोजन न करे। (४) बहुबीजा– जिस फल में बीजों के अलग-अलग घर न हों, जैसे अफीमका डोंडा (तिजारा) तथा अरण्ड काकड़ी। (५) बैंगन– उन्मादका उत्पादक तथा विकृत (देखनेमें घिनावना) होता है। (६) सन्धाना (अथाना) --आम, नींबू आदि को राई, नमक, मिर्चादि मसाले के साथ तेल में या बिना तेल के कितने ही दिनों तक रखने से इसमें त्रसजीवोंकी राशि उत्पन्न होती है और खाने में हिंसा होती है। (७) बड़ (८) पीपल (९) ऊमर (१०) कठूमर (११) पाकर—इनके दोष पंच उदुम्बरमें कह ही चुके हैं। (१२) अजानफल --हिंसा तथा रोग के कारण और कभी-कभी प्राणोंके घातक भी होते हैं। (१३) कन्दमूल—अनन्त जीवोंकी राशि हैं। (१४) खानि की, खेत की मिट्टी—असंख्य त्रसजीवों की राशि है। (१५) विष—प्राणघातक है। (१६) आमिष (माँस) (१७) मधु (१८) मक्खन (१९) मदिरापान इनके दोष तीन मकारमें कह ही चुके हैं। (२०) अतितुच्छ फल —सप्रतिष्ठित बनस्पति

---

१. जिसके दो फाड़ (दाल) होते हैं, ऐसे अन्नादिक पदार्थ, कच्चा गोरस (दूध-दही-छाछ) और लार मिलनेसे असंख्य त्रसजीवोंकी उत्पत्ति होती और खाने से हिंसा होती है (कि० क्रि० को०)।। द्विदल शब्द का अभिप्राय पं० आशाधरजी ने चना, मूंगादि द्विदल अन्नमात्र लिया है और पं० किशनसिंहजी ने चारोली, बादामादि काष्ठ द्विदल तथा तरोई, भिण्डी आदि हरी द्विदल भी लिया है। अतएव हमारे लिए दोनों प्रमाण हैं। जिससे जितना सधे, उतना साधे परन्तु श्रद्धान ठीक रक्खे।

अनन्त जीवों की राशि होती है। (२१) तुषार (बर्फ)—असंख्य त्रसजीवों की राशि होती है। (२२) चलितरस—जिन वस्तुओं का स्वाद बिगड़ गया हो या जो शास्त्रोक्त मर्यादा से अधिक काल की हो गई हों, उनमें त्रसजीवों की उत्पत्ति हो जाती है इससे उनके खाने में विशेष हिंसा तथा अष्टमूलगुणों में दोष आता है, इसके सिवाय अनेक रोग भी उत्पन्न होते हैं जिससे धर्मसाधन में बाधा आती है।

खान-पान के पदार्थों की मर्यादा—आटा, बेसन आदि चून की मर्यादा बरसात में ३ दिन की, गर्मी में ५ दिनकी और शीतऋतु में ७ दिन की होती है। हरएक ऋतु सामान्यतः अठाईसे बदली मानी जाती है। छने हुए पानी की मर्यादा १ मुहूर्त अर्थात २ घड़ी की। लवंगादि तिक्त द्रव्यों द्वारा स्पर्श, रस, गन्ध, बदले हुए जलकी मर्यादा दो पहर की। अधन सरीखा उष्णजल न होकर साधारण गरम जल की मर्यादा ४ पहर की। अधन सरीखे गर्म हुए जल की मर्यादा ८ पहर की है। दूध दुहकर, छानकर दो घड़ी के पहले-पहले गर्म कर लेने से उसकी मर्यादा ८ प्रहर की है। (कोई कोई कहते हैं कि दूध ४ प्रहर में ही बिगड़ जाता है। अतएव बिगड़ जाय तो मर्यादा के भीतर भी नहीं खाय) यदि दूध गर्म नहीं करे, तो दो घड़ी के पीछे उसमें, जिस पशु का वह दूध हो, उसी जाति के सम्मूर्छन असंख्य जीव उत्पन्न हो जाते हैं। गर्म दूध में जामन देने पर दहीकी मर्यादा ८ प्रहर तक है। बिलोते समय यदि छाछ में पानी डाला जाय तो उसकी मर्यादा उसी दिनभर की है, यदि बिलोये पीछे मिलाया जाय तो उस छाछकी मर्यादा केवल १ मुहूर्त की है (क्रि० को०)। बूरेकी मर्यादा शीत में १ माह गर्मी में १५ दिन और बरसात में ७ दिन की। घी, गुड़, तेल आदि की मर्यादा स्वाद न बिगड़ने तक। खिचड़ी, कढ़ी, तरकारी की मर्यादा दो प्रहर की। पूआ, शीरा, रोटी आदि जिनमें पानी का अधिक अंश रहता है उनकी मर्यादा ४ प्रहर की। पुड़ी, पपड़िया, खाजा, लड्डू, घेवर आदि जिनमें पानी का किंचित अंश रहता है उनकी मर्यादा ८ प्रहर की। जिस भोजनमें पानी न पड़ा हो, जैसे मगद, इसकी मर्यादा आटे के बराबर। पिसे हुए मसाले, हल्दी, धनिये आदि की मर्यादा आटे के बराबर। बूरा, मिश्री, खारक, दाख आदि मिष्ठद्रव्यसे मिले हुए दही की मर्यादा दो घड़ी की। गुड़के साथ दही या छाछ मिलाकर खाना अभक्ष्य है।

दार्शनिकश्रावक-सम्बन्धी विशेष बातें—(१) सम्यक्त्वको २५ दोष तथा

पंच अतीचार टाल निर्मल करे[1] (२) पंच परमेष्ठी को टाल जिनमतके शासनदेव तथा अन्य मिथ्यादृष्टि देवों को मनमें भी न लावे (३) शुद्ध व्यवहारका धारी हो (४) जिस रीतिसे धर्म-कर्ममें हानि आती हो, उस तरहसे धनसंग्रह न करे (५) मद्य, मांस, मधुके वा और भी अनेक प्रकार अधिक हिंसा वा तृष्णा के आरम्भ वा व्यापार न करे (६) प्रशम, संवेग, अनुकम्पा, आस्तिक्य गुणयुक्त होकर मैत्री, प्रमोद, कारुण्य, माध्यस्थ्य भावना सदा भावे अर्थात वैराग्यभाव युक्त हो और तदनुसार ही आचरण करे (७) कुटुम्बी, स्त्री-पुत्रादि को धर्ममें लगावे।

दर्शनप्रतिमा धारण से लाभ- दर्शन प्रतिमाके पालन करनेसे मिथ्यात्व, अन्याय, अभक्ष्यका सर्वथा अभाव होकर धर्मकी निकटता अर्थात व्रत धारण करनेकी शक्ति तथा पात्रता होती है। दार्शनिक श्रावक ही यथार्थ में यज्ञोपवीत धारण करने का अधिकारी है। यज्ञोपवीत द्विजवर्ण का द्योतक है। लोकमें उत्तम व्यवहारपना प्रगट होनेसे धन-यशादिककी प्राप्ति होती है। धर्मकी ऐसी नींव जम जाती है कि जिससे सांसारिक उच्च पदवियाँ पाते हुए अन्त में मोक्षपदकी प्राप्ति होती है। जैसे शरीर में सिर, महलमें नींव मुख्य है उसी प्रकार चरित्रका मूल दर्शन प्रतिमा है।

द्वितीय व्रत-प्रतिमा

दर्शनप्रतिमामें अन्याय, अभक्ष्य-जनित स्थूल-हिंसाके कारणोंको सर्वथा त्यागकर आरम्भ सम्बन्धी मोटे-मोटे हिंसादि पापोंके त्यागका क्रमरहित अभ्यास करता हुआ दार्शनिक श्रावक, व्रत धारण करने की इच्छा करता है।

जो अखण्ड सम्यग्दर्शन और अष्ट मूलगुणोंका धारक, माया-मिथ्या-निदान शल्यत्रयरहित, राग-द्वेषके अभाव और साम्यभावकी प्राप्तिके लिए

१. यहाँ कोई सन्देह करे कि क्षयोपशमसम्यक्त्वी दार्शनिकके सम्यक्त्व प्रकृति मोहनीयके उदयसे चल-मल अगाढ़रूप दोष लगते है, फिर यहाँ सर्वथा अतीचारों का टलना कैसे संभव है? उसका समाधान-क्षयोपशम सम्यक्त्वीके जो चल-मल अगाढ़रूप दोष उत्पन्न होते है वे सुगुरु, सुदेव, सुधर्मके विषयमें ही विकल्परूप होते हैं। जैसे शांतिनाथ स्वामी शांतिके कर्ता है, ऐसे विकल्प सम्यक्त्वमें दोष उत्पन्न करनेवाले अतीचाररूप नही है, ८ शंकादि दोष, ८ मद, ६ अनायतन ३ मूढ़ता ये २५ दोष सम्यक्त्व के घातक एव दूषित करने वाले हैं, सो ये दोष दर्शन प्रतिमा वाले को नही लगते।

अतीचाररहित उत्तरगुणोंको[1] धारण करे, सो व्रती श्रावक है।

यह बात जगतप्रसिद्ध है और धर्मशास्त्र भी ऐसा ही कहते हैं कि हिंसा समान पाप और अहिंसा समान पुण्य नहीं है। यद्यपि भेद-विवक्षासे अनेक प्रकारके पाप कहे जाते हैं, तो भी यथार्थमें सब पापोंका मूल एक हिंसा ही है, इसीके विशेष भेद झूठ, चोरी, व्यभिचार और अतितृष्णा हैं। इसी कारण आचार्यों ने शास्त्रों में जहाँ तहाँ इन पांचों पापों के निवारणका उपदेश किया है। श्रीउमास्वामीजी ने तत्वार्थसूत्र में इन पापोंके त्यागरूप पाँच ही व्रत कहकर उनके अणुव्रत, महाव्रत दो भेद किये हैं। पंच पापों का एकदेश त्याग अणुव्रत और सर्वदेश त्याग महाव्रत कहलाता है।

पंच पापोंका त्याग जब बुद्धिपूर्वक अर्थात भेदज्ञान (सम्यक्त्व) पूर्वक होता है तभी उसे व्रत संज्ञा होती है। इन व्रतों को अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावादि अंतरंग या बाह्य सामग्री की योग्यता देख धारण करके भले प्रकार निर्दोष पालना चाहिए। कदाचित किसी प्रबल कारणवश व्रत भंग हो जाय तो प्रायश्चित लेकर शीघ्र ही पुनः स्थापना करना उचित है।

गृहस्थ श्रावक प्रत्याख्यानावरण कषायके क्षयोपशमके अनुसार अणुव्रत धारण कर सकता है। इसके महाव्रत धारण करनेके योग्य कषाय नहीं घटी, इससे सर्वथा आरम्भ, विषयकषाय त्यागने को असमर्थ है।

व्रत प्रतिमामें पंचाणुव्रत तो निरतिचार पलते हैं (रत्नकरंडश्रावकाचार और सुभाषित रत्न संदोह का श्रावक धर्म) शेष तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत (ये सप्तशील) बाडिकी नाँई व्रतरूप क्षेत्रकी रक्षा करते हैं। इनमें तीन गुणव्रत तो उपर्युक्त पंच अणुव्रतों में गुण की वृद्धि करते और चार शिक्षाव्रत इन्हें महाव्रतोंकी हद्द तक पहुँचाते हैं। यद्यपि व्रती जहाँतक संभव हो इनको भी दोषों से बचाता है, तथापि ये सप्तशील व्रतप्रतिमा में निरतिचार[2] नहीं होते। ये पंचाणुव्रत, ३ गुणव्रत

---

१. दर्शन प्रतिमामें कहे हुए त्याग श्रावकके मूलगुण है और व्रतप्रतिमा में कहे हुए उत्तरगुण हैं।

२. यहां कोई शंका करे कि व्रतप्रतिमामें ही ये १२ व्रत एक साथ निरतिचार होने चाहिए क्योंकि १२ व्रतोंके अतीचारोंका वर्णन तत्वार्थसूत्रमें एक ही जगह व्रतोंके प्रकरणमें किया है। उसका समाधान—एक ही स्थान पर वर्णन करना तो प्रकरणके वश होता है यहाँ केवल वस्तुस्वरूप बताना था, प्रतिमाओंका वर्णन नही करना था, इसलिए जहाँ प्रकरण आया सबका एक साथ वर्णन कर दिया।

४ शिक्षाव्रत मिलकर १२ व्रत कहलाते हैं। उनके नाम तत्वार्थसूत्रानुसार— पंच अणुव्रत— हिंसा, झूठ, चोरीका एक देशत्याग, परस्त्रीका त्याग और परिग्रहप्रमाण। तीन गुणव्रत—दिग्विरति, देशविरति, अनर्थदंडविरति। चार शिक्षाव्रत–सामायिक, प्रोषधोपवास, भोगोपभोगपरिमाण, अतिथिसंविभाग।

तीन शल्योंका वर्णन—व्रतोंको धारण करनेवाला पुरुष मिथ्या, माया, निदान इन तीनों शल्यरहित होना चाहिये।

(१) **मिथ्या शल्य**—जो धर्मस्वरूपका ज्ञाता नहीं, अर्थात् संसार और संसारके कारणों तथा मोक्ष और मोक्षके कारणों को नहीं जानता अथवा विपरीत जानता या सन्देहयुक्त जानता है, इनपर जिसका दृढ़ विश्वास नहीं है और न व्रत धारण करनेका अभिप्राय समझता है, ऐसा मिथ्यात्वी पुरुष दूसरोंकी देखा-देखी या और किसी अभिप्रायके वश व्रतोंका पालन करने वाला अव्रती ही है। जो पुरुष तत्त्वश्रद्धानी होकर आत्मकल्याण के अभिप्रायसे व्रत धारण करता है, वही मोक्षमार्गी, पापोंका त्यागी सच्चा व्रती कहलाता है।

(२) **माया शल्य**—जिसके मनके विचार और, वचन की प्रवृत्ति और, कायकी चेष्टा और हो, ऐसे पापोंको गुप्त रखनेवाले, मायाचारी

दूसरे यदि बारहो व्रत दूसरी प्रतिमामें ही निरतिचार हो जावें, तो आगेकी सामायिकादि प्रतिमा व्यर्थ ठहरें, क्योंकि तीसरी से ग्यारहवी प्रतिमा तक इन सप्तशीलोंके निरतिचार पालने का ही उपदेश है। यही बात सर्वार्थसिद्धि तथा स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा में भाषा टीकाकार पं० जयचन्द जी ने कही है। यथा व्रतप्रतिमामें पंचाणुव्रत निरतिचार होते हैं। तीसरी में सामायिक और चौथीमे प्रोषधोपवास निरतिचार होते है। पाँचवीमें भोगोपभोग के अतीचार दूर होते और ग्यारहवीं तक क्रमशः भोगोपभोग घटाकर त्याग कर दिये जाते हैं। अष्टमी में आरम्भका सर्वथा त्याग होने से पंचाणुव्रत की पूरी पूरी दृढ़ता पहुंचती तथा दिग्विरति, देशविरति निरतिचार पलता है। नवमीमें परिग्रहत्याग होनेसे अतिथिसंविभाग निरतिचार पलता है। दशवीं-अनुमतित्यागमें अनर्थदण्ड-व्रत निरतिचार हो जाता है। इस तरह सातों शील निरतिचार होने से अणुव्रत महाव्रतकी परिणतिको पहुंच जाते है। सिवाय इनके वसुनन्दिश्रावकाचार में भोगप्रमाण, उपभोगप्रमाण, अतिथिसंविभाग, सल्लेखना ऐसे चार शिक्षाव्रत कहे हैं, सामायिक, प्रोषधोपवासको व्रतों में न कहकर प्रतिमा ही कहा है, ऐसी दशा में १२ व्रतोंका निरतिचार पलना कैसे सम्भव हो सकता है।

पुरुषका दूसरों को दिखानेके लिए अथवा मान-बड़ाई, लोभादिके अभिप्रायसे व्रत धारण करना निष्फल है। वह ऊपरसे (दिखाऊ) व्रती है, परन्तु अंतरंग में उसे पापसे घृणा नहीं। इस कारण ठगवृत्ति होनेसे उसे उलटा पापका बंध होता है तथा तिर्यंचादि-नीचगतिकी प्राप्ति होती है।

(३) **निदानशल्य**—जो पुरुष आगामी सांसारिक विषय भोगोंकी वांछाके अभिप्रायसे व्रत धारण करता है, सो यथार्थमें व्रती नहीं है। क्योंकि व्रत धारण करनेका प्रयोजन तो सांसारिक विषय-भोगों अथवा आरम्भ-परिग्रहोंसे विरक्त होकर आत्म-स्वरूपमें उपयोग स्थिर करनेका है, परन्तु निदान-बंध करनेवाला उल्टा पापोंके मूल विषय-भोगोंकी तीव्र इच्छा करके उनकी पूर्ति के लिए ही व्रत धारण करता है। अतएव ऐसे पुरुषके बाह्य व्रत होते हुए भी अंतरंग तीव्र लोककषाय होने के कारण पाप ही का बंध होता है। यथार्थमें उपर्युक्त तीन शल्योंके त्याग होनेपर ही व्रत धारण हो सकते हैं, अन्यथा नहीं।

दशलक्षण धर्म : नीचे लिखे दश धर्म आत्मा के स्वभाव हैं। इन लक्षणों से आत्मा के स्वभाव की पहिचान होती है। प्रत्येक धर्म में जो उत्तम विशेषण लगा हुआ है वह ख्याति, लाभ, पूजा आदि प्राप्ति की इच्छानिवृत्ति के हेतु है अथवा (सम्यग्ज्ञानपूर्वक) होने के लिए है। (१) **उत्तम क्षमा** : सम्यग्ज्ञानपूर्वक दूसरों के अपराध को अपने तई दंड देने की शक्ति होते हुए भी क्षमा करना, क्रोधित न होना। (२) **उत्तममार्दव** : सम्यग्ज्ञान पूर्वक अपने तंई ज्ञान, धन, बल, ऐश्वर्यादि अभिमान के कारण होते हुए भी अभिमान न करना, विनयरूप रहना। (३) **उत्तम आर्जव** : सम्यग्ज्ञानपूर्वक मन-वचन-काय की कुटिलता को त्यागना सरलरूप रहना। (४) **उत्तम सत्य** : पदार्थों का स्वरूप ज्यों का त्यों जानना तथा सम्यक्ज्ञानपूर्वक पदार्थों का स्वरूप ज्यों का त्यों वर्णन करना और प्रशस्त वार्तालाप करना अर्थात् धर्मानुकूल वचन बोलना, धर्म को हानि या कलंक लगाने वाला वचन न बोलना। (५) **उत्तम शौच** : सम्यग्ज्ञान पूर्वक आत्मा को कषायों द्वारा मलिन न होने देना, सदा निर्मल रखना तथा लोभ को त्यागना और सन्तोषरूप रहना। (६) **उत्तम संयम** : सम्यग्ज्ञान पूर्वक इन्द्रियों और मन को विषयों से रोकना और षट् काय के जीवों की रक्षा करना। (७) **उत्तम तप** : सांसारिक विषयों में इच्छारहित होकर अनशन (उपवास), ऊनोदर (अल्पआहार), वृतिपरिसंख्यान (अटपटी आखड़ी लेना), रसपरि-

त्याग (दूध, दही, नमक, तेल, घी, मिष्ट इन रसों में से एक दो आदि रसों का छोड़ना), विविक्तशय्यासन (एकान्त स्थान में सोना-बैठना), कायक्लेश (शरीर से उष्ण, शीतादि परीषह सहना) ये षट् बाह्य तप और प्रायश्चित, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग (शरीर से ममत्व छोड़ना) और ध्यान ये छह अंतरंग तप, ऐसे बारह प्रकार तप करना अर्थात् इनके द्वारा आत्मा को तपाकर निर्मल करना, कर्मरहित करना। (८) **उत्तम त्याग :** अपने न्यायपूर्वक उपार्जन किए हुए धन को मुनि-आर्यिका-श्रावक-श्राविका के निमित्त औषधिदान, शास्त्रदान, आहारदान और अभयदान में तथा उपकरणादि सप्त क्षेत्रों में[1] व्यय करना सो व्यवहारत्याग और राग-द्वेष को छोड़ना सो अंतरंग त्याग है। (९) **उत्तम आकिंचन्य :** बाह्य दश प्रकार (खेत, मकान, चाँदी, सोना, पशु, अनाज, दासी, दास, वस्त्र, बर्तन) और अंतरंग १४ प्रकार (क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, वेद, मिथ्यात्व, राग, द्वेष) परिग्रह से ममत्व का सर्वथा त्याग करना। (१०) **उत्तम ब्रह्मचर्य :** बाह्य-व्यवहार ब्रह्मचर्य तो स्त्री-विषय का त्याग और अंतरंग (निश्चय) ब्रह्मचर्य व्रत अपने आत्मस्वरूप में उपयोग को स्थिर करना है।

द्वादश अनुप्रेक्षा—जो वैराग्य उत्पन्न करने को माता-समान और बारम्बार चिंतवन करने योग्य हों, सो अनुप्रेक्षा या भावना कहलाती हैं, ये १२ हैं—(१) **अस्थिर भावना :** सांसारिक सर्व पदार्थों का संयोग, जो जीवन से हो रहा है उसे अस्थिर चिनवन करके उनसे रागभाव तजना। (२) **अशरण भावना :** जीव को इसके शुभाशुभ कर्म ही शरण अर्थात् सुख-दुःख देने वाले हैं, अथवा मोक्ष मार्ग के सहकारी निमित्त कारण पंच परमेष्ठी इसे शरण हैं अथवा यह आत्मा अपने को आप ही शरणरूप है अन्य किसी का शरण नहीं हैं। उदय में आये हुए कर्मों के रोकने में कोई समर्थ नहीं है। तथा मरणकाल में जीव को रोकने में कोई शरण नहीं है इस तरह निरन्तर चिंतवन करके अपने आत्महित में रुचि करना। (३) **संसार भावना :** यह संसार जन्म, जरा, मरणरूप है। इसमें कोई भी सुखी नहीं हैं। प्रत्येक जीव को कोई-न-कोई दुख लगा हुआ है। इस प्रकार संसार को दुख-स्वरूप चिंतवन

---

१. जहां जिन मंदिर न हो वहाँ जिनमंदिर बनवाना (२) जिनप्रतिमा विराजमान कराना (३) तीर्थयात्रा करना (४) शास्त्र लिखाकर दान करना (५) पूजन करना (६) प्रतिष्ठा करना (७) औषधि आहारादि चार प्रकार दान देना।

करके उसमें रुचि नहीं करना, विरक्तरूप रहना। (४) **एकत्व भावना :** यह जीव अकेला आप ही जन्म, जरा, मरण, सुख, दुख, संसार, मोक्ष भोगता है, दूसरा कोई भी इसका साथी नहीं है। ऐसा विचार कर किसी के आश्रय की इच्छा न करना, स्वयं आत्महित में पुरुषार्थ करना। (५) **अन्यत्व भावना :** इस आत्मा से अन्य सर्व पदार्थ वा जीव अलग हैं ऐसा चिंतवन करते हुए इनसे सम्बन्ध नहीं चाहना। (६) **अशुचित्व भावना :** यह शरीर हाड़, मांस, रक्त, कफ, मल, मूत्र आदि अपवित्र वस्तुओं का घर है ऐसा विचारते हुए इससे रागभाव घटाना और सदा आत्मा के शुद्ध करने का विचार करना। (७) **आस्रव भावना :** जब मन, वचन, कायरूप योगों की प्रवृत्ति कषायरूप होती है तब कर्मों का आस्रव होता है। और उससे कर्म बंध होकर जीव को सुख-दुख की प्राप्ति तथा सांसारिक चतुर्गति का भ्रमण होता है। इस तरह विचार करते हुए आस्रव के मुख्य कारण कषायों को रोकना चाहिए। (८) **संवर भावना :** कषायों की मन्दता तथा मन, वचन, काय योगों की निवृत्ति जितनी-जितनी होती जाती है उतना-उतना ही कर्मों का आस्रव होना भी घटता जाता है। इसी को संवर कहते हैं। संवर होने से कर्माश्रव रुक कर बंध का अभाव होता है। बंध के अभाव से संसार का अभाव और मोक्ष की प्राप्ति होती है ऐसा चिन्तवन करना। (९) **निर्जरा भावना :** शुभाशुभ कर्मों के उदयानुसार सुख-दुख की सामग्री के समागम होने पर समताभाव धारण करने से सत्तास्थित कर्मों का स्थिति-अनुभाग घटता है और बिना रस दिये ही कर्मवर्गणाएं, कर्मत्वशक्ति-रहित होकर निर्जरती हैं। इस प्रकार संवर पूर्वक एक देश (कुछ-कुछ कर्मका अभाव) निर्जरा और सर्वदेश (सम्पूर्ण) कर्म का अभाव मोक्ष कहलाता है। ऐसा चिंतवन करके निर्जरा के कारणभूत तपमें ख्याति, लाभ-पूजादिकी वांछारहित होकर प्रवृति करना चाहिए। (१०) **लोक भावना :** यह लोक ३४३ राजू घनाकार है, जिसके ऊर्ध्वलोक, मध्यलोक, अधोलोक तीन भेद हैं, जिसमें संसारी जीव अपने किए हुए शुभाशुभ कर्मों के वश चतुर्गति में भ्रमण कर रहे हैं, जीवों के सिवाय पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये पाँच द्रव्य और भी इस लोक में स्थित हैं, इन सब को अपनी आत्मा से अलग चिंतवन करके सबसे राग-द्वेष छोड़ आत्मस्वभाव में लीन होना ही जीव का मुख्य कर्तव्य है, ऐसा सोचना। (११) **बोधिदुर्लभ भावना :** अपनी वस्तु का पाना सुलभ तथा संभव है और पर वस्तु की प्राप्ति दुर्लभ तथा असंभव है। जो पर वस्तु की इच्छा करता है तथा प्राप्ति का उपाय

करता है वह बंध अवस्था को प्राप्त होकर दुखी होता है सो यह जीव इस संसार में अनादि काल से अपने आत्म-स्वरूप को भूलकर शरीर, स्त्री, पुत्र, धन, धान्यादि परवस्तुओं को अपनाता हुआ दुखी हो रहा है। परन्तु ये परपदार्थ कभी भी उसके नहीं हो सकते, क्योंकि निजात्मा के सिवाय अन्य सर्व पदार्थ इससे पृथक हैं। अतएव इन सर्व पदार्थों में अपनत्व छोड़ निजात्म-ज्ञान की प्राप्ति करना संभव, सुलभ और सुखदायी है। यद्यपि अनादि काल से कर्मों से आच्छादित होने के कारण आत्मज्ञान की प्राप्ति दुर्लभ हो रही है तथापि यह उत्तम मनुष्य पर्याय, उच्चकुल, दीर्घायु, इन्द्रियों की परिपूर्णता, आत्मज्ञान होने योग्य क्षयोपशम, पवित्र जिनधर्म की प्राप्ति, साधर्मियों का सत्संग आदि उत्तरोतर दुर्लभ समागम प्राप्त हुआ है। इसलिए जैसे बने तैसे आत्मज्ञान की उत्पत्ति में यत्न करना चाहिए, ऐसा चिंतवन करना। (१२) **धर्म भावना** : दशलक्षणरूप, दयारूप अथवा शुद्ध ज्ञान-दर्शन-चारित्र-रत्नत्रयरूप धर्म, जो जिनदेव ने कहा है उसकी प्राप्ति के बिना जीव अनादि काल से संसार में भ्रमण कर रहा है उसके प्राप्त होने से ही यह सांसारिक अभ्युदय को भोगता हुआ मोक्ष को प्राप्त हो सकता है, ऐसा चिंतवन करना। इस प्रकार चिंतवन करने से जीव का धर्म में सदा अनुराग रहता है।

बारह व्रतों का वर्णन—अब यहाँ पंचाणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रतों का विशेष वर्णन किया जाता है तथा हरएक व्रतके पाँच-पाँच अतीचार वा पाँच-पाँच भावनायें कही जाती हैं। ये भावनायें (जिनके चिंतवनसे व्रत दृढ़ होते और निर्दोष पलते हैं) सर्वदेश महाव्रतोंको और एकदेश अणुव्रतोंको लाभ पहुँचाती हैं। सूत्रकारोंने भी जहाँ व्रतोंके महाव्रत, अणुव्रत दो भेद बताये हैं, वहीं ये पाँच-पाँच भावनाएं भी कही हैं, इसलिये इन भावनाओंका देशव्रत, महाव्रत दोनोंसे यथासंभव सम्बन्ध जानना चाहिये।

१. **अहिंसाणुव्रत**—"प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा" प्रमत्तयोग अर्थात् कषायोंके वश होकर प्राणोंका नाश करना सो हिंसा है। मिथ्यात्व, असंयम, कषायरूप परिणाम होना सो भावहिंसा और इन्द्रिय, बल, श्वासोच्छ्वास, आयु प्राणोंका विध्वंस करना सो द्रव्यहिंसा है। जिस प्रकार जीवको स्वयं अपनी भावहिंसाके फलसे चतुर्गतिमें भ्रमण करते हुए नाना प्रकार दुःख भोगने पड़ते हैं और द्रव्यहिंसा (शरीरसे आत्माका बलात् वियोग अर्थात् मरण) होनेसे अति कष्ट सहन करना पड़ता है, उसी प्रकार

दूसरों के द्रव्य और भाव प्राणोंकी हिंसा करनेसे भी तीव्र कषाय और तीव्र वैर उत्पन्न होता है जिससे इसे जन्म-जन्मातरोंमें महान् दुःखकी प्राप्ति होती है।

जो जीव संसार-परिभ्रमणसे अपनी रक्षा करना चाहते हैं उन्हें सदा स्व-पर-दयापर दृष्टि रखना चाहिए। जो स्वदया पालन करते हैं उन्हींसे बहुधा नियमपूर्वक पर दया पालन हो सकती है। अतएव स्व-दयानिमित्त विषय-कषाय घटाना योग्य है और पर-दयानिमित्त किसी भी जीवको कषाय उत्पन्न करना या शारीरिक कष्ट देना कदाचित् योग्य नहीं।

जिस प्रकार झूठ, चोरी आदि सब पापोंमें हिंसा पाप शिरमौर और सबका मूल है उसी प्रकार सत्य, अचौर्यादि धर्मोंमें अहिंसा धर्म शिरमौर है। पापोंका सब परिवार हिंसा की पर्यायें और पुण्यका सब परिवार अहिंसाकी पर्यायें हैं।

जब आत्माको चैतन्यशक्तिकी अपेक्षा देखा जाता है तो एकेन्द्रियसे लेकर पंचेन्द्रिय पर्यंत वनस्पति, कीड़े, मकोड़े, पशु, पक्षी, देव, नारकी आदि सभी जीव चैतन्यशक्ति युक्त हैं, इस नातेसे छोटे-बड़े सब जीव आपसमें भाई-भाई हैं, ऐसी दशामें किसी भी जीवको वध करना भ्रातृवधके समान महापापबंधका कारण है। दूसरे अनादिकालसे संसार में भ्रमते हुए जीवों के अनेक बार आपसमें पिता, माता, भ्राता, पुत्र, स्त्री, बहिन, बेटी आदि के अनेक नाते हुए, इसलिये उनको कष्ट देना, उनका वध करना, धर्म-पद्धति एवं लोकपद्धतिसे सर्वथा विरुद्ध है। तीसरे, जब कोई अपना छोटासा भी शत्रु होता है (जिसका अपनने कभी थोड़ा सा बुरा किया हो) तो मन-में सदा उसकी तरफकी चिंता लगी रहती है। भला फिर जब सहस्रों जीवोंका नित्यप्रति चलते, उठते-बैठते विध्वंस किया जाय, बाधा पहुंचाई जाय तो उनसे शत्रुता उत्पन्न करके निश्चिन्ततापूर्वक धर्म-साधन करना कैसे संभव हो सकता है? कदापि नहीं। चौथे जिस जीवको दुःख दिया जाता व मारा जाता है वह नियम करके बदला लेनेको तत्पर होता है। उसमें बदला लेनेकी शक्तिहो व न हो, इसलिए जिन जीवोंको तुच्छ व निर्बल समझ-कर हिंसा की जाती है, वे जीव इस पर्यायमें व अन्य पर्यायमें अवश्य दुःख देंगे अथवा दूसरे जीवके वध करनेके लिए जो कषायरूप परिणाम होता है उससे जो पापकर्मका बन्ध होता है उसकी उदय अवस्था में अवश्यमेव दुःखके कारण उत्पन्न होंगे। इस प्रकार हिंसाको महापाप तथा जीवका परम दुःखदाई वैरी जान त्यागनेका दृढ़ संकल्प करना सो "अहिंसाणुव्रत" है।

बुद्धिमानोंको हिंस्य-हिंसक-हिंसा-हिंसाफलके स्वरूपको भलीभाँति जानकर विचारपूर्वक प्रवर्तना योग्य है, क्योंकि अन्तरंग कषायभावों और बाह्य प्राणवधके भेदसे हिंसाके अनेक भेद होते हैं। नीचे कुछ भेद लिखे जाते हैं, सभी में बहुधा प्रमत्तयोगकी मुख्यता रहती है, इसलिए प्रमत्तयोग होनेके निमित्त कारणोंको दूर करनेमें प्रयत्नशील होना धर्मप्रेमियोंका कर्तव्य है—

(१) सावधानीपूर्वक गमनादि क्रिया करते हुए कर्मयोग-से यदि कोई जीव पाँवतले आकर पीड़ित भी हो जाय, तो इस दशामें प्रमत्त-योगके अभावसे हिंसाका दोष नहीं लगता। यदि असावधानी रहे और कोई जीव न मरे तो भी प्रमत्तयोग होनेके कारण हिंसाकृत पाप लगता है।

(२) जिनके हिंसा-त्यागका नियम नहीं है उनके हिंसा न करते हुए भी तत्सम्बन्धी पापका आस्रव होता रहता है। नियम होनेपर फिर तत्सम्बन्धी आस्रव नहीं होता -

(३) कषायभावोंकी तीव्रता, मन्दता एवं वासनाके अनुसार किसी को तीव्र, किसीको मन्द, किसीको हिंसा करनेके पहिले किसीको करते समय और किसीको हिंसा कर चुकनेपर हिंसाका फल प्राप्त होता है।

(४) कभी-कभी ऐसा होता है कि एक पुरुष तो हिंसा करता और फल अनेक पुरुष भोगते हैं। जैसे किसीको फांसी लगते देख बहुत लोग कारित-अनुमोदन के दोषसे हिंसाके फलके भागी होते हैं।

(५) कभी-कभी ऐसा होता है कि हिंसा तो बहुत लोग करते हैं, परन्तु फलका भोक्ता एक ही होता है, जैसे, सेनाके लड़ते हुए संग्राम-सम्बन्धी पापका भागी राजा होता है।

(६) यदि कोई पुरुष ऐसा कहे कि मेरे अन्तरंग परिणाम शुद्ध हैं, इसलिए बाह्य आरम्भ हिंसा करते हुए, तथा परिग्रह रखते हुए भी मुझे कोई पाप नहीं लगता, सो ऐसा कहना ठीक नहीं। उसके परिणाम कदापि शुद्ध नहीं रह सकते, क्योंकि उसके ये सब कार्य बुद्धिपूर्वक पुरुषार्थ करनेसे ही हो रहे हैं।

(७) यदि कोई जीव किसीका भला कर रहा हो और कर्मयोगसे बुरा हो जाय, तो उसे पुण्यका ही फल होगा। इसी प्रकार यदि कोई जीव किसीकी बुराईका प्रयत्न कर रहा हो और कर्मयोगसे भला हो जाय, तो उसे पाप ही का फल लगेगा।

(८) कोई-कोई कहते हैं कि साग तथा अन्नके अनेक दानोंको भक्षण करने की अपेक्षा एक जीवका मांस-भक्षण करने में अल्प पाप है, क्योंकि जीव-जीव तो समान हैं, सो ये समझ ठीक नहीं। अन्तरंग ज्ञान-प्राण और बाह्य शारीरिक प्राणों के घातकी अपेक्षा एकेन्द्रीकी हिंसासे बेइन्द्रीकी हिंसामें असंख्यात गुणा पाप वा निर्दयता होती है। इसी प्रकार क्रमसे तेइन्द्री, चौइन्द्री, पंचेन्द्रीकी हिंसा में पाप वा निर्दयताकी अधिकता जानों, अतएव भक्षणकी अपेक्षा अन्न-साग मांसभक्षण में अनंतगुण पाप व निर्दयपना विशेष है।

(९) असह्य दुःखसे पीड़ित जीवको देख शीघ्र ही दुःख से छूट जाने का बहाना करके गोली, तलवार आदिसे उसे मार डालना अज्ञानता है, क्योंकि उस जीवके मार डालनेपर भी जिस पापके फलसे उसे तीव्र दुःख उत्पन्न हुआ है उस पापके फलसे उसे छुड़ाना किसीके आधीन नहीं है। वे दुःख उस जीवको इस पर्यायमें नहीं, तो अगली पर्यायमें भोगने ही पड़ेंगे। मारनेवाला अपनी अज्ञानतावश व्यर्थ ही हिंसाफलका भागी होता है, क्योंकि अति दुःखी होते हुए भी कोई जीव मरना नहीं चाहता, ऐसी हालतमें उसे मार डालना, प्राणघात करना है।

(१०) कई लोग ऐसी शंका करते हैं कि जैनधर्ममें भी तो मन्दिर बनवाना, प्रतिष्ठा करना आदि आरम्भ करनेका उपदेश है और इन कामोंमें हिंसाकृत पाप होता ही है फिर जैनी लोगोंका अहिंसा धर्म कैसा ? उसका समाधान—जैनी गृहस्थ लोग धर्मसाधनके अभिप्रायसे अर्थात् जहां १०-२० गृहस्थ-जैनियोंके घर हों और उनके धर्मसाधनके लिए धर्मसाधनके योग्य स्थान न हो, ऐसी जगह आवश्यकता जान धर्मबुद्धिसहित, ख्याति, लाभ, पूजाकी इच्छारहित, न्यायपूर्वक कमाये हुए द्रव्यसे ममत्व घटाकर यत्नाचारपूर्वक[1] मन्दिर बनवाते हैं। इसलिए शुभ परिणामोंके कारण उसमें महान पुण्यका बन्ध होता है, सावधानी रखते हुए भी किंचित् आरम्भिक हिंसाजनित अल्प पाप उस महान् पुण्यके सामने समुद्रमें विषकी कणिकाके समान कुछ भी विगाड़

१. पानी छानकर लगाना, गीला-चूना-मिट्टी आदि बहुत दिनोंतक नहीं पड़ा रहने देना, रात्रिके अंधेरेमें काम नहीं चलाना, जीवजन्तु बचाकर काम चलाना, सदा जीव रक्षा के परिणाम रखना, मजदूरोंकी मजदूरी बराबर देना आदि सब काम विवेकपूर्वक करना यत्नाचार कहलाता है। इसी तरह पूजा प्रतिष्ठादि सब कामोंमें यत्नाचार रखना चाहिए।

करनेको समर्थ नहीं हो सकता, क्योंकि जिनमन्दिर बनानेमें सांसारिक विषय-कषाय दूर करने तथा मोक्ष-प्राप्तिके कारण वीतरागता-विज्ञानताकी सामग्री मिलाई जानेसे पुण्य बहुत और यत्नाचारपूर्वक प्रवर्तनसे आरम्भिक हिंसा अल्प होती है। सिवाय इसके ऐसे महान् पुण्यके कार्यमें द्रव्य-व्यय करनेसे लोभ कषाय रूप अन्तरंग हिंसाका त्याग होता है, क्योंकि वह द्रव्य विषय-कषाय के कामों में न लगकर पापोंकी निवृत्ति और महान् सुकृतकी उत्पत्ति में लगता है। इसी कारण शास्त्रोंमें पुण्यबन्धकी करनेवाली पूजा-प्रतिष्ठादि, आरम्भ-जनित शुभ क्रियाएँ गृहस्थके लिए करनेका उपदेश है। हाँ जहाँ आवश्यकता न हो और केवल अपने नाम या मान बड़ाई आदिके अभिप्रायसे यत्नाचार रहित होकर मन्दिर बनाया जाय और उसमें धर्म-साधन न किया जाय, तो पाप बंधनका कारण हो सकता है।

(११) कोई-कोई लोग ऐसा कहते हैं कि धर्मके निमित्त की हुई हिंसा, पापका कारण नहीं, किन्तु पुण्यका कारण है सो उनका ऐसा कहना मिथ्या है। हिंसा तो त्रिलोक-त्रिकाल में पुण्य-रूप हो ही नहीं सकती, पाप-रूप ही है। यदि हिंसा ही पुण्यका कारण हो तो अहिंसा धर्म व्यर्थ ही ठहरे और देवी देवताओंके निमित्त वध करनेवाले ही पुण्यवान् ठहरें, सो जहाँ जीवोंको निर्दयतापूर्वक दुःख दिया जाता है वहां पुण्य होना कदापि सम्भव नहीं होता। हाँ! पुण्यके कार्योंमें यत्नाचारपूर्वक प्रवर्तते हुए भी जो अबुद्धि-पूर्वक अल्पहिंसा हो जाती है वह पुण्यकी अधिकताके कारण कुछ शुमार नहीं की जाती, तो भी बुरी है। हरएक कार्यमें कषायकी हीनता-अधिकता, परोपकार-परपीड़ा तथा दया-निर्दयताके अनुसार पुण्य-पापका बन्ध होता है।

इस प्रकार अनेक नयोंमे हिंसाकृतपापोंके भेदों को समझ कर त्याग करना सच्चा "अहिंसाव्रत" कहलाता है।

यद्यपि हिंसा सर्वथा त्यागने योग्य है, तथापि गृहस्थाश्रममें रहकर गृहसम्बधी षट्कर्मोंके किये बिना चल नहीं सकता। गृहस्थोंको चक्कीसे पीसना, उखलीमें कूटना, चूल्हा जलाना, बुहारना, पानी भरना तथा द्रव्यो-पार्जनके लिए धंधा करना ही पड़ता है, ऐसी दशामें स्थावरहिंसा तथा आरम्भ-सम्बन्धी त्रसहिंसाका त्याग उनके लिए अशक्यानुष्ठान है, वे इसके त्यागने को असमर्थ है, तो भी त्रसहिंसाकी बात तो दूर वे व्यर्थ स्थावरकायकी भी हिंसा नहीं करते। इसी कारण शास्त्रों में जहाँ-

तहाँ गृहस्थको स्थूलहिंसा अर्थात् संकल्पी-त्रसहिंसाका त्यागी अणुव्रती कहा है।

हिंसा[1] संकल्पी आरम्भी के भेदसे दो प्रकार की है जिसका स्वरूप नीचे कहा जाता है।

(१) **संकल्पीहिंसा** -किसी त्रसजीवको आप संकल्प करके मारना अर्थात् शरीराश्रित प्राणोंका घात करना, दूसरोंसे मरवाना अथवा जान-बूझकर मारनेका विचार करना, सो संकल्पी हिंसा कहलाती है।

(२) **आरम्भी हिंसा**—गृहसम्बन्धी पंचसून - चक्की-उखली आदि की क्रियाओं अथवा आजीविकाके धंधोंमें हिंसासे भयभीत होते हुए तथा सावधानी रखते हुए भी जो हिंसा हो जाय सो आरम्भी हिंसा कहलाती है।

व्रती श्रावक संकल्पी हिंसा कदाचित् भी नही करता, यहाँ तक कि संकल्प करके सिंह सर्पादि हिंसक-जीवोंको भी नहीं मारता, ऐसा सागार-धर्मामृतमें स्पष्ट कहा है। यद्यपि सकल्पी हिंसा दार्शनिक श्रावक भी नहीं करता तो भी अतीचार दोष लगनेके कारण उसे व्रत संज्ञा नहीं हो सकती। यहां अतीचारोंका भी नियमपूर्वक त्याग हो जाता है। प्रश्नोत्तर श्रावकाचार में भी कहा है "व्रत प्रतिमाधारी श्रावक शत्रु आदिको मूकी-लाठी आदिसे भी नही मारता है तो सिंह, शत्रु आदिको प्राणरहित कैसे करेगा ?" पुनः शास्त्रोंमें यह भी कहा है कि यदि कोई आरम्भमें यत्नाचारपूर्वक न प्रवर्ते, तो उसकी आरंभी हिंसा, संकल्पीके भावको प्राप्त होती है, अतएव गृहस्थको 'त्रसहिंसाको त्याग वृथा थावर न सँघारे' इस वाक्यके अनुसार चलना चाहिए अर्थात् संकल्पी त्रसहिंसा के त्यागके साथ-साथ व्यर्थ स्थावर-हिंसा भी न करना चाहिये।

अहिंसाणुव्रतके पंचातीचार (१) **बध**—किसीको लाठी, मूकी, कोड़ा,

[1] श्री सारचतुर्विंशतिका (मूल) मे हिंसाके संकल्पी और आरम्भीके सिवाय उद्यमी और विरोधी ये दो भेद और भी कहे है। (१) **उद्यमी**—आजीविका के धन्धोंमें यत्नाचारपूर्वक प्रवर्तते हुए अनिच्छापूर्वक जो हिंसा होती है। (२) **विरोधी** —राज्य कार्यादि में अनिच्छापूर्वक जो हिंसा होती है।

नोट —ये दोनों भेद आरम्भी हिंसा में गर्भित हो सकते हैं।

चाबुकसे मारना (यहां शिक्षाके अभिप्रायसे बालक तथा अपराधी पुरुष आदिको दंड देना गिनतीमें नहीं है)।

(२) **बंध**—इच्छित स्थानको जाते हुए किसी को छेड़ना, रोकना या रोककर बांधना, कैद करना (यहाँ पालतू गाय, भैंसादिको घरमें बाँधना गिनतीमें नहीं है; परन्तु इतना अवश्य है कि वे इस तरह न बांधें जावें, जिससे उन्हें किसी प्रकार की पीड़ा हो)।

(३) **छेद**— नाक फोड़ना, पाँव तोड़ना, अंगभंग करना, बैल बधिया करना (यहाँ बालकोंका कर्ण छेदन न लेना)।

(४) **अतिभारारोपण**—गाड़ी घोड़ा बैल आदिपर प्रमाणसे अधिक बोझा लादना।

(५) **अन्नपान निरोध**—खाने पीनेको समयानुसार न देना, भूखों प्यासों मारना।

इन पंच अतीचारोंके तजनेमें अहिंसा अणुव्रत निर्दोष पलता है। यदि अतीचार लगे तो व्रत सदोष हो जाता है अतएव अतीचार दोष न लगने देना चाहिये।

अहिंसाणुव्रत की पंच भावना[1] (१) **मनोगुप्ति**—मनमें अन्यायपूर्वक विषयभोगनेकी वांछा, दूसरोंका इष्टवियोग हानि, तिरस्कार चितवन आदि दुष्ट संकल्प-विकल्प न करना।

(२) **वचन गुप्ति**—हास्य, कलह, विवाद, अपवाद अभिमान तथा हिंसाके उत्पन्न करनेवाले वचन न बोलना।

(३) **ईर्यासमिति**—त्रसजीवोंकी विराधना रहित, हरित त्रण, कर्दमादिको छोड़ देख शोध, धीरतासे यत्नाचार पूर्वक गमन करना, चढ़ना,

---

१. बार-बार किसी बातके स्मरण करनेको, पुनरावृत्ति करने की भावना कहते है। भावनाओं के बार-बार चिन्तवन करनेसे परिणामोंमें निर्मलता, व्रतों में दृढ़ता होती है। अशुभध्यानका अभाव और शुभ भावों की वृद्धि होती है। श्रीतत्वार्थसूत्रजी मे पांचों व्रतोंकी पाँच-पाँच भावना सामान्यरूपसे कही गई है, उनको अणुव्रतोंमें एक देश और महाव्रतों मे सर्वदेश समझना चाहिये। यहां पर रत्नकरण्डश्रावकाचारके भाषा टीकाकार पं० सदासुखजी के कथनानुसार पंचाणुव्रतोंकी भावना कही गई हैं।

उतरना, उल्लंघन करना, जिससे आपको वा दूसरे जीवोंको बाधा तथा हानि न हो।

(४) **आदान-निक्षेपण-समिति** हरएक वस्तु, पात्र आदि यत्नसे उठाना, धरना जिससे अपनी वा परकी हानि न हो, आपको वा परको संक्लेश वा शारीरिक पीड़ा न हो।

(५) **आलोकित-पान भोजन**—अन्तरंगमें द्रव्य क्षेत्र काल-भावकी योग्यता-अयोग्यता देखकर और बाह्यमें दिवसमें, उद्योतमें, नेत्रोंसे भलीभाँति देख-शोध आहार करना, जल पीना।

इन पाँच भावनाओंका सदा ध्यान रखनेसे व्रतोंमें अधिकाधिक गुणोंकी प्राप्ति होती है। जैसे औषधिमें सोंठ या पानके रसकी भावना देनेसे तेजी बढ़ती है, वैसे ही भावनाओंके चिंतवन करनेसे व्रत निर्मल होता है और दोष नहीं लगने पाते।

जो लोग इस प्रकार भलीभाँति अहिंसाणुव्रतके स्वरूपको जान अंतरंग कषायभाव व बाह्य आरम्भी-त्रसहिंसा नहीं करते, वे ही सच्चे अहिंसाणुव्रतके पालक एवं स्थूल-हिंसाके त्यागी हैं।

२. **सत्याणुव्रत**—'प्रमत्तयोगादसदभिधानमनृतम' अर्थात् कषायभाव पूर्वक अयथार्थ भाषण करना असत्य कहलाता है। जैसे—होतेको अनहोता या भलेको बुरा कहना अथवा अनहोते को होता या बुरेको भला कहना, ये सब असत्य हैं। पुनः ऐसे सत्यवचन को भी असत्य जानना जिसके बोलनेसे दूसरोंका अपवाद, बिगाड़ या घात हो जाय, अथवा पंच पापमें प्रवृत्ति हो जाय; क्योंकि ऐसे भाषण करनेवालेके बचन सत्य होते हुए भी चित्तवृत्ति पापरूप ही रहती है। इसी प्रकार जिस वचनसे भलाई उत्पन्न हो, पापसे बचाव हो, वह वचन असत्य होते हुए भी बोलने वाले के शुभ विचारोंका द्योतक है इसलिए सत्य है। इस प्रकार सत्य-असत्यका स्वरूप भलीभाँति जान उपर्युक्त प्रकार स्थूल असत्यका त्याग करना सो सत्याणुव्रत कहलाता है।

हिंसाके समान असत्य भी बड़ा भारी पाप है, एक झूठके बोलनेपर उसकी पुष्टताके लिए सैकड़ों झूठे प्रमाण ढूढने पड़ते हैं, जिससे आकुलता-व्याकुलता बढ़कर स्वात्महिंसाके साथ कभी-कभी स्वशरीर घात करनेका कारण भी उपस्थित हो जाता है। असत्यवादी दूसरोंको मानसिक एवं

शारीरिक कष्ट तथा हानि पहुंचाकर पर द्रव्य-भाव-हिंसाका भी भागी होता है। जिस प्रकार अपनसे कोई झूठ बोले, धोखा दे तो अपने हृदयमें अति दुःख होता है, उसी प्रकार किसीसे आप झूठ बोलें या धोखादें, तो उसकोभी दुःख होना सम्भव है। अतएव असत्य भाषणमें हिंसाकृत दोष निश्चय करके इसे सर्वथा तजना योग्य है। असत्य-भाषणसे लोकमें निन्दा होना, राज्यसे दंड मिलना आदि अनेक दोष उत्पन्न होते और परलोकमें कुगति होती है। इसके विरुद्ध सत्यभाषणसे लोकमें प्रामाणिकता, यश, बड़प्पन तथा लाभ होता और परलोकमें स्वर्गादि सुखोंकी प्राप्ति होती है। असत्यके विशेष भेद यद्यपि अनेक है तथापि सामान्यतः ४ भेद हैं—

(१) द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसेहोती (छती) वस्तुको अनहोती कहना (२) द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे अनहोती वस्तु को होती कहना (३) कुछका कुछ कह देना (४) गर्हितवचन अर्थात् दुष्टताके वचन, चुगलीरूप वचन, हास्यरूप वचन, मिथ्या-श्रद्धानके वचन, कठोरवचन, शास्त्रविरुद्ध वचन, व्यर्थ बकवाद, विरोध बढ़ानेवाले वचन, पापरूप वचन, अप्रिय वचन कहना।

यद्यपि गृहस्थाश्रमी पुरुष भोगोपभोगके साधनमात्र सावद्यवचनके त्यागनेको असमर्थ है, तो भी यथासम्भव इसमें भी असत्य भाषणका प्रयोग नहीं करता, शेष सर्व प्रकारके असत्य का त्यागी होनेसे सत्याणुव्रती हो सकता है। हरएक मनुष्यको चाहिए, कि जिससे परजीवका घात हो, ऐसे हिंसक वचन न कहे। जो दूसरोंको कड़वे लगें अथवा क्रोध उपजावें, ऐसे कर्कश वचन न बोले। दूसरोंको उद्वेग, भय, शोक, कलह उत्पन्न करनेवाले निष्ठुर वचन न बोले। दूसरों के गुप्त भेद प्रकट करनेवाले अथवा जिससे किसीको हानि पहुंचनेकी सम्भावना हो, ऐसे वचन न बोले। सदा दूसरों के हितकारी, प्रमाणरूप, सन्तोष उपजानेवाले, धर्मको प्रकाशित करनेवाले वचन कहे।

अनृतवचनके सर्वथा त्यागी महामुनि तथा एकदेश-त्यागी श्रावक, अन्य श्रोतागणोंके प्रति बारम्बार हेयोपादेयका उपदेश करते हैं, इसलिए उनके पाप निषेधक वचन, पापी पुरुषोंको निष्ठुर और कटुक लगते हैं। तो भी प्रमत्तयोग के अभावसे उन वक्ताओंको असत्य भाषणका दूषण नहीं लगता, क्योंकि प्रमादयुक्त अयथार्थ भाषण असत्य कहलाता है।

सत्याणुव्रतके पंचातीचार—(१) **मिथ्योपदेश**—शास्त्रविरुद्ध उपदेश देना अर्थात् उपदेश तो सत्य हो परन्तु द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावके विरुद्ध हो, धर्मका बाधक हो।

(२) **रहस्याख्यान**—किसीकी गुप्त बात प्रकट करना अथवा स्त्री-पुरुषोंकी गुप्त चेष्टाको प्रगट करना।

(३) **कूटलेखक्रिया**—झूठी बातें लिखना या अन्य के नामसे उसकी आज्ञा बिना सत्य भी लिखना, झूठी गवाही देना।

(४) **न्यासापहार**—किसीकी धरोहर रखी हो और वह भूलकर कम रखी हुई वतावे या कम माँगे तो कम ही देना।

(५) **साकार मंत्रभेद** किसी के अभिप्राय को उसकी किसी चेष्टा द्वारा जानकर औरोंपर प्रकट करना।

बहुधा लोग इन पञ्च अतीचारोंमें कुछ भी दोष न समझकर और साधारण रीतिसे लौकिक पद्धति समझकर अतीचाररूप काम करते हैं, परन्तु ये कार्य सत्याणुव्रतको दूषित करने वाले हैं। इतना ही नहीं किन्तु इनके बार-बार वर्ताव करने से सत्याणुव्रत भंग हो जाता है। इसलिए इन दोषोंको बचाना चाहिये।

सत्याणुव्रतकी पंच भावना (१) **क्रोधत्याग**—क्रोध नहीं करना, यदि किसी बाह्य प्रबल कारण से क्रोध उत्पन्न हो जाय तो विवेकपूर्वक उसे दमन करना, मौन धारण करना।

(२)**लोभत्याग** - जिससे असत्यमें प्रवृत्ति होती हो, ऐसे लोभको छोड़ना।

(३) **भयत्याग**—जिससे धर्मविरुद्ध, लोकविरुद्ध वचन में प्रवृत्ति हो जाय, ऐसा धन बिगड़ने, शरीर बिगड़ने का भय नही करना।

(४) **हास्यत्याग**—किसी की हँसी मसखरी नही करना, हास्य-वचन नहीं कहना।

(५) **अनुवीचि भाषण**—जिन-सूत्रसे विरुद्ध वचन न बोलना।

इन पंच भावनाओंकी सदा स्मृति रखनेसे असत्य भाषण से रक्षा होती है और सत्याणुव्रत निर्मल होता है। इसलिये जो पुरुष सत्याणुव्रतको निर्दोष पालना चाहें, वे सदा इन पंच भावनाओंको भाते रहें, जिससे लोक-परलोकमें सुख के भागी हों।

३. **अचौर्याणुव्रत**—"प्रमत्तयोगाददत्तादानं स्तेयम्" कषायभावयुक्त होकर दूसरे की वस्तु उसके दिये बिना या आज्ञा बिना ले लेना चोरी कहलाती है। चोरीके सर्वथा त्यागसे अचौर्य महाव्रत और एकदेश (स्थूल) त्याग से अणुव्रत होता है। किसीके रक्खे हुए, गिरे हुए, भूले हुए तथा धरोहर रक्खे हुए द्रव्यको नहीं हरण करना और न उसके मालिककी आज्ञा बिना किसीको दे देना, इस प्रकार स्थूल चोरीका त्याग, सो अचौर्याणुव्रत कहलाता है।

संसारमें धन ग्यारहवां प्राण है, धन के लिये लोग अपने प्राणोंको भी सङ्कटमें डालते नहीं डरते। रण-संग्राम, समुद्र, नदी, पर्वत, गहन-वनादि में जहाँ प्राणोंके नाश की संभावना रहती है, वहां भी धनके लिए प्रवेश करते हैं। यदि चोर, ठगादि लूटनेको आवें, तो प्राण देना कबूल करते हैं, पर धन देना कबूल नहीं करते। इस प्रकार धन को प्राणोंसे भी अधिक प्यारा समझते हैं। इसलिये जो पराया धन हरण करता है वह आप पापबंध करके अपने आत्मीक ज्ञान-दर्शन प्राणोंका घात करता है। चोरीसे इस भवमें राजदण्ड, जातिदण्ड मिलता, निन्दा होती तथा परभव में नीच गतियोंके दुःख भोगने पड़ते हैं। ऐसा जानकर दृढ़-चित, शुद्ध-बुद्धि पुरुषों को उचित है कि दूसरे की भूली हुई अथवा मार्ग में पड़ी हुई वस्तु न लेवें। छल-छन्दसे किसीका द्रव्य न लेवें। अपने पास किसीकी धरोहर रक्खी हुई हो, उसे दबा लेनेकी इच्छा न करें। किसीकी बहुमूल्य वस्तु अल्पमूल्यमें न लेवें। क्रोध-मान-माया-लोभसे किसीका द्रव्य न लें और न लेनेवालेको भला कहें।

गृहस्थ जलाशयोंका जल तथा खानिकी मिट्टी या ऐसे फलादिक जो आम लोगोंके भोगोपभोगके लिये नियत किये गये हों, बिना दिये ले सकता है। तथा चारागाह जो आम लोगोंके निस्तारके लिये छोड़ दी गई हो, उसमें ढोर चरा सकता है। क्योंकि वह राजाकी तरफ से प्रजाके निस्तारके लिए नियत की गई है। इसमें विशेष बात यह है कि किसीके रखाए हुए, रोके हुए, ठेके पर दिए हुए जल, मिट्टी, फल, घास-फूल आदिको स्वामीकी आज्ञाके बिना लेनेसे चोरीका दोष लगता है। किसी पुरुषके मरनेपर उसके धनका अपनेतईं वारिस होना निश्चय होते हुए भी उस धनको उस पुरुषके जीते जी अपनाना या उसकी मरजीके बिना दूसरोंको दे देना, किसीकी पंचायती या मुकद्दमा सच्चा अथवा झूँठा फैसला करके रिश्वत लेना, किसी की बहुमूल्यकी वस्तु जानबूझकर कम मोल में ले लेना अपने धन-

वस्त्रादिमें ये हमारा है या नहीं ? ऐसा संशय होते हुए भी ले लेना ये सब चोरी ही की पर्यायें हैं, क्योंकि इन सबमें प्रमत्तभाव का सद्भाव है। अतएव प्रत्येक गृहस्थ को "जल-मृतिका बिन और नाहि कछु गहै अदत्ता" इस वाक्य के अनुसार अचौर्यव्रत पालन करना चाहिए।

अचौर्याणुव्रतके पंच अतिचार (१) **चौरप्रयोग** - चोरी के उपाय बताना कि चोरी अमुक-अमुक रीतिसे की जाती है या चोरी करनेवालोको सहायता देना।

(२) **चौरार्थादान**– चोरी किया हुआ पदार्थ ग्रहण करना, मोल लेना।

(३) **विरुद्धराज्यातिक्रम** - विरुद्धराज्यमें जाकर अन्यायपूर्वक लेन-देन करना, राज्यके कानूनको तोड़ना, राज्य का महसूल चुराना। पुनः रत्नकरण्डश्रावकाचारमें विलोप कहा है अर्थात् राज्य के नियमोंको तोड़ना तथा राज्याज्ञाके विरुद्ध काम करना।

(४) **हीनाधिकमानोन्मान**- नापने, तौलनेके गज, बांटादि कम-बढ़ रखना।

(५) **प्रतिरूपकव्यवहार**—बहुमूल्यकी चीजमें अल्पमूल्य की चीज मिलाकर बहुमूल्यके भावसे बेचना।

बहुधा अनसमझ व्यापारी लोग राज्यमें मालका महसूल नहीं चुकाते, बेचने-लेने में कम-बढ तोलते या दूध में पानी, घीमें तेल आदि खोटा खरा मिलाकर बेचते हैं, अथवा झूठे विज्ञापन (इश्तिहार) देकर लोगोंको ठगते, मालका नमूना कुछ और बताते और पीछे माल और कुछ देते हैं, इत्यादि अनेक कपट-चतुराई करते और इसे व्यापार-धन्धा समझते हैं। सो ये सब चोरीका ही रूपान्तर है। अतएव इन पाँच अतीचारोंको अचौर्याणुव्रतमें दोष उत्पन्न करनेवाले जान त्यागना योग्य है।

अचौर्याणुव्रत की पंचभावना (१) **शून्यागारवास**—व्यसनी, दुष्ट, तीव्र, कषायी कलह विसंवाद करनेवाले पुरुषोंसे रहित स्थानमें रहना।

(२) **विमोचितवास** - जिस मकानमें दूसरेका झगड़ा न हो, वहां निराकुलता पूर्वक रहना।

(३) **परोपरोधाकरण**—अन्यके स्थानमें बलपूर्वक प्रवेश नहीं करना।

(४) **भैक्ष्यशुद्धि**—अन्यायोपार्जित द्रव्य द्वारा प्राप्त किया हुआ तथा

अभक्ष्य भोजनका त्याग करना, अपने कर्मानुसार प्राप्त शुद्ध भोजनको लालसारहित, सन्तोषसहित ग्रहण करना।

(५) **सधर्माविसंवाद**—साधर्मी पुरुषोंसे कलह-विसंवाद नहीं करना।

इन पंच भावनाओंको सदा स्मरण रखकर अचौर्याणुव्रत दृढ़ रखना तथा और भी जिन कारणोंसे अचौर्यव्रत दृढ़ रहें, उन कारणोंको सदा मिलाते रहना चाहिए।

४. **ब्रह्मचर्याणुव्रत**—"प्रमत्तयोगान्मैथुनमब्रह्म" प्रमत्तयोग अर्थात् वेदकषाय जनित भावयुक्त स्त्री-पुरुषोंकी रमणक्रिया कुशील कहलाता है। इस कुशील के त्याग को ब्रह्मचर्यव्रत कहते हैं। यथार्थ में ब्रह्म जो आत्मा उसमें ही आत्माके उपयोग (चैतन्यभाव) की चर्या अर्थात् रमणक्रिया (गमनागमन) सच्चा ब्रह्मचर्य है। उस सच्चे ब्रह्मचर्य अर्थात् आत्मामें उपयोगके स्थिर होनेमें बाधक कारण मुख्यपने स्त्री है इसलिये जब सम्यग्ज्ञानपूर्वक स्त्रीसे विरक्त होकर कोई पुरुष मुनिव्रत धारण करता है तभी आत्मस्वरूपमें रमनेवाला साधु (आत्मस्वरूपका साधक) कहलाता है। इसी कारण स्त्रीका सर्वथा त्याग करना व्यवहार ब्रह्मचर्य कहा गया है। गृहस्थके इतनी अधिक वेदकषायकी मन्दता न होने से अर्थात् प्रत्याख्यानावरण कषायका उदय होने से वह सर्वथा स्त्री-त्याग करनेको असमर्थ है। ऐसी हालत में वेदकषाय सम्बन्धी वेदनाकी उपशांतिके लिए स्वदार-सन्तोष धारना अर्थात् देव-गुरु-शास्त्र एवं पंचोंकी साक्षीपूर्वक विवाही स्वस्त्री के सिवाय और सब पर-स्त्रियोंका त्याग करना ही गृहस्थ का ब्रह्मचर्य अणुव्रत है।

यद्यपि राजा, जाति, तथा कुटुम्बके भयसे अथवा द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावके अभावसे (योग्यता न मिलनेसे) लोकमें व्यभिचार रुका हुआ है अर्थात् इन कारणों से लोग व्यभिचार सेवन नहीं करते, तो भी वह कुशील-त्याग व्रत नहीं कहला सकता, क्योंकि इसमें प्रमत्तयोगका अभाव नहीं है। जब इन उपर्युक्त कारणोंके बिना सम्यग्ज्ञानपूर्वक कुशीलको धर्मका बाधक जान, पापके भयसे परस्त्रीको न तो आप सेवन करे, न दूसरोंको सेवन करावे और न परस्त्री-सेवीको भला समझे, केवल अपनी विवाही हुई स्त्रीमें ही सन्तोष धारण करे, तभी सच्चा स्वदार सन्तोषी एवं कुशीलत्यागी कहला सकता है। उसे उचित है कि अपनी स्त्री-सिवाय अन्य अपनेसे

छोटीको पुत्री समान, बराबर वालीको बहिन समान और बड़ीको माता समान जान कदापि विकार भाव न करे।

विचार करनेकी बात है कि जब कोई पुरुष किसीकी स्त्री, माँ, बहिन या बेटीकी तरफ कुदृष्टिसे देखता, हंसता या कुचेष्टा करता है तब उसके चित्तमें इतना असह्य क्रोध तथा दुःख उत्पन्न होता है कि वह दोषीको मारने-मरनेको तय्यार हो जाता है, यही बात हरएक पुरुष स्त्रीको ध्यानमें रखना चाहिए। व्यभिचार सेवन करनेसे स्व-पर-द्रव्य भाव-हिंसा होती तथा राजदंड, पंचदंडकी प्राप्ति होती है। प्रत्यक्ष ही देखो कि व्यभिचारके कारण सैकड़ों स्त्री पुरुषोंके प्राणाघात के मुकद्दमें सरकारी अदालतोंमें नित्यप्रति आते हैं। पुनः स्त्रीके योनि, कुच, नाभि, कांख आदि स्थानोंमें सन्मूर्छन, सैनी, पंचेन्द्रिय मनुष्य (जीव) सदा उत्पन्न होते रहते हैं इसलिए स्त्री सेवनसे उन प्राणियों का घात होता है। स्वस्त्री के कामके अंगोंके स्पर्श, रस. गंध, वर्णकी समानता होने से स्वस्त्री सेवन में कम हिंसा और परस्त्रीके स्पर्श, रस, गंध, वर्णकी असमानता होनेसे परस्त्री सेवनमें असंख्यात गुणी द्रव्य-हिंसा होती है। इसी प्रकार कामकी मूर्च्छा अर्थात् लम्पटभाव भी स्वस्त्री सम्बन्धमें बहुत कम और परस्त्री सम्बन्धमें बहुत (उत्कट) होनेसे अनन्तगुणी भाव-हिंसा होती है। इसी कारण परस्त्री की लुब्धता व्यसनों में और स्वस्त्री सेवन विषयों में कहा गया है। इस प्रकार यह कुशील हिंसाका परिवार एवं महापाप है। जैसे सप्त व्यसनोंका मूल जुआ है उसी प्रकार पंच पापोंका उत्पादक यह व्यभिचार है।

इस दोषसे बचनेके लिए अन्य स्त्री (वेश्या, दासी, परस्त्री, कुमारी आदि) सेवनका सर्वथा त्याग करना चाहिए, तभी परस्त्री त्याग अथवा स्वस्त्रीसंतोषव्रत पल सकता है। कोई कोई कहते हैं कि परस्त्रीका त्यागी वेश्यासेवन करे तो अतीचार दोष लगता है क्योंकि वेश्या परस्त्री नहीं है उसने किसीके साथ विवाह नहीं किया, सो ऐसा कहना महा अनर्थ एवं पापका कारण है। वेश्यासे बोलने, आने, जाने, देन-लेन रखनेसे ही शीलव्रतमें अतीचार दोष लगता है, उसका सेवन सप्त व्यसनका मूल, अनेक अनेक रोगों व आपदाओंका उत्पादक है। वेश्याको 'नगरनारि' कहा है। वह एक ही पर पुरुषकी स्त्री नहीं है किन्तु नगर-परनगर सभी स्थानोंके पुरुषोंके पैसेकी स्त्री है, इसी कारण वेश्यासेवनको पहले छोड़नेका आचार्योंने उपदेश दिया है, पीछे परस्त्री त्यागका। अतएव जिसने वेश्या-व्यसनका

त्याग किया हो, वही परस्त्री त्याग एवं स्वदार-सन्तोषव्रत धारण करनेका अधिकारी हो सकता है; क्योंकि लघुपाप त्याग महापाप सेवन करना सर्वथा कर्मविरुद्ध और अनुचित है। ऐसी विधिको निरूपण करना भी महापाप है।

ब्रह्मचर्य अणुव्रत धारक पुरुषको पूर्ण गर्भवती (जिसके ५ माहसे अधिकका गर्भ हो) प्रसूतवाली (जिस स्त्रीके बच्चा उत्पन्न हुए सूतकका काल डेढ़ माह पूर्ण न हुआ हो) रजस्वला, रोगिणी, बालिका, कुंआरी, अतिवृद्धा स्वस्त्री का भी सेवन न करना चाहिए। चैत्यालय, तीर्थ स्थान, पवित्र वा पूज्य क्षेत्र तथा अपवित्र स्थानमें स्वस्त्रीका भी सेवन न करना चाहिए। अष्टमी, चतुर्दशी, तीनों अष्टान्हिका, सोलह कारण, दशलक्षण, रत्नत्रयादि महापर्वो एवं शील संयम पालनेके समयोंमें, सहधर्मियों, राजाओं, महन्तपुरुषों एवं इष्ट पुरुषोंके मरण समय, इन कालोंमे भी स्वस्त्रीका सेवन नही करना चाहिये, क्योंकि इससे पापबंध होनेके सिवाय लोक-निन्दा तथा रोगोंकी उत्पत्ति होती है।

वैद्यक ग्रंथोंमें स्पष्ट लिखा है कि ऋतुधर्मके कालमें स्त्रीसेवन करने से स्त्री-पुरुष- दोनोंकी धातु-क्षीण, गर्मी, सुजाकादि रोग होना संभव हैं, यदि गर्भ रह जाय तो दुर्गुणी, अल्पायु सन्तान उत्पन्न होती है। शास्त्रोंमें ऋतुसमय स्त्रीसे संभाषण करने तकका निषेध है। उसे स्पर्श करने, उसके छूए हुए भोजन-पान करनेसे बुद्धि मन्द, मलीन और भ्रष्ट हो जाती है, फिर उसे सेवन करना हानिकारक क्यों न हो? इसी प्रकार अल्पवयस्क स्त्रीको सेवन करनेसे स्त्रीकी आदत बिगड़जाती और बहुधा व्यभिचारिणी हो जाती है। रोगिणी तथा अतिवृद्धा स्त्रीके सेवन से धातुक्षीण हो जाती है। स्वस्त्री में अतीव काम सेवन तथा अनंगक्रीड़ा करना प्रकट ही दुःखका कारण है, इससे इन्द्रियोंकी शिथिलता, स्वप्नदोष, पिंडलियोंमें शूल, शरीरकी अशक्तता, धातुविकार, प्रदर-रोग, रज दोष, सन्तानहीनता, वंध्यापना, नपुंसकता आदि दोष उत्पन्न होते हैं, ऐसा जान योग्य प्रवृत्ति करना ही श्रेष्ठ है।

इस व्रतके विषयमें पुरुषोंकी नाँई स्त्रियोंको भी स्वप्नमें पर पुरुषकी वांछा नहीं करना चाहिए। अपने विवाहित पति की, चाहे वह सुन्दर—सर्वगुणसम्पन्न हो, चाहे रोगी, वृद्ध, कुरूप, लूला, लंगड़ा कैसा भी क्यों न हो सेवा करना, उसकी आज्ञामें चलना और पतिव्रत-धर्मको निर्दोष पालना चाहिए। स्त्रियोंको किसी भी हालतमें कभी स्वच्छन्द (स्वतन्त्र) नहीं रहना

चाहिए, क्योंकि स्वेच्छाचार पूर्वक रहनेसे व्यभिचारादि अनेक दोषों एवं निन्दाओंका उत्पन्न होना संभव है। अतएव स्त्रियोंको बचपनमें माता-पिताके आधीन, विवाह होने पर पतिके आधीन, कदाचित् विधवा हो जाय तो पुत्रादि कुटुम्बी जनोंके आधीन रहना चाहिए। विधवाओंको ब्रह्मचर्यव्रत धारणपूर्वक आत्मकल्याणमें प्रवर्तना चाहिए अथवा उत्तम श्राविका या आर्यिकाकी दीक्षा लेकरसाधर्मी स्त्रियोंके संघमें रहकर गुरानी-की आज्ञापूर्वक प्रवर्तना चाहिए। ऐसी स्त्रियाँ देवों द्वारा स्तुतिपूजाको प्राप्त होती और मरण पश्चात् स्वर्गमें उत्तम महर्द्धिक देव होती हैं।

कुशीलत्याग अणुव्रतके पंचातिचार— (१) **परविवाहकरण**— अपने पुत्र-पुत्री सिवाय दूसरोंके पुत्र-पुत्रीकी शादीका मेल मिलाना, शादी करना।

(२) **इत्वरिका परिग्रहीतागमन**—व्यभिचारिणी स्त्री जिसका स्वामी हो, उसके घर आना-जाना या उससे बोलने उठने-बैठने, लेन-देनका बर्ताव करना।

(३) **इत्वरिका अपरिग्रहीतागमन**—स्वामीरहित व्यभिचारिणी स्त्रीके घर आना-जाना, या उससे बोलने, उठने, बैठने, लेन देनका बर्ताव करना।

(४) **अनंगक्रीडा**—कामसेवनके अंगोंको छोड़ अन्य अंगों द्वारा क्रीड़ा करना या अन्य क्रियाओं द्वारा कामकी शान्ति करना।

(५) **कामतीव्राभिनिवेश**--स्वस्त्रीमें भी कामसेवनकी अति लम्पटता रखना। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावके विचारे बिना काम-सेवन करना।

यहाँ जो ब्याही या बेब्याही परस्त्रीके प्रति गमन करना लिखा है, सो गमन शब्दका अर्थ उसके यहां जाना अथवा जघन, स्तन, दाँत आदि अंगोंका रुचिपूर्वक देखना, प्रेमपूर्वक वार्तालाप करना, हाथ, भौंह आदिकी चेष्टा करना आदि जानना। गमन शब्दका अर्थ सेवन नहीं है।

इन पंच अतीचारोंके लगने से ब्रह्मचर्य अणुव्रत मलीन होता है तथा बार-बार लगनेसे क्रमशः नष्ट हो जाता है। अतएव इन्हें त्याग निर्दोष ब्रह्मचर्य अणुव्रत पालन करना चाहिये।

ब्रह्मचर्याणुव्रतकी पंचभावना (१) **स्त्रीरागकथाश्रवणत्याग**--अन्यकी स्त्रियों में राग उत्पन्न करनेवाली कथा, वार्ता, गीत, सुनने-पढ़ने-कहनेका त्याग करना।

(२) **तन्मोहरांगनिरीक्षणत्याग**—अन्यकी स्त्रीके मनोहर अंगों को रागभावपूर्वक न देखना।

(३) **पूर्वरतानुस्मरण**—अणुव्रत धारणकरनेके पहिले अव्रत अवस्था में भोगे हुए भोगोंका स्मरण नहीं करना ।

(४) **वृष्येष्टरसत्याग**—कामोद्दीपक पुष्ट एवं भरपेट व रस-मात्रादिक भक्षण न करना ।

(५) **स्वशरीरसंस्कारत्याग** कामी पुरुषोंसरीखे कामोद्दीपन करने योग्य शरीरको नहाने, तेल, उबटनादि लगाने, वस्त्रादि पहिरने, शृंगार करनेका त्याग करना । सादा पहिनाव-उढ़ाव रखना ।

इन पंच भावनाओंके सदा चिंतवन करनेसे परस्त्रीत्याग एवं स्वदारसंतोष व्रत दृढ़ रहता है, इसलिये ब्रह्मचर्य अणुव्रतीको इन भावनाओंका सदा चिंतवन करना चाहिये ।

५. **परिग्रह-परिमाण अणुव्रत**—"प्रमत्तयोगान्मूर्छा परिग्रहः" आत्माके सिवाय जितनेमात्र रागद्वेषादि भावकर्म, ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म, औदारिकादि नो कर्म तथा शरीरसम्बन्धी स्त्री, पुत्र, धन, धान्य, गृह, क्षेत्र वस्त्र, बर्तन आदि चेतन-अचेतन पदार्थ हैं, सो सब पर हैं। इन्हें ग्रहण करना व इनसे ममत्वभाव रखना सो परिग्रह है। इस परिग्रहका आवश्यकतानुसार परिमाण करना सो परिग्रह परिमाण व इच्छा परिमाण अणुव्रत है ।

जीव अनादिकालसे मिथ्यात्वकर्मके उदयवश अपनी आत्माको और इन कर्म-नोकर्म, स्त्री-पुत्रादि परिग्रहोंको एक स्वरूप ही श्रद्धान कर रहा है । यद्यपि प्रत्यक्ष देखता है कि मरने पर स्त्री-पुत्र-धन-धान्यादि साथ नहीं जाते, यहाँतक कि आत्मासे एकक्षेत्रावगाह रहनेवाला यह नाशवान् शरीर भी यहीं पड़ा रह जाता है, भाव-कर्म, द्रव्य-कर्म भी आत्मासे भिन्न हैं; जबतक आत्मा भूलवश इनका कर्ता बनता है, तबतक चतुर्गति में भ्रमण करता हुआ नाना प्रकार दुःख भोगता है । यथार्थ में ये सब पदार्थ इस आत्माको स्वरूपसे च्युत करने वाले हैं । इसीलिए परोपकारी आचार्यों ने भली भांति समझा-समझाकर उपदेश दिया है कि "हे भव्यजीवो! तुम जिस परिग्रहको अपना कहते हो और जिसके लिए तुम धर्म-अधर्म करते कुछ भी नहीं डरते वह रञ्चमात्र भी तुम्हारे साथ जानेवाला नहीं ।" श्रीगुरुके ऐसे सदुपदेशको सुनकर जिन जीवोंका अच्छा होनहार है, वे भलीभाँति परीक्षापूर्वक उपर्युक्त बातों पर दृढ़ विश्वास (श्रद्धान) कर लेते हैं और चाहते हैं कि कब हम इन परवस्तुओंके मेल से रहित होकर

निश्शल्य (सुखी) होवें। ऐसा विचारकर जो उत्तम पुरुष मुनिव्रत धरनेको समर्थ हैं, वे इन परिग्रहोंको तृणवत् तुच्छ जान तजकर महाव्रती हो जाते हैं और जो पुरुष प्रत्याख्यानावरण कषायके उदयसे कीचड़ (दलदल में) फंसे हुए गजराजके समान इस परिग्रहके सर्वथा त्यागने को असमर्थ हैं, वे गृहस्थाश्रममें रहकर अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावकी योग्यतानुसार क्षेत्र, मकान (वास्तु), चाँदी, सोना, धन (पशु), धान्य (अनाज), दासी, दास, वस्त्र, वर्तन इन दस प्रकारके परिग्रहोंका प्रमाण कर लेते हैं। प्रगट रहे कि जितने अंशोंमें ममत्वबुद्धि (अन्तरंग परिग्रह) तथा धन, धान्यादि बाह्य-परिग्रह घटता है उतनी ही अधिक उपयोगकी स्थिरता आत्मस्वरूपमें होती है, जो पारमार्थिक रसास्वादका कारण है।

जो परिमाण वर्तमान परिग्रहको घटाकर किया जाय, वह उत्तम है। जो वर्तमान परिग्रहके बराबर ही परिमाण किया जाय वह मध्यम है तथा जो वर्तमान परिग्रहसे अधिक परिमाण किया जाय, वह जघन्य परिग्रहपरिमाणव्रत है। यद्यपि यह जघन्यभेद प्रशंसनीय नहीं है तथापि हद्द (सीमा) हो जानेसे यह भी अधिक तृष्णामें पड़ने से बचाता है। तृष्णा पंचपापकी उत्पादक, आकुलता-व्याकुलताकी जड़ महा दुखदाई है। अतएव तृष्णा घटाने और निश्शल्य होनेके लिए परिग्रह प्रमाण करनेसे बढ़कर और कोई दूसरा उपाय नहीं है, क्योंकि नीतिकारोंका वाक्य है—

दोहा

गोधन, गजधन, वाजिधन, और रतन धन खान।
जब आवत सन्तोष धन, सब धन धूलि समान ॥१॥
चाह घटी चिन्ता गई, मनुआ बे-परवाह।
जिनको कछू न चाहिए, ते शाहनपति शाह ॥२॥

यद्यपि अन्तरङ्ग मूर्छा घटानेके लिए बाह्यपरिग्रह घटाया जाता है तथापि बाह्यपरिग्रह घटानेपर भी जो मूर्छा न घटाई जाय तो प्रमत्तयोगके सद्भावसे यथार्थ परिग्रहपरिमाणव्रत नहीं हो सकता।

यहां कोई प्रश्न करे कि अर्हन्त परमेष्ठीके समवसरण, छत्र, चमरादि बहुतसी अलौकिक विभूति पाइये है, फिर उन्हें अपरिग्रही, वीतरागी कैसे माना जाय? उसका समाधान—तीर्थंकर भगवान गृहस्थपना छोड़, सम्पूर्ण परिग्रह त्याग, वीतरागी हो आत्मस्वरूप साध, परमात्मा अर्हन्त

हुए, तब उनकी पूर्वसंचित तीर्थंकर पुण्य-प्रकृतिके उदयवश यद्यपि इन्द्रादिक देवोंने समवसरण की रचना की, उनके छत्र, चमरादि मंगल द्रव्योंकी योजना की, तथापि मोहके सर्वथा अभावसे उनके उस विभूतिसे कुछ भी ममत्वबुद्धि (मूर्छा) नहीं है। पुनः उनकी वीतरागताका प्रत्यक्ष नमूना यह है कि वे समवसरणस्थित सिंहासनसे अन्तरिक्ष (चार अङ्गुल अधर) विराजमान रहते हैं। इस प्रकार अन्तरंग मूर्छा और बाह्य परिग्रह रहित होनेसे वे पूर्ण वीतरागी हैं।

परिग्रहपरिमाण अणुव्रत के पंचातीचार—तत्वार्थसूत्रजीमें कहा है कि क्षेत्रवस्तु आदि पांच युग्म अर्थात् दश प्रकारके परिग्रहोंका परिमाण बढ़ा लेना, अथवा कोईका परिमाण घटा लेना, कोईका परिमाण बढ़ा लेना।

रत्नकरण्डश्रावकाचारमें इस प्रकार भी कहा है—(१) प्रयोजनसे अधिक सवारी रखना, (२) आवश्यकीय वस्तुओं का अतिसंग्रह करना, (३) दूसरोंका विभव देख आश्चर्य अथवा इच्छा करना, (४) अति लोभ करना, (५) मर्यादासे अधिक बोझ लादना।

इन पंचातीचारोंसे परिग्रह परिमाण व्रत सदोष होता है। इसलिए व्रत निर्दोष पालने के निमित्त इन अतीचारोंको टालना चाहिए।

परिग्रहपरिमाण अणुव्रत की पंच भावना—बहुत पापबन्धके कारण अन्याय-अभक्ष्य रूप पांचों इन्द्रियोंके विषयोंका यावज्जीव त्याग करना। कर्मयोगसे मिले हुए मनोज्ञ विषयोंमें अतिराग व आशक्तता नहीं करना तथा अमनोज्ञ विषयोंमें द्वेष-घृणा नहीं करना।

इन भावनाओंके सदा स्मरण रखनेसे परिग्रहपरिमाण व्रतमें दोष लगने रूप प्रमाद उत्पन्न नहीं होने पाता तथा व्रतमें दृढ़ता रहती है।

सम्यक्त्वी गृहस्थ हिंसादि पंच पापोंको मोक्षमार्गके साधनोंका विरोधी एवं विघ्नकर्त्ता जानता है, परन्तु गृहस्थाश्रममें फंसे रहने के कारण विवश हो इनको सर्वथा त्याग नहीं सकता, केवल एकदेश त्याग कर सकता है। इस त्याग से लौकिक-पारलौकिक दोनों प्रकारके लाभ होते हैं।

सर्वजन ऐसे पुरुषको धर्मात्मा प्रामाणिक समझते, उसकी इज्जत करते, सर्वप्रकार सेवा सहायता करते और आज्ञा मानते हैं। उसका लोकमें यश होता है। न्याय प्रवृत्तिके कारण उसका धन्धा अच्छा चलता है, जिससे

धन सम्पदादि सुखोंकी प्राप्ति होती है। जितने कुछ राजसम्बन्धी, जाति-सम्बन्धी दण्ड तथा लौकिक अपवाद हैं, वे सब इन स्थूल पञ्च पापोंके लिए ही हैं, अतएव इनका त्यागी कदापि राज एवं पञ्चों द्वारा दण्डित तथा लोकनिंद्य नहीं हो सकता, ऐसे ही पञ्च पापके त्यागी (सच्चे ब्राह्मण) शास्त्रोंमें अदण्ड कहे गए हैं। शास्त्रोंसे विदित होता है कि पूर्व-कालमें आर्य नृपतियोंकी सभाओंमें मुकदमोंके फैसले होने की जगह पञ्च पाप निषेधके उपदेश दिये जाते थे। उस समयके प्रजारक्षक, राजहितैषी सर्व शुभेच्छु ऋषि, मुनि, त्यागी, ब्रह्मचारी, गृहस्थाचार्य एवं राजनीतिज्ञ पुरुष सर्व साधारणको इन दोषोंसे बचनेका उपदेश देकर राजा-प्रजाका हित करते थे। जहां तहां हरएक मतके देवालयों, मठों, धर्मशालाओं आदिमें भी इन दोषोंसे बचनेका उपदेश दिया जाता था, जिसकी थोड़ी-बहुत प्रथा अब भी अपभ्रंशरूपमें जीती-जागती दिखाई देती है। इसी कारण उस समय इन पञ्च पापोंकी प्रवृत्ति बहुत कम होती थी। उस समय झगड़ों का निपटारा करनेके लिए न्यायालय (अदालतों) की आवश्यकता ही नहीं पड़ती थी, जातीय पंचायतें स्वयं फैसला कर लेती थीं, राजा, राज प्रजा चैन करती थी।

पञ्च पापोंके स्थूल त्यागसे बहुतसी प्रमाद कषायजनित आकुलता-व्याकुलतायें घट जाती हैं, पाप-बन्ध नहीं होता और शुभ कार्यों में विशेष प्रवृत्ति होकर सातिशय पुण्य-बन्ध होता है जिससे आगामी स्वर्गादि सुखोंकी और परम्पराय शीघ्र ही मोक्षसुखकी प्राप्ति होती है।

सप्तशीलों का वर्णन—पहले कह ही आए हैं कि सप्तशीलोंमें तीन गुणव्रत तो अणुव्रतोंको दृढ़ करते, उनकी रक्षा करते और चार शिक्षाव्रत मुनिव्रतकी शिक्षा देते अर्थात् इन अणुव्रतों को महाव्रतोंकी सीमा तक पहुंचाते, उनसे सम्बन्ध कराते हैं।

सूत्रकारोंने दिग्व्रत, देशव्रत, अनर्थदण्डव्रत, इन तीनोंको गुणव्रतोंमें तथा सामयिक, प्रोषधोपवास, भोगोपभोगपरिमाण और अतिथिसंविभाग इन चारोंको शिक्षाव्रतों में कहा है। परन्तु श्रावकाचार ग्रन्थोंमें बहुधा भोगोपभोगपरिमाणको गुणव्रतों में और देशव्रत (देशावकाशिक) को शिक्षाव्रतोंमें कहा है। सो इसमें आचार्योंकी केवल कथनशैलीका भेद है, अभिप्राय-भेद नहीं, क्योंकि दिग्व्रत, अनर्थदण्डव्रत और भोगोपभोगपरिमाण

तो आरम्भिक पञ्च पापोंकी हद्द बांधते और देशविरति तथा अतिथि-संविभाग उस हद्दको घटाते (क्षीण करते) हैं। सामायिक प्रोषधोपवास कुछ काल तक उन स्थूल पापों से सर्वथा रक्षा करते हैं। चारित्रपाहुडकी टीकामें कहा है कि किसी-किसी आचार्यने दिग्व्रत, अनर्थदण्ड, भोगोपभोग-परिमाण ये तीन गुणव्रत, सामायिक, प्रोषधोपवास, अतिथिसंविभाग और समाधिमरण ये चार शिक्षाव्रत कहे हैं। सो ऐसा जान पड़ता है कि वहां दिग्व्रतमें देशविरतको गर्भित किया है अथवा भोगोपभोगपरिमाणके नियमोंमें नित्य परिमाण होनेसे देशविरत (देशावकाशिक) इसमें भी गर्भित हो सकता है। वसुनन्दिश्रावकाचार में सामायिक, प्रोषधोपवासको व्रतोंमें न कहकर अलग-अलग तीसरी चौथी प्रतिमामें ही कहा है और भोगप्रमाण, उपभोग प्रमाण, अतिथिसंविभाग, सल्लेखना ये चार शिक्षाव्रत कहे हैं। यहांपर श्रीरत्नकरण्डश्रावकाचारकी पद्धतिके अनुसार इनका वर्णन किया जाता है।

तीन गुणव्रत—१ दिग्व्रत पाप (सावद्य योग) की निवृत्तिके हेतु चार दिशा—पूर्व, दक्षिण, पश्चिम, उत्तर। ४ विदिशा—आग्नेय, नैऋत्य, वायव्य, ईशान। १ ऊपर। १ नीचे। इस प्रकार दशों दिशाओंका प्रमाण, वन, पर्वत, नगर, नदी, देश आदि चिन्हों द्वारा करके उसके बाहिर सांसारिक विषय-कषाय सम्बन्धी कार्योंके लिए न जानेकी यावज्जीव प्रतिज्ञा करना, सो दिग्व्रत कहलाता है।

प्रमाण अपनी योग्यता विचारकर करना चाहिये। इस बातका ध्यान रखना चाहिये कि निरर्थक ही आवश्यकतासे अधिक क्षेत्रका प्रमाण न कर लिया जाय। सिवाय इसके दिग्व्रती को यह भी उचित है कि जिस क्षेत्र (देश में) जानेसे श्रद्धान-ज्ञान-चारित्र दूषित या भंग होता हो, उस क्षेत्रमें भी जानेका त्याग करे।

दिग्व्रतके पंचातीचार (१) प्रमादवश मर्यादासे अधिक ऊंचा चढ़ जाना। (२) प्रमादवश मर्यादासे अधिक नीचे उतर जाना। (३) प्रमादवश समान-भूमिमें दिशा-विदिशाओंकी मर्यादाके बाहर चले जाना। (४) प्रमादवश क्षेत्रकी मर्यादा बढ़ा लेना। (५) प्रमादवश की हुई मर्यादा को भूल जाना।

दिग्व्रत धारणसे अणुव्रतीको यह बड़ा भारी लाभ होता है कि अपने

आने-जाने आदि बर्तावके क्षेत्रका जितना प्रमाण किया है, उससे बाहिर क्षेत्रकी तृष्णा घट जाती है, मनमें उस क्षेत्रसम्बन्धी किसी प्रकारके विकल्प भी उत्पन्न नहीं होते तथा उस त्यागे हुए क्षेत्र सम्बन्धी सर्वप्रकार त्रस-स्थावर हिंसाके आस्रवका अभाव होनेसे वह पुरुष उस क्षेत्रमें महाव्रतीके समान हो जाता है। (यहां महाव्रती उपचारसे जानना। इसके प्रत्याख्यानावरण कषायका उदय है, इसलिये यथार्थमें अणुव्रती ही है।)

२. **अनर्थदण्ड-त्याग व्रत**—दिशा-विदिशाओं की मर्यादापूर्वक जितने क्षेत्रका प्रमाण किया हो, उसमें भी प्रयोजन-रहित पापके कारणोंसे अथवा प्रयोजन-सहित महापाप के कारणोंसे (जिनसे धर्मकी हानि होती हो या जो धर्म-विरुद्ध लोकविरुद्ध जाति-विरुद्ध हों) विरक्त होना सो अनर्थदण्डत्यागव्रत है अथवा जिन कार्योंके करनेसे अपना प्रयोजन कुछ भी न सधता हो या अल्प सधता हो और जिनका दण्ड महान् हो अर्थात् नरकादि गतियोंमें दीर्घ दुःख भुगतना पड़े उन अनर्थदण्डरूप क्रियाओंका त्याग करना, सो अनर्थदण्डव्रत है। अनर्थदण्डके पांच भेद हैं--

(१) **पापोपदेश**—पापमें प्रवृत्ति करानेवाला तथा जीवों को क्लेश पहुंचानेवाला उपदेश देना या वाणिज्य, हिंसा, ठगाई आदिकी कथा (कहानी) कहना, जिससे दूसरोंकी पापमें प्रवृत्ति हो जाय। जैसे, किसीसे कहना कि धान्य खरीद लो, घोड़ा, गाड़ी, भैंस, ऊंट आदि रख लो, बाग लगाओ, खेती कराओ, नाव चलाओ, अग्नि लगादो आदि।

(२) **हिंसादान**—हिंसा के उपकरण कुल्हाड़ी, तलवार, खंता, अग्नि, हथियार, सांकल आदि दूसरों को मांगे देना[1], भाड़ेसे देना या दानमें देना तथा इनका व्यापार करना।

(३) **अपध्यान**—रागद्वेष से दूसरोंके वध, बंधन, हानि, नाश होने या करने सम्बन्धी खोटे विचार करना, परस्पर वैर याद करना आदि।

(४) **दुःश्रुति-श्रवण**— चित्तमें रागद्वेषके बढ़ानेवाले, क्लेश उत्पन्न करानेवाले, काम जाग्रत करानेवाले, मिथ्याभाव बढ़ानेवाले, आरम्भ परिग्रह

१. सागारधर्मामृतकी टीकामें "जिनसे व्यवहार हो उनके सिवाय किसी को न देना" ऐसा भी कहा है।

बढ़ानेवाले, पापमें प्रवृत्ति करानेवाले तथा क्रोधादि कषाय उत्पादक शास्त्रों, पुस्तकों, पत्रादिकोंका पठन-पाठन करना, सुनना अथवा इसी प्रकारके किस्से-कहानी कहना।

(५) **प्रमादचर्या**—बिना प्रयोजन फिरना, दूसरों को फिराना। पृथ्वी-पानी-अग्नि-वनस्पति आदिका निष्प्रयोजन छेदना, भेदना, घात करना आदि।

अनर्थदण्ड-त्याग व्रतके पंच अतीचार -(१) नीच पुरुषो सरीखे भंडवचन बोलना, कामके व हंसी-मसखरीके वचन कहना। (२) कार्य की भंडरूप खोटी चेष्टा करना, हाथ-पांव मटकाना, मुंह बनाना आदि। (३) व्यर्थ बकवाद करना या छोटी-सी बात बहुत आडम्बर बढ़ाकर कहना। (४) बिना विचारे, मन-वचन-कायकी प्रवृत्ति करना। (५) अनावश्यक भोगोपभोग सामग्री एकत्र करना या उसका व्यर्थ व्यवहार करना।

अनर्थदण्ड-विरतिमें दोष लगानेवाले इन पंच अतीचारोंको छोड़ना चाहिये, जिससे व्रत दूषित होकर नष्ट न होने पावे।

अनर्थदण्ड-त्याग करनेसे प्रयोजन-रहित अथवा अल्प प्रयोजन-सहित होनेवाले पापोंसे बचाव होता है।

३. **भोगोपभोग-परिमाण व्रत**—रागादि भावोको मंद करनेके लिये परिग्रह-परिमाण व्रतकी मर्यादामे भी कालके प्रमाणसे भोग-उपभोगका परिमाण करना, अधिक सेवनकी इच्छा न करना, सो भोगोपभोग-परिमाण व्रत है।

जो वस्तु एक बार भोगनेके बाद, फिर दुबारा भोगने योग्य न हो, उसे भोग कहते हैं। जैसे—भोजन, पान, सुगंध पुष्पादि।

जो वस्तु बार-बार भोगने योग्य हो, उसे उपभोग कहते हैं। जैसे—स्त्री, आसन, शय्या, वस्त्र, वाहन, मकानादि।

भोगोपभोगका परिमाण यम-नियम रूप दो प्रकारसे होता है। याव-ज्जीवन त्याग, यम और दिन, रात्रि, मास, ऋतु, वर्ष आदि कालकी मर्यादा रूप त्याग नियम कहलाता है।

भोगोपभोगपरिमाण व्रत धारण करने में नीचे लिखी बातोंपर ध्यान देना चाहिये—

(१) जिन वस्तुओंके भक्षण करनेमें त्रसजीवोंकी हिंसा की शंका हो या जिनके आश्रय त्रसजीव रहते हों, उनका भक्षण तजे। जैसे बेर, नीम-केवड़ा-केतकी-गुलाबादिके पुष्प तथा ऋतु बदलनेपर या वर्षाऋतुमें पत्तीदार भाजी न खावे।

(२) ऐसे भोगोपभोग तजे, जिनमें एकेन्द्रिय आदि जीवों की हिंसा अधिक और जिह्वाकी लंपटता अल्प हो। जैसे कन्दमूलादि सप्रतिष्ठित वनस्पतियोंका भक्षण।

यहां प्रकरणानुसार वनस्पति विषयक संक्षिप्त विवरण कहा जाता है--

वनस्पतिके सामान्य रीतिसे दो भेद हैं। साधारण और प्रत्येक। जिस एक वनस्पति शरीरके अनंत जीव स्वामी हों, वह साधारण वनस्पति कहाती है। जिस एक वनस्पति शरीरका एक ही जीव स्वामी हो, वह प्रत्येक वनस्पति कहाती है। इस प्रत्येकके दो भेद हैं।

(क) **अप्रतिष्ठित प्रत्येक**—जिस वनस्पति शरीरका एक स्वामी हो तथा जिसके आश्रय कोई भी निगोद शरीर न हो। इसकी पहिचान—जिसमें रेखा-गांठें संधियें प्रत्यक्ष दिखती हों, जिसमें तंतु हों, और जो तोड़नेपर समभंग न टूटे, टेढ़ी-बांकी टूटे।

(ख) **सप्रतिष्ठित प्रत्येक**—जिस वनस्पति शरीरका स्वामी एक जीव हो तथा अनंत साधारण निगोद जीव जिसके आश्रय रहते हों। इसकी पहिचान—जिनमें रेखायें, गांठें प्रगट न हुई हों और तोड़ने पर तन्तु न लगे रहें, जो समभंग टूटें।

फल, पुष्प, वृक्ष आदि उत्पत्ति समय अंतर्मुहूर्त तक निगोद रहित अप्रतिष्ठित ही रहते हैं। पीछे उनमें निगोद जीव उत्पन्न होने लगते हैं। जब तक उनमें घर-तंतु-शिरा-संधि स्पष्ट न हों या वे तोड़ने से बराबर टूटें, तब तक सप्रतिष्ठिन रहते हैं, जब ये लक्षण प्रगट हो जायं, तब उनमें के निगोद जीव निकल जानेसे वही अप्रतिष्ठित प्रत्येक हो जाते हैं।

इस प्रकार साधारण सहित प्रत्येक अर्थात् सप्रतिष्ठित प्रत्येकके[1] भक्षणमें जीवहिंसा बहुत होती है, तहां कंद-मूलादि वनस्पति तो प्रायः साधारण निगोद सहित सप्रतिष्ठित ही सदा रहती है।[2] काकड़ी, तोरई, नारंगी, नीबू आदि फलों, तरकारियों या पुष्पोंमें शिरा-तंतु आदि निकलनेपर वे अप्रतिष्ठित प्रत्येक हो जाते हैं। हां, यह बात दूसरी है कि इनमें किसीके आश्रय त्रस जीव रहते हों।

बहुतसे साधारण जैनी-गृहस्थ, आखड़ी रूपसे अथवा भोगोपभोग-प्रमाण व्रत धारक धार्मिक व्रती गृहस्थ, आरम्भ, हिंसा इन्द्रियोंके दर्प तथा मनके संकल्प-विकल्पोंके घटाने एवं जिह्वाइन्द्रियका विषय घटानेके लिये अठाई, दशलक्षण, रत्नत्रय, सोलह कारण, अष्टमी, चतुर्दशी आदि पवित्र दिनों (पर्वों) में हरी वनस्पतियां भक्षण करना छोड़ देते हैं। यदि कर्मयोगसे सूखी तरकारीकी प्राप्ति हो जाय, तो खाते हैं। उनको कोई भाई यह कहकर भ्रममें डालते हैं कि जब पंचमी प्रतिमावाला भी हरीको सिझाकर (अचित्त करके) खा सकता है, तो तुम हरी खाना क्यों त्यागते हो? सिझाकर तुम भी क्यों नहीं खाते? सो ऐसे भाइयों को विचारना चाहिये कि त्याग करनेवालोंने सचित्त-अचित्तके खयालसे (पांचवीं प्रतिमावालोंकी तरह) त्याग नहीं किया, हरीके खयालसे त्याग किया है, इसलिए वे हरीको सिझाकर या लवणादि मिलाकर नही खा सकते।

(३) प्रकृतिविरुद्ध भोगोपभोग तजे, अर्थात् जिन पदार्थों के भक्षण या उपभोग करनेसे अपनेको रोग तथा क्लेश होता हो, उनका सेवन छोड़े।

(४) अनुपसेव्य अर्थात् उत्तम जाति-कुल-धर्मके विरुद्ध भोगोपभोग छोड़े। जैसे शूद्रका छुआ हुआ तथा अशुद्ध स्थान में रक्खा हुआ भोजन। चौके बाहरकी रोटी, दालादि रसोई। कुत्ता-कौआ आदि क्रूर, हिंसक पक्षियोंका स्पर्शा या झूठा किया हुआ भोजन। मनुष्योंकी झूठन आदि। म्लेच्छों सरीखा पहिनाव-उढ़ाव, रहन-सहन आदि।

---

१. इस सप्रतिष्ठित प्रत्येकको अनन्त साधारण निगोद जीवोयुक्त होनेसे साधारण भी कहते हैं।

२. एक वृक्षमें वृक्षभरका स्वामी एक जीव तथा फूल, पत्ते, फलादिके स्वामी अलग-अलग जीव भी होते हैं।

(५) बुद्धिको विकाररूप एवं विपर्यय करनेवाली प्रमादजनक भांग-तमाखू-गांजा आदि नशीली वस्तुओंका भक्षण तजे।

(६) धर्म (चारित्र) को हानि पहुंचाने वाली विदेशी अज्ञात और अपवित्र औषधि आदि पदार्थोंका भक्षण तजे। इसी प्रकार अधिक हिंसाके धंधे, जिनमें निर्दयता अधिक और लाभ थोड़ा हो, करना तजे। अयोग्य भोगोपभोगोंको सर्वथा तजे तथा योग्य भोगोपभोगोंका परिमाण करे। इसके लिए आचार्योंने ग्रन्थोंमें नित्य १७ नियम करनेका उपदेश दिया है।

श्लोक

१ २ ३ ४
भोजने षट्रसे पाने कुंकुमादिविलेपने।
५ ६ ७ ८ ९
पुष्पताम्बूलगीतेषु, नृत्यादौ ब्रह्मचर्यके॥
१० ११ १२ १३ १४ १५
स्नानभूषणवस्त्रादौ वाहने शयनासने।
१६ १७
सचित्तवस्तुसंख्यादे प्रमाणं भज प्रत्यहं॥

अर्थ

(१) आज इतने वार भोजन करूंगा; (२) छह रसों (दूध, दही, घी, शक्कर-गुड़ आदि मीठा, लौन (नमक), तेलमें से इतने रस खाऊंगा; (३) शर्बत या जलपान इतने बार करूंगा; (४) चन्दन, केशर आदि का तिलक, तेल या कुंकमादिका विलेपन इतने बार करूंगा; (५) पुष्प इतने प्रकारके और इतनी बार सूघूंगा; (६) पान-सुपारी-इलायची आदि स्वाद्य पदार्थ इतने बार खाऊंगा; (७) गीत सुनूंगा या नहीं; (८) नृत्य देखूंगा या नहीं; (९) आज ब्रह्मचर्यसे रहूंगा या नहीं; (१०) आज इतने बार स्नान करूंगा; (११) आभूषण (जेवरात) इतने और अमुक-अमुक पहिनूंगा; (१२) वस्त्र इतने और अमुक-अमुक पहिनूंगा; (१३) गाड़ी-घोड़ा-तांगा, रेल, मोटर-बाइसकिल आदि अमुक-अमुक सवारी करूंगा; (१४) बिस्तर-पलंग आदि इतने और अमुक-अमुकपर शयन करूंगा; (१५) बेंच, कुरसी, आराम कुरसी, तखत, गादी आदि अमुक-अमुक और इतने आसनों पर बैठूंगा; (१६) सचित्त (हरी तरकारी) आज इतने खाऊंगा; (१७) अन्यान

वस्तुएं इतनी रक्खूंगा[1]।

इस प्रकार १७ नियम नित्य प्रातःकाल सामायिक किये पीछे ले—और पहिले दिन लिए हुओंको संभाले, यदि किसी में दोष लगा हो, तो उस का शोधन करे, प्रायश्चित्त ले।

भोगोपभोग-परिमाण व्रतके पंच अतीचार--(१) विषय-भोगोंमें प्रीति करना, हर्ष मानना। (२) पूर्वकाल में भोगे हुए भोगोंका स्मरण करना। (३) वर्तमान भोग भोगनेमें अति लम्पटता रखना। (४) भविष्यमें भोग प्राप्तिकी अति तृष्णा करना। (५) विषय न भोगनेपर भी विषय भोगने सरीखा अनुभव करना।

इन अतीचारोंके लगनेसे भोगोपभोग-परिमाण व्रत मलीन होकर क्रमशः नष्ट हो जाता है इसलिये ये अतीचार बचाना चाहिए।

भोगोपभोगों के यम-नियम रूप परिमाण करनेसे विषयोंकी अधिक लम्पटता तथा वांछा घट जाती है, जिससे चित्तकी चंचलता कम पड़ती और स्थिरता बढ़नेसे धर्मध्यान में चित्त अच्छी तरह लगता है।

चार शिक्षाव्रत--१ **देशावकाशिकव्रत** - दिग्व्रत द्वारा यावज्जीवन प्रमाण किये हुये क्षेत्रको कालके विभागसे घटा-घटा कर त्याग करना, सो देशव्रत कहाता है। जितने क्षेत्रका यावज्जीवके लिये प्रमाण किया है, उतने में नित्य गमनागमनका काम तो पड़ता ही नहीं, अतएव जितने क्षेत्रमें व्यवहार करने से अपना आवश्यकीय कार्य सधे, उतने क्षेत्रका प्रमाण दिन, दो दिन, सप्ताह, पक्ष, मासके लिए स्पष्ट रूपसे कर ले, शेषका त्याग करे, जिससे बाहरके क्षेत्रमें इच्छा का निरोध होकर द्रव्य-भाव हिंसासे रक्षा हो।

देशव्रतके पंचातीचार--(१) मर्यादाके क्षेत्रसे बाहर किसी मनुष्य या पदार्थको भेजना। (२) मर्यादासे बाहरके पुरुषको शब्द द्वारा सूचना देना। (३) मर्यादासे बाहरका माल मंगाना। (४) मर्यादासे बाहरके पुरुषको अपना रूप दिखाकर या इशारेसे सूचना देना। (५) मर्यादासे बाहरके पुरुषको कंकर, पत्थर आदि फेंककर चेतावनी कराना।

---

१. किसी-किसी ग्रन्थ में सत्रहवा नियम यह लिखा है कि दशो दिशाओं मे इतनी-इतनी दूरतक गमन करूंगा।

दिग्व्रतके प्रमाणमेंसे जितना क्षेत्र देशव्रतमें घटाया जाता है उतने क्षेत्र सम्बन्धी गमनागमनका संकल्प-विकल्प तथा आरंभ सम्बन्धी हिंसादि पापोंका अभाव हो जाता है, जिससे देशव्रतीको त्यागे हुए क्षेत्रमें उपचार-महाव्रतीके समान प्रवृत्ति रहती है।

२. **सामायिक शिक्षाव्रत**—मन-वचन-काय, कृत-कारित-अनुमोदनासे, मर्यादा तथा मर्यादासे बाहरके क्षेत्रमें नियत समय तक हिंसादि पंच पापोंका सर्वथा त्याग करना, रागद्वेष रहित होना, सर्व जीवोंमें समता भाव रखना, संयम में शुभ भावना करना, आर्त्त, रौद्र भाव का त्याग करना सो सामायिक शिक्षाव्रत कहाता है।

सामायिककी निरुक्ति एवं भाव इस प्रकार है कि 'सम' कहिये एक-रूप होकर, 'आय' कहिए आगमन अर्थात् पर द्रव्यों से निवृत्त होकर आत्मा में उपयोगकी प्रवृत्ति होना। अथवा 'सम' कहिए रागद्वेष रहित, 'आयः' कहिये उपयोगकी प्रवृत्ति सो सामायिक है। अर्थात् साम्यभावका होना सो ही सामायिक है। यह नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावके भेदसे छह प्रकार है। यथा इष्ट, अनिष्ट नामोंमें रागद्वेष न करना। मनोहर, अमनोहर स्त्री-पुरुषादिकी काष्ठ, पाषाणादिकी स्थापनामें रागद्वेष न करना। मनोज्ञ-अमनोज्ञ, नगर, ग्राम, वन आदि क्षेत्रोंमें रागद्वेष न करना। बसंत, ग्रीष्म ऋतु, शुक्ल-कृष्ण पक्ष आदि कालोंमें रागद्वेष न करना। जीवोंके शुभाशुभ भावोंमें रागद्वेष न करना। इस प्रकार साम्यभावरूप सामायिकके साधनके लिए बाह्यमें हिंसादि पंच पापोंको त्याग करना और अंतरंगमें इष्ट-अनिष्ट वस्तुओंसे रागद्वेष त्यागकी भावना करना आवश्यक है, क्योंकि इन विरोधी कारणोंके दूर करने और अनुकूल कारणों-के मिलानेसे ही साम्यभाव होता है। साम्यभाव होने पर ही आत्म-स्वरूपमें चित्त मग्न होता है, जो सामायिक धारण करनेका अंतिम साध्य है।

जब सामायिक (१) योग्य द्रव्य (पात्र), (२) योग्य क्षेत्र, (३) योग्य काल, (४) योग्य आसन, (५) योग्य विनय, (६) मनःशुद्धि, (७) वचन शुद्धि, (८) कायशुद्धिपूर्वक की जाती है तभी परिणाम में शांति-सुखका अनुभव होता है। यदि इन बाह्य कारणोंकी योग्यता-अयोग्यतापर विचार न किया जाय तो सामायिकका याथार्थ फल प्राप्त नहीं हो सकता, अतएव इनका विशेष स्वरूप वर्णन किया जाता है।

(१) **योग्य द्रव्य (पात्र)**—सामायिकके पूर्ण अधिकारी निर्ग्रंथ मुनिराज ही है। उन्हींके सामायिक संयम होता है, क्योंकि उन्होंने पंचेन्द्रियोंको वशकर अन्तरंग कषायों को निर्बल कर डाला है, बाह्य परिग्रहोंको तज, षट्कायकी हिंसाको सर्वथा त्याग कर दिया है, जिससे उनकेसदाकाल समभाव रहता है। श्रावक (गृहस्थ या गृहत्यागी[१]) केवल नियत काल तक सामायिककी भावना भावनेवाला सामायिक व्रती या नियत काल तक समता भाव धरनेवाला सामायिक प्रतिमाधारी हो सकता है। जिस सामायिक द्वारा मुनि शुद्धोपयोगको प्राप्त होकर, संवरपूर्वक कर्मोंकी निर्जरा करते और समस्त कर्मोंका क्षय कर मोक्ष को प्राप्त होते हैं, उसी सामायिक के प्रारम्भिक अभ्यासी श्रावक, शुभोपयोग द्वारा सातिशय पुण्य बंध करके अभ्युदययुक्त स्वर्गसुख भोग, परम्पराय मोक्षके पात्र हो सकते हैं।

(२) **योग्य क्षेत्र**—जहां कलकलाट शब्द न हो, लोगोंका संघट्ट (भीड़-भाड़) न हो, स्त्री, पुरुष, नपुंसकका आना, जाना, ठहरना न हो, गीत-गान आदि की निकटता न हो, डांस, माछर, कीड़ी आदि बाधाकारक जीव-जन्तु न हों, अधिक शीत-उष्ण-वर्षा, पवनादि चित्त को क्षोभ उपजानेवाले तथा ध्यान से डिगानेवाले कारण न हों, ऐसे उपद्रव रहित- वन, घर, धर्मशाला-मन्दिर वा चित्त-शुद्धिके कारण अतिशय क्षेत्र, सिद्धक्षेत्र आदि—एकान्त स्थान ही सामायिक करने योग्य हैं।

(३) **योग्य काल**—प्रभात, मध्याह्न, संध्या इन तीनों समय उत्कृष्ट ६ घड़ी, मध्यम ४ घड़ी और जघन्य २ घड़ी योग्यतानुसार सामायिकका काल है। इसके सिवाय अधिक काल तक या अतिरिक्त समयमें सामायिक करने के लिए कोई निषेध नहीं है। सबेरे ३ घड़ी, २ घड़ी, १ घड़ी, रातसे ३ घड़ी, २ घड़ी, १ घड़ी दिन चढ़े तक। मध्याह्नको ३।२।१ घड़ी पहिलेसे ३।२।१ घड़ी पीछे तक। संध्याको ३।२।१ घड़ी पहिले से ३।२।१ घड़ी रात्रि तक सामायिक करना योग्य है इन समयोंमें परिणामोंकी विशुद्धता विशेष रहती है।

१. सागारधर्मामृत तथा धर्मसंग्रहश्रावकाचारमें व्रत-प्रतिमासे ही गृहस्थ गृहत्यागी दो भेद कहे गये है। अर्थात् कोई कोई श्रावक ऐसे भी होते हैं कि जो व्रत प्रतिमा धार, गृह छोड़, विचरते हुये, धर्मसाधनमें तत्पर रहते हे, वे व्रतप्रतिमाधारी गृहत्यागी कहलाते है।

कई ग्रन्थोंमें सामायिक काल सामान्य रीतिसे ६ घड़ी कहा गया है। स्वामीकार्तिकेयानुप्रेक्षाकी संस्कृत टीका और दौलत क्रियाकोषमें तीनों समय मिलाकर भी ६ घड़ी कहा है। श्री धर्मसारजीमें जघन्य २ घड़ी, मध्यम ४ घड़ी और उत्कृष्ट ६ घड़ी कहा है। इससे स्पष्ट होता है कि सामायिक व्रतमें जघन्य दो घड़ी से लेकर उत्कृष्ट ६ घड़ी पर्यन्त योग्यतानुसार त्रिकाल सामायिक का काल है।

(४) **योग्य आसन**—काष्ठके पटियेपर, शिलापर, भूमिपर या बालू-रेतमें पूर्व या उत्तरकी ओर मुख करके पर्यंकासन (पद्मासन) बांधकर या खड़े होकर (खड्गासन) अथवा अर्धपद्मासन[1] या पालथी मारकर, इनमेंसे जिस आसनसे शरीरकी थिरता, परिणामों की उज्ज्वलता नियत काल तक रहना संभव हो, उसी आसनसे क्षेत्रका प्रमाण करके इन्द्रियोंके व्यापार वा विषयोंसे विरक्त होते हुए, केश, वस्त्रादिको अच्छी तरह बांधकर (जिसमें उनके हिलनेसे चित्तमें क्षोभ न हो) हस्तांजली जोड़, स्थिर चित्त करके सामायिक, वन्दनादि पाठोंका, पंच-परमेष्ठीका अथवा अपने स्वरूपका चिंतवन करे और उसमें लीन हो।

(५) **योग्य विनय**—सामायिक के आरम्भमें पृथ्वी को कोमल वस्त्र या पूंजणी (अमाडीकी कोमल बुहारी) से बुहार (प्रतिलेपन) कर ईर्यापथ-शुद्धिपूर्वक खड़ा होवे, क्षेत्रकालका प्रमाण करे तथा ९ बार णमोकार मंत्र पढ़ हाथ जोड़ पृथ्वी पर मस्तक लगाकर नमस्कार करे। पश्चात् चारों दिशाओंमें नव-नव बार णमोकार मंत्र कहकर तीन-तीन आवर्त (दोनों हाथकी अंजुली जोड़ दाहिने हाथकी ओरसे तीन बार फिराना) और एक-एक शिरोनति (दोनों हाथ जोड़कर नमस्कार) करे। पीछे खड़े हो या बैठकर योग्य आसनपूर्वक णमोकार मंत्र का जाप्य करे, पंच-परमेष्ठी के स्वरूप का चिंतवन करे सामायिक पाठ[2] पढ़े, अनित्यादि द्वादश-अनुप्रेक्षाओंका

१. अर्ध-पद्मासन श्रीज्ञानार्णवजीके धर्मध्यान अधिकार में कहा है परन्तु उसका स्वरूप नहीं कहा। दक्षिण प्रान्तमें बहुत-सी प्रतिमायें ऐसे आसनयुक्त हैं कि जिनके दाहिने पांवकी पगतली ऊपर और बांये पांवकी पगतली नीचे है, लोग उसे अर्धपद्मासन कहते हैं।

२. संस्कृत-प्राकृत पाठ यदि अपनी समझमें न आता हो, तो भाषा पाठ ही समझ-समझकर, मनन करता हुआ पढ़े, जिससे भावोंमें विशुद्धि उत्पन्न हो।

चिंतवन करे तथा आत्मस्वरूपके चिंतवन पूर्वक ध्यान लगावे और अपना धन्य भाग समझे।

सामायिक पाठके ६ अंग हैं। (१) **प्रतिक्रमण**—अर्थात् जिनेन्द्र देवके सन्मुख अपने द्वारा हुए पापों की क्षमा-प्रार्थना करना। (२) **प्रत्याख्यान**—आगामी पाप त्यागकी भावना करना। (३) **सामायिक कर्म**—सामायिकके काल तक सब में ममताभाव त्याग, समताभाव धरना। (४) **स्तुति**—चौबीसों तीर्थंकरोंका स्तवन करना। (५) **बन्दना**—किसी एक तीर्थंकर का स्तवन करना। (६) **कायोत्सर्ग**—कायसे ममत्व छोड़ आत्मस्वरूपमें लवलीन होना।

इस प्रकार समभाव पूर्वक चिंतवन करते हुए जब काल पूरा हो जाय, तब प्रारंभकी तरह आवर्त्त, शिरोनति तथा नमस्कार पूर्वक सामायिक पूर्ण करे।

(६) **मनःशुद्धि**—मनको शुभ तथा शुद्ध विचारों की तरफ झुकावे, आर्त-रौद्र ध्यानमें दौड़ने से रोककर धर्मध्यान में लगावे। जहां तक संभव हो पंच परमेष्ठीका जाप्य वा अन्य कोई भी पाठ, वचनके बदले मनसे स्मरण करावे, ऐसा करनेसे मन इधर-उधर चलायमान नहीं होता।

(७) **वचन शुद्धि**—हुंकारादि शब्द न करे, बहुत धीरे-धीरे या जल्दी-जल्दी पाठ न पढ़े, जिस प्रकार अच्छी तरह समझमें आवे, उसी प्रकार समानवृत्ति एवं मधुरस्वरसे शुद्ध पाठ पढ़े, धर्म-पाठ सिवाय कोई और वचन न बोले।

(८) **काय शुद्धि**—सामायिक करनेके पहले स्नान करने, अंग अँगौछने, हाथ-पांव धोने आदिसे जिस प्रकार योग्य हो, यत्नाचार पूर्वक शरीर पवित्र करके, पवित्र वस्त्र पहिन सामायिकमें बैठे और सामायिकके समय शिरकंप, हस्तकंप अथवा शरीर के अन्य अंगोंको न हिलावे-डुलावे, निश्चल अंग रक्खे। कदाचित् कर्मयोगसे सामायिकके समय चेतन-अचेतन कृत उपसर्ग आ जाय, तो भी मन-वचन-कायको चलायमान नहीं करता हुआ सहन करे।

यहां कोई प्रश्न करे कि सामायिकके समय अचानक लघुशंका इत्यादिकी तीव्र बाधा आ जाय तो क्या करना चाहिये? उसका उत्तर यह है कि प्रथम तो व्रती पुरुषोंका खान-पान नियमित होनेसे उनको

इस प्रकारकी अचानक बाधा होना संभव नहीं। कदाचित् कर्मयोग से ऐसा ही कोई कारण आ जाय, तो उसका रोकना या सहन असंभव होनेसे उस कामसे निपटकर, प्रायश्चित्त ले, पुनः सामायिक स्थापन करे।

सामायिक के पंच अतीचार—(१-२-३) मन, वचन, कायको अशुभ प्रवर्त्ताना[1]। (४) सामायिक करनेमें अनादर करना। (५) सामायिकका समय वा पाठ भूल जाना।

अतीचार लगनेसे सामायिक दूषित होती है। अतएव ऐसी सावधानी रखनी चाहिये, जिससे अतीचार दोष न लगे।

सामायिक के समय क्षेत्र तथा कालका परिमाण करके गृहव्यापार आदि सर्व-पाप योगों का त्याग कर देने से सामायिक करनेवाले गृहस्थके सब प्रकार पापास्रव रुककर सातिशय-पुण्य का बंध होता है। उस समय वह उपसर्गमें ओढ़े हुए कपड़ों युक्त मुनिके समान होता है। विशेष क्या कहा जाय अभव्य भी द्रव्य-सामायिकके प्रभाव से नवम-ग्रैवेयिक पर्यंत जाकर अहमिन्द्र हो सकता है। सामायिकको भावपूर्वक धारण करनेसे शांति-सुख की प्राप्ति होती है। यह आत्मतत्त्व की प्राप्ति अर्थात् परमात्मा होनेके लिये मूल कारण है। इसकी पूर्णता ही जीवको निष्कर्म-अवस्था प्राप्त कराती है।

३. **प्रोषधोपवास शिक्षाव्रत**—अष्टमी-चतुर्दशीके दिन सर्वकाल धर्म-साधनकी सुवांछा से सम्पूर्ण पापारंभोंसे रहित हो, चार प्रकार आहारका त्याग करना सो प्रोषधोपवास कहलाता है। इसकी निरुक्ति इस प्रकार है कि प्रोषध कहिये एक बार आहार अर्थात् धारणा[2] और पारणा[3] के दिन

---

१. असावधानीसे मनकी प्रवृत्ति क्रोध, मान, माया, लोभ, द्रोह, ईर्ष्या, इन्द्रिय विषय रूप होना। वचन की प्रवृत्ति—अस्पष्ट-उच्चारण, बहुत ठहर-ठहर कर वा अति शीघ्रता पूर्वक पाठ पढ़ना। कायकी प्रवृत्ति—हस्त-पादादि शरीरके अंगोंका निश्चल न रखना।

२. धारणा—उपवासकी प्रतिज्ञा धारण करनेका दिन अर्थात् पूर्वदिन।

३. पारणा—उपवास पूर्ण करके भोजन करनेका दिन अर्थात् अगला दिन। सामान्य गृहस्थोंको दिनमें दो बार भोजन करने का अधिकार है। प्रोषधोपवास में धारणा-पारणाके दिन एक-एक बार और उपवासके दिन दो बारका भोजन त्यागनेसे इसे चतुर्थ संज्ञा भी है।

एक बार भोजन करना तथा उपवास कहिये अष्टमी-चतुर्दशी पर्वको निराहार रहना—भोजनका त्याग करना। इस प्रकार एक पक्षमें अष्टमी-चतुर्दशी दोनों पर्वोंमें चार प्रकार आहार त्याग, धर्मध्यान करना सो प्रोषधोपवास कहाता है। राजवार्तिकमें प्रोषध नाम पर्व का कहा है, तदनुसार पर्वमें इन्द्रियोंके विषयसे विरक्त रहकर चार प्रकार आहार त्याग करना सो ही प्रोषधोपवास है।

प्रतिदिन अंगीकार किये हुये सामायिक-संस्कारको स्थिर करके सप्तमी एवं त्रयोदशी के दोपहर से [भोजन उपरान्त] समस्त आरम्भ-परिग्रहसे ममत्व छोड़ देव-गुरु-शास्त्रकी साक्षी पूर्वक प्रोषधोपवासकी प्रतिज्ञा ले, निर्जन-वसतिका (कुटी, धर्मशालादि) को प्राप्त होवे और सम्पूर्ण सावद्य-योग त्याग, इन्द्रियोंके विषयोंसे विरक्त होता हुआ, मन-वचन-कायकी गुप्ति सहित, नियतकाल तक व्रतविधानकी शुभेच्छासे चार प्रकार[1] आहारका त्याग करे।

बहुधा ग्रन्थोंमें प्रोषधोपवासका काल १६ प्रहर कहा है। धर्मसार ज्ञानानंद श्रावकाचार तथा दौलत क्रियाकोषमें उत्कृष्ट १६ प्रहर, मध्यम १४ प्रहर और जघन्य १२ प्रहर कहा है। स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षाकी संस्कृत टीकामें उत्कृष्ट १६ प्रहर, मध्यम १२ प्रहर और जघन्य ८ प्रहर कहा है। परन्तु भोजन त्याग अपेक्षा प्रोपधोपवास १२ प्रहरसे कम संभव नहीं है क्योंकि प्रोषधव्रती रात्रि-भोजनका सर्वथा त्यागी है। हां, आठ प्रहरका उपवास पाक्षिक श्रावककी अपेक्षा संभव हो सकता है। क्योंकि उसके रात्रिको औषधि, जल तथा स्वाद्य (पान, इलायची आदि) भक्षण करने सम्बन्धी अतीचार दोष लगना सम्भव है, इससे वह उपवासके दिन ही प्रातःकाल प्रतिज्ञा करे तो दूसरे दिनके सुबह तक आठ प्रहरका उपवास हो सकता है। अथवा व्रती भी यदि उपवासके प्रातःकाल ही प्रतिज्ञा ले, तो प्रतिज्ञा अपेक्षा

---

१. चार प्रकार आहर के भेद: (१) खाद्य - रोटी, दाल, चावल, पूड़ी आदि कच्ची-पक्की रसोई। (२) स्वाद्य—पान, सुपारी, इलायची आदि मसाला। (३) लेह्य—रबड़ी आदि चाटने योग्य वस्तु। (४) पेय—दूध, पानी, शर्बत आदि पीने योग्य पदार्थ। अथवा: (१) असन—दाल, भात, रोटी आदि कच्ची रसोई या नित्य भोजनमें आनेवाली पक्की रसोई। (२) पान—पानी, दूध, रबड़ी, शर्बत आदि पेय वस्तु। (३) खाद्य—मोदक, कलाकंद आदि जो कभी-कभी खानेमें आते हैं। (४) स्वाद्य—इलायची, पान, सुपारी, मसालादि।

सुबह से सुबह तक ८ प्रहर का उपवास सम्भव हो सकता है।

वसुनन्दि श्रावकाचार में प्रोषधोपवास तीन प्रकार कहा है। (१) **उत्तम**—१६ प्रहर निराहार (२) **मध्यम**—जल सिवाय तीन प्रकार आहारका त्याग (३) **जघन्य**—जिसमें आमिल लेना अर्थात् एक अन्न पकाकर खाना और प्राशुक जल पीना अथवा मीठा न डालकर कोई एक अन्न खाना या एक स्थानमें बैठकर एक ही बार भोजन करना। परन्तु तीनों प्रकारोंमें धर्मध्यान सोलह प्रहर तक ही करना।

सकलकीर्ति श्रावकाचार में कहा है कि प्रोषधोपवासके दिन गर्म (प्राशुक) जल लेनेसे उपवासका आठवां भाग रह जाता है, कषायला जल लेनेसे अनुपवास होता और अन्न मिश्रित जल लेनेसे उपवास भंग हो जाता है।

प्रश्नोत्तर श्रावकाचार में कहा है कि उपवासके काल में जलकी १ बूंद भी ग्रहण न करना चाहिये।

इन उपर्युक्त आधारोंपर विचार करनेसे यही सिद्ध होता है कि प्रोषधोपवास प्रतिमामें तो उत्कृष्ट १६ प्रहरका उपवास कर धर्मध्यान कर्तव्य है। और व्रतप्रतिमामें द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावके अनुसार अपनी शक्ति देखकर उत्कृष्ट, मध्यम या जघन्य जैसा योग्य हो, प्रोषध-व्रत करे।

प्रोषधोपवासके दिन स्नान, अंजन, विलेपन, श्रृंगार नहीं करे। पांव नहीं दबवावे। नवीन भूषण नहीं पहिने। कोमल शय्या तथा पलंगपर शयन नहीं करे। स्त्री-संसर्ग, आरम्भ, पुष्प, गीत, वादित्र, नृत्य[1], सुगन्ध, दीप, धूपादिके प्रयोग तजे, फल-फूल-कोंपल-छेदन आदि स्थावर-हिंसा न करे। आलस्य रहित, धर्मका अति लालची होता हुआ धर्म-शास्त्रोंका स्वाध्याय श्रवणादि करे-करावे, ज्ञान-ध्यानमें तत्पर रहे।

प्रोषध-व्रत करनेकी रीति यह है कि उपवासके धारणके दिन साधारण भोजन करे, ऐसा न विचारे कि कल उपवास करना है इसलिये गरिष्ठ या अधिक भोजन करूं। पश्चात् प्रोषधोपवासकी प्रतिज्ञा कर पठन-पाठन, सामायिकादि धर्मकार्य करे, रात्रिको निद्रा जीतता हुआ पवित्र संथारेपर अल्प निद्रा ले और पठन-पाठनादि धर्म-ध्यान करता रहे। उपवासके दिन प्रातःकाल

१. दीप धूपादि चढ़ानेका वा धर्म सम्बन्धी गीत, नृत्य, वादित्र, तिलक करने आदिका निषेध नहीं।

सामायिक करने पीछे प्राशुक जलसे प्रातःकाल सम्बन्धी क्रियाओंसे निवृत्त हो, प्राशुक द्रव्योंसे जिनेश्वर देव की पूजन करे[1]। दिन तथा रात्रि सामायिक, धर्म-चर्चा, स्वाध्याय, पाठादिमें व्यतीत करे। उपवासके दूसरे दिन भी दोपहर तक पूजन स्वाध्याय आदि धर्मध्यान करे। पश्चात् पात्रदान पूर्वक नियमित शुद्ध भोजन करे, लोलुपतावश धर्म-ध्यानको भुलानेवाला प्रमाद तथा उन्मादको उत्पन्न करनेवाला गरिष्ठ अथवा अधिक भोजन न करे, क्योंकि प्रोषधोपवास करनेका मुख्य प्रयोजन तो यही है कि जिसमें परिणाम निर्मल, धर्म-ध्यान रूप, शांत और उत्साहरूप रहें। शिथिल, आलसी, उन्मादरूप न हो तथा क्षुधादि परीषह सहनेका अभ्यास पड़ जानेसे आगे मुनिव्रतमें परीषह आने पर समभाव बने रहें।

प्रोषधोपवासमें समस्त आरम्भोंका त्याग कहा है, इससे पाप क्रिया-सम्बन्धी आरम्भोंका ही निषेध जानना, धार्मिक कार्योंका नहीं। तो भी पूजनके लिए शरीरकी पवित्रता (स्नान), तिलक, गान-भजन, नृत्यादि सभी धर्म-कार्य बहुत यत्नाचार पूर्वक करना चाहिये, जिससे पुण्यकी प्राप्ति हो और पापका अंश भी न आने पावे।

जो स्त्री व पुरुष उपवास धारण करके गृहकार्यके मोहवश गृहस्थी-सम्बन्धी पापारंभ करते अथवा जो दूसरोंकी देखादेखी या कषायवश उपवास ठान, संक्लेश-परिणामयुक्त रोगीवत् काल गवांते हैं, केवल शरीरको शोषण करते हैं, उनके लेशमात्र भी कर्म हलके नहीं पड़ते। गृहस्थको उपवासके दिन आरम्भ, विषय-कषाय एवं आहारका त्याग करके धर्म सेवन करनेसे ही पुण्यबंधके साथ-साथ संवरपूर्वक निर्जरा होती है। इसलिये बुद्धिमान् गृहस्थोंको इसी प्रकार उपवास करना योग्य है।

१. धर्म संग्रह श्रावकाचारमें प्रोषध-व्रतमे लिखा है कि उपवासके दिन अष्ट द्रव्योंसे पूजन करे। दौलत क्रियाकोषादि कई ग्रन्थों में धारणे-पारणेके दिन पूजन करना और उपवास के दिन ध्यानस्वाध्याय करना ही कहा है। सागारधर्मामृतमें कहा है कि प्रोषध-व्रती भावपूजन करे तथा प्राशुक (निर्जन्तु) द्रव्योंसे द्रव्यपूजन भी करे। पुरुषार्थसिद्ध्युपायमें उपवास के दिन प्राशुक द्रव्य से पूजन करना लिखा है। इन सबसे यही तात्पर्य निकलता है कि प्रोषधोपवासके दिन ध्यान-स्वाध्यायकी मुख्यता-पूर्वक, सावधानीसे प्राशुक द्रव्यों द्वारा यदि कोई चाहे तो पूजन भी करे, न चाहे तो न करे, ध्यान-स्वाध्याय अवश्य ही करे।

प्रोषधोपवासके पांच अतीचार : (१) बिना देखे-शोधे पूजाके उपकरण, शास्त्र, संस्तरादि ग्रहण करना।

(२) बिना देखे-शोधे मल-मूत्रादि मोचन करना।

(३) बिना देखे-शोधे संस्तर (बिछौना) बिछाना।

(४) भूख, प्यासके क्लेशसे उत्साहहीन होकर उपवासमें निरादररूप परिणाम करना।

(५) उपवास योग्य क्रियाओंका भूल जाना।

इन उपर्युक्त अतीचारोंके लगनेसे प्रोषधोपवास मलिन होता है अतएव इन दोषोंको सदा ध्यानमें रख कर दोषोंसे रक्षा करनी चाहिये।

प्रोषधोपवासके दिन भोगोपभोग एवं आरम्भका त्याग करनेसे हिंसाका लेश भी नहीं होता। वचन गुप्ति होने (मौनावलम्बी रहने) अथवा आवश्यकतानुसार धर्मरूप अल्पभाषण करनेसे असत्यका दूषण नहीं आता। अदत्तादानके सर्वथा त्यागसे चोरीका दोष नहीं आता। मैथुन के सर्वथा त्यागसे ब्रह्मचर्य व्रत पलता और शरीरादि परिग्रहोंसे निर्ममत्व होनेसे परिग्रह-रहितपना होता है। इसलिये प्रोषधोपवास करने वाला गृहस्थ उस दिन सर्व सावद्ययोगके त्याग होनेसे उपचार महाव्रती है। प्रोषधोपवासके धारण करनेसे शरीर नीरोग रहता है, शरीरकी शक्ति बढ़ती है। सातिशय पुण्यबन्ध होकर उत्कृष्ट-सांसारिक सुखोंकी प्राप्तिपूर्वक पारमार्थिक (मोक्ष) सुखकी प्राप्ति होती है।

४. **अतिथि—संविभाग शिक्षाव्रत**—दाता, पात्र दोनोंके रत्नत्रय धर्मकी वृद्धिके निमित्त सम्यक्त्वादि गुणोंयुक्त गृहरहित साधु-मुनि आदि पात्रोंका प्रत्युपकाररहित अर्थात् बदलेमें उपकारकी वांछा न करते हुए योग्य वैयावृत्ति करना, सो अतिथिसंविभाग या सत्पात्रदान कहाता है।

जो सत्पुरुष पूर्णज्ञानकी सिद्धिके निमित्तभूत शरीरकी स्थितिके लिये, बिना बुलाये ईर्यापथ शोधते हुए, बिना तिथि निश्चय किये श्रावकोंके गृह भोजन निमित्त आवें, सो अतिथि कहाते हैं। यह वृत्ति अठ्ठाईस मूलगुणधारी मुनियोंमें तथा उत्कृष्ट प्रतिमाधारी ऐलक-क्षुल्लकोंमें पाई जाती है, क्योंकि इनके स्थिति एवं विहार करनेकी तिथि निश्चित नहीं रहती। ऐसे उत्तम पात्रोंको द्वारापेक्षण आदि यथायोग्य नवधा-भक्ति पूर्वक अपने भोजनमेंसे विभागकर आहार औषधि, पात्रादि दान देना।

यदि उपर्युक्त प्रकार अतिथिका संयोग न मिले तो मध्यम तथा जघन्य पात्रों एवं अन्य साधर्मियोंका यथायोग्य आदरपूर्वक चार प्रकार दान द्वारा वैयावृत्य करना या दुखितों व भूखोंको करुणाबुद्धिपूर्वक दान देना, यह सब अतिथि-संविभाग है।

धर्मसाध्यकी सिद्धिके लिये आगममें चार प्रकारके दान निरूपण किये गये हैं: (१) औषधिदान (२) शास्त्रदान (३) अभयदान (४) आहारदान।

योग्य पात्रको आहारदान-औषधि-शास्त्र (ज्ञान) तथा अभयदानमेंसे जिस समय जिसकी आवश्यकता हो, उस समय उसी प्रकारका दान देना योग्य है। इससे दातार तथा पात्र दोनोंके रत्नत्रयकी प्राप्ति, वृद्धि और रक्षा होती है इसी कारण ऐसा दान सत्पात्र-दान या सुदान कहाता है। पात्र, दातार, द्रव्य, तथा देनेकी विधिके भेदसे दानके फलमें विशेषता होती है, इस कारण इन चारोंका विशेष रूपसे वर्णन किया जाता है।

१. पात्र का वर्णन

दानकी प्रवृत्ति करनेके योग्य पात्र (स्थान) सात प्रकारके हैं: (१) पूजा, (२) प्रतिष्ठा, (३) तीर्थयात्रा, (४) पात्रदत्ति, (५) समदत्ति, (६) दयादत्ति, (७) सर्वदत्ति।

(१) पूजा—अपनी शक्तिके अनुसार जलचन्दनादि अष्ट द्रव्यों या एक, दो आदि द्रव्योंसे देव, शास्त्र गुरु तथा सोलह कारण, दश लक्षण आदि आत्मगुणोंकी पूजा करना। जिनमन्दिरमें पूजनके बर्तन, चंदोवा, छत्र, चमरादि धर्मोपकरण चढ़ाना।

(२) प्रतिष्ठा—जिस ग्राममें जैनी भाइयोंका समूह अच्छा हो और धर्मसाधनके निमित्त जिनमन्दिर न हो, वहां जिनमन्दिर बनवाना। भगवान्के बिम्बकी प्रतिष्ठा कराके पधराना। यदि ग्राम छोटा हो, जैनी भाइयोंके १०-५ ही घर हों, तो चैत्यालय बनाना, तथा प्रतिष्ठित-मूर्ति दूसरे स्थानसे लाकर, या किसी स्थानकी प्रतिष्ठामें प्रतिष्ठा करा लाकर, विराजमान करना, अथवा प्राचीन-मन्दिर जीर्ण हो गया हो तो उसका जीर्णोद्धार कराना, क्योंकि नूतन मन्दिर बंधानेकी अपेक्षा जीर्णोद्धारमें परिणामोंकी विशेष उज्ज्वलता होनेसे १०० गुणा अधिक पुण्य होता है, ऐसा प्रतिष्ठा पाठादि ग्रन्थोंमें कहा है।

(३) **तीर्थयात्रा**—गृह जंजालोंकी चिन्ता छोड़ सिद्ध क्षेत्रों, अतिशय क्षेत्रोंके दर्शन-वंदना करना, शक्ति हो तो संघ निकालना, आप पवित्र क्षेत्रोंमें जाकर निर्मल परिणामोंयुक्त धर्मसाधन करना तथा अन्य साधर्मी मंडलीको कराना। इससे सातिशय तीव्र पुण्यबंध होता है।

(४) **पात्रदत्ति**—सामान्य रीतिसे पात्र तीन प्रकार के होते हैं : सुपात्र, कुपात्र और अपात्र। यहां पात्रदत्तिसे सुपात्र ही का अभिप्राय जानना चाहिये, क्योंकि पात्रका लक्षण यह कहा है कि जो सम्यक्त्व और चारित्र-युक्त हो और दाता-दानके प्रेरकों एवं अनुमोदकों को नौकाकी तरह संसार-सागरसे पार करे। ये लक्षण सुपात्रमें ही पाये जाते हैं अतएव सुपात्र ही दान देने योग्य हैं। ये तीन प्रकार के होते हैं : उत्तम, मुनि-आर्यिका। मध्यम, श्रावक-श्राविका। जघन्य, अव्रत सम्यग्दृष्टि (इनके स्वरूपाचरण चारित्र होता है)।

भाव-सम्यक्त्व रहित केवल बाह्य-चारित्रके धारक द्रव्यलिंगी मुनि तथा द्रव्यलिंगी श्रावक वा द्रव्यसम्यग्दृष्टि कुपात्र कहाते हैं। जिसके सूक्ष्म (अप्रगट) मिथ्यात्व हो, उसे तो हम छद्मस्थ जान ही नहीं सकते, इसलिये उसमें सुपात्रके समान प्रवृत्ति होती है, परन्तु जिसके स्थूल (प्रगट) द्रव्य-मिथ्यात्व हो और बाह्य जिनधर्ममें कहे हुए भेषका धारी हो तो वह कुपात्र है। (यहां व्यवहारमें व्यवहार-सम्यक्त्व अथवा मिथ्यात्वकी अपेक्षा है।)

जो सम्यक्त्व, चारित्र दोनोंसे भ्रष्ट हो, ऐसे मिथ्यादृष्टि भेषी, अपात्रको दान देना सर्वथा योग्य नहीं।

(५) **समदत्ति**—जो अपने समान साधर्मी गृहस्थ असक्तता कर्मके उदयसे दुःखी हों, उनकी धन-वस्त्रादिसे यथायोग्य सहायता करना।

(६) **दयादत्ति**—दुखित व भूखे जीवोंको अन्न-वस्त्रादि से सहायता करना।

(७) **सर्वदत्ति या अन्वयदत्ति**—अपने पुत्र, भाई या गोत्री आदिको धनादि सर्वस्व सौंप परिग्रहसे निर्ममत्व हो, उत्तम-श्रावकके व्रत या मुनिव्रत अंगीकार करना।

२. दातार का वर्णन

पूजा-प्रतिष्ठा तथा पात्रदत्तिके अधिकारी द्विजवर्ण[1] (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य) ही हैं, क्योंकि सत्पात्रोंको द्विजवर्ण के घर पर ही आहार लेनेकी आज्ञा है, शूद्रके घर नही (मूलाचार)। शेष समदत्ति आदि चार दान अपनी-अपनी योग्यतानुसार हर कोई कर सकता है। स्पर्श शूद्र दर्शन करते समय एकाध द्रव्य चढ़ानेरूप द्रव्यपूजाका तथा तीर्थयात्रा समदत्ति और दयादत्तिका अधिकारी है। वह द्विजवर्ण की नाईं अभिषेकपूर्वक पंच प्रकारी (आह्वानन, स्थापन, सन्निधिकरण, पूजन, विसर्जन) पूजनका अधिकारी नहीं है। अस्पर्श-शूद्र मन्दिर के बाहरसे[2] दर्शन कर सकता है और अपनी समानता वालोंके साथ समदत्ति वा दयादत्ति कर सकता है।

सम्यग्दृष्टि चारित्रवान दातार ही दान देनेका पात्र है। क्योंकि बिना धर्मात्मा हुए सत्पात्र दान नहीं हो सकता। अन्यके न तो सच्ची त्यागबुद्धि ही हो सकती है और न पात्रदान-द्रव्यादि का बोध हो सकता है। दातार के ५ भूषण हैं--(१) आनन्दपूर्वक दान देना, (२) आदरपूर्वक दान देना, (३) प्रियवचनपूर्वक दान देना, (४) निर्मल भावपूर्वक दान देना, (५) दान देकर अपना धन्य भाग्य मानना। दातारके पांच दूषण हैं—(१) विलम्बसे दान देना, (२) उदास होकर दान देना, (३) दुर्वचन कहकर दान देना, (४) निरादरपूर्वक दान देना, (५) दान दिये पीछे पछताना। दातार के सप्तगुण हैं—(१) दान देने योग्य यही पात्र है ऐसा दृढ़ परिणाम सो श्रद्धा-गुण है (२) प्रमादरहितपना सो शक्तिगुण हैं (३) पात्रके गुणोंमें आदर सो भक्तिगुण है (४) दानकी पद्धतिका जानना सो विवेक या विज्ञान-गुण है (५) दान देनेकी सामर्थ्य सो अलुब्धतागुण है (६) सहन-शीलता सो क्षमागुण है (७) भले प्रकार दान देनेका स्वभाव सो त्यागगुण हैं। पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में इस प्रकार भी दातार के ७ गुण कहे हैं—(१) फलकी

---

१. जो यज्ञोपवीत धारण करनेके अधिकारी है वे द्विजवर्ण कहाते है। द्विजवर्णमें भी कोढ़ी, रोगी आदि जिनका निषेध समवसरण-विधानमें किया गया है या जो जाति-पतित हों, वे इन सत्कर्मोंके करनेके अधिकारी नही है।

२. इसी अभिप्राय की सिद्धिके लिये कई जगह अब भी प्राचीन मन्दिरोके शिखरोंपर विराजमान व दरवाजोंकी चौखटोंपर उकेरे हुए जिनबिम्ब दिखाई देते हैं तथा कई जगह नूतन मन्दिरोंमें हालमें भी इसी तरह दर्शन करने का सुभीता है।

अपेक्षारहितपना (२) क्षमावानपना (३) निष्कपटीपना (४) ईर्ष्यारहितपना (५) खेदभावरहितपना (६) हर्षभावपना (७) निरभिमानीपना ये दोनों प्रकारके गुण बहुधा एकसे ही हैं और ज्ञानी तथा श्रद्धावान् दातारोंमें अवश्य ही पाये जाते हैं।

३. दान देने योग्य द्रव्य का वर्णन

पूजा, प्रतिष्ठा, यात्रा करनेमें सामान्य रीतिसे उसके योग्य द्रव्य व्यय होता है। समदत्तिमें अपने समान गृहस्थको वा जघन्य पात्रको धन, वस्त्र, ज्ञानके उपकरण एवं औषधि आदि की सहायता करके धर्ममें लगाते वा स्थिर कराते हैं। दयादत्ति में दुखितों-भूखोंको अन्न, वस्त्र, औषधि आदि देते हैं। मध्यम पात्रको उसके योग्य धन, वस्त्र आदि देते हैं। आर्यिका को सफेद साड़ी, पीछी, कमंडल तथा मुनिको केवल पीछी-कमंडल ही देते हैं। सभी पात्रों को शरीरकी स्थिरता निमित्त शुद्ध आहार, रोग के निवारणार्थ औषधि वा ज्ञान की वृद्धि के लिए पुस्तक (शास्त्र) देते है। दान में दी जाने वाली सभी वस्तुयें यद्यपि सामन्य रीतिसे धर्मवृद्धि करने वाली हैं, तो भी दातार को इस बातका पूरा-पूरा ध्यान रखना चाहिये कि पात्रको दान देनेका पदार्थ अथवा पूजा-प्रतिष्ठामें काम आनेकी वस्तु शुद्ध निर्जीव व निरवद्य (निर्दोष) हो। मुनि-आर्यिका, श्रावक-श्राविकाको दी जानेवाली वस्तु स्वाध्याय, ध्यान, तप की वृद्धि करनेवाली हो, आलस्य, उन्माद, विकार व अभिमानकी उत्पन्न करनेवाली न हो। विवेकपूर्वक दान देनेसे ही दातार-पात्र दोनोंके धर्मवृद्धि और परम्परासे सच्चे-सुख की प्राप्ति होती है।

अन्यमतोंमें गऊ, स्त्री, हाथी, घोड़ा, रथ, मकान, सोना, तिल, दासी और भूमि ये दस प्रकारके दान कहे हैं। सो ये रागद्वेषादि भावोंके बढ़ाने वाले पंच पापोंमें प्रवृत्ति करानेवाले आलस्य, प्रमाद, उन्मत्तता, रोगादिके मूल हैं। आत्महितके बाधक, संसार के बढ़ानेवाले और मोक्षमार्गसे विमुख करनेवाले हैं। इनसे दाता व पात्र दोनोंके धर्मकी हानि होती है। इसलिये ये कुदान कभी भूलकर भी न करना चाहिए। इनका लेना-देना धर्मका अंग नहीं है, इनके देने-लेनेमें धर्म मानना मिथ्या है, ऐसा प्रश्नोत्तरश्रावकाचार तथा पद्मनंदिपच्चीसी आदि ग्रंथोंमें स्पष्टरूपसे कहा है। सागारधर्मामृत में भी कहा गया है कि नैष्ठिक श्रावकको भूमि आदि दश प्रकार के दान भूलकर भी नही देना चाहिये, क्योंकि इससे सम्यक्त्वका घात तथा हिंसा

होती है। अतएव जब सम्यक्त्व का भी घात होता है तो ये दश प्रकारके दान सम्यक्त्वीको भी नहीं देना चाहिये।

४. दान देने की विधि

पूजा, प्रतिष्ठा, यात्रामें जो द्रव्य व्यय व उत्तम क्रियायें की जांय वे उत्कृष्ट परिणामोंपूर्वक, परमार्थबुद्धिसे, शास्त्रोक्त-पद्धतिसहित विनययुक्त, धर्मप्रभावनाके अभिप्रायसे की जांय।

पात्रदत्ति—उत्तम पात्र (मुनि) को प्राशुक-शुद्ध आहार नवधाभक्ति-युक्त (विधिपूर्वक) देकर अपना धन्य भाग मानना चाहिये। दातारको नित्य भोजनसमय रसोई तैयार करके, सब आरम्भ तजि, सर्वभोजन-सामग्री शुद्धस्थान में रख, प्राशुक जल से भरा हुआ, ढंका हुआ लोटा लेकर अपने द्वारपर पात्र हेरने के लिए णमोकार मंत्र जपते हुए खड़ा होना योग्य है। दान बिना गृहस्थके चूल्हा-चौका स्मशान समान है, क्योंकि यत्नाचार करते हुए भी उसमें नित्य छह कायके हजारों जीव जलते हैं। अतएव आहार दान देनेसे गृहस्थ का चौका सफल है। उपर्युक्त प्रकार पात्र हेरनेकी द्वारोपेक्षण संज्ञा है। जब मुनि अपने द्वारके सन्मुख आवें तो, "स्वामिन्! अत्र तिष्ठ—अन्न जल शुद्ध" ऐसा कह कर (१) आदर पूर्वक अपने गृह में अतिथि को प्रवेश करावे। इसको प्रतिग्रहण या पड़गाहना कहते हैं। पश्चात् पात्र को (२) उच्च स्थान अर्थात् पाटला (चौकी) पर स्थित करके (३) प्राशुक जल से चरण धोवे (अंग पोंछे), (४) अष्ट द्रव्य से पूजन करे (५) अष्टांग[1] नमस्कार करे, (६) मनशुद्धि, (७) वचनशुद्धि, (८) कायशुद्धि, और (९) भोजनशुद्धि[2] करे। इस प्रकार नवधाभक्ति एवं शुद्धिपूर्वक सर्व प्रकार

---

१. **दोहा**—शिर, नितंब, उर, पीठ, कर जुगल जुगल पद टेक।
अष्ठ अंग मे तन विषैं, और उपंग अनेक ॥१॥

२. भोजन शुद्धिमें द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावकी शुद्धिपर ध्यान रखना चाहिये अर्थात् भोजनके पदार्थ शुद्ध मर्यादित तथा रसोई बनानेकी सामग्री, बर्तन, लकड़ी वगैरह शुद्धनिर्जन्तु होना चाहिए। रसोई बनानेवाला रसोईके बनाने की विधिका ज्ञाता, धर्मबुद्धि हो। रसोई करने तथा आहार देने का स्थान, चँदोवा सहित, मिट्टीसे लिपा हुआ, स्वच्छ, निर्जन्तु होना चाहिये। रसोई ठीक समय पर तयार होकर सामायिकके पेश्तर (दश और ग्यारह बजे के बीच में) देना चाहिये। पवित्र और उत्साहित चित्त होकर अपनी योग्यतानुसार, अपनी गृहस्थी के लिए तय्यार हुए भोजन में से पात्रदान करे, पात्रके निमित्त न बनावे। आहार में कोई भी पदार्थ सचित्त न हो।

भोज्य पदार्थ अलग-अलग कटोरी में रखकर थालीमें लेकर मुनिराज के सन्मुख खड़ा होवे और ग्रास बना-बना कर उनकी हस्तांजलीमें देवे (वृद्ध विद्वानों का वाक्य है कि अन्नके एक ग्रास बाद हस्तांजलीमें प्राशुक जलका एक ग्रास देवे) मुनिउत्कृष्ट ३२ ग्रास लेते हैं। जब भोजन कर चुकें, और ग्रास हस्तमें न लें, तब जलके ग्रास देवे तथा उनका मुंह-हाथ अच्छी तरहसे धोवे, पोंछे। कमंडलको धोकर-साफकर प्राशुक जल[1] भर देवे। यह बात ध्यानमें रहे कि मुनिराज तथा उत्कृष्ट श्रावकके पधारनेसे भोजन करलेनेके समय तक घरमें दलना, पीसना, रसोई आदि कोई भी आरम्भ-सम्बन्धी काम तथा अन्तराय होने सरीखे काम न करे। यदि कमंडल पीछी या शास्त्रकी आवश्यकता देखे, तो बहुत आदर एवं विनयपूर्वक देवे। यह मुनिके आहारदानकी विधि है। आर्यिका भी उत्तम पात्र हैं। वे बैठकर मुनि की नांई करपात्रमें आहार करती हैं। सो उनकोभी उनके योग्य आदर-भक्तिपूर्वक आहारदान करे। पीछी, कमंडल, सफेद साड़ी, की आवश्यकता देखे तो देवे। यदि पात्र को कोई रोग हो तो भोजनके साथ या अलग, जैसा योग्य हो औषधि देवे।

मध्यम पात्र ऐल्लक बैठकर करपात्रमें और क्षुल्लक पात्रमें लेकर भोजन करते हैं। (इसकी विधि ग्यारहवीं प्रतिमामें स्पष्ट कही है)। इनको इनके योग्य तथा ब्रह्मचारी या व्रती श्रावक को उनके योग्य प्रतिग्रहण करके आदर, यथायोग्य विनय एवं भक्तिपूर्वक दान करे। वस्त्र, पिछौरी, लंगोटी, कमंडल, पीछी, शास्त्र आदि जो उनको चाहिये सो उनके योग्य देवे, कमण्डल तथा धातुपात्रमें प्राशुक जल भर देवे। इनको अष्टांग नमस्कार या पूजन करनेकी शास्त्राज्ञा नहीं है। पूजनकी विधि तो केवल निर्ग्रन्थ-मुनियों के लिये ही कही गई है।

दशवीं-ग्यारहवीं प्रतिमावालों को तथा मुनिराज को उनके निमित्त बना हुआ "उद्देशिक आहार" नहीं देना चाहिये, अपने घरमें जो नियमित आहार बने, उसीमेंसे देना चाहिये।

समदत्ति— सामान्य आदार-सत्कार एवं हर्षपूर्वक अपने बराबरीके साधर्मियोंकी सहायता धन-वस्त्र, स्थानादिसे करना चाहिए। अपना बड़प्पन

१. जल एक उकोली आवे ऐसा गर्म होनेपर उतार कर ठंडा करले। यही जल भोजनके समय देने तथा कमण्डलमें भरनेके काम लावे।

बताना, अभिमान करना और उनका निरादर करना योग्य नहीं है, क्योंकि धर्मपद्धतिकी मुख्यतापूर्वक उनकी सहायता की जाती है।

दयादत्ति—दुखित व भूखे जीवोंको दयापूर्वक औषधि, अन्न, वस्त्र देना योग्य है। नकद पैसा न देना चाहिये। नकद देनेसे वे लोभके वश पैसा एकत्र करते जाते और उनका सदुपयोग नहीं करते, जिससे वह द्रव्य व्यर्थ जाता है, अथवा वे दुरुपयोग करते हैं जिससे उल्टा पाप लगता है। हट्टे-कट्टे, मिथ्यात्वी, दुर्गुणी, मस्तलोगों को दान देना दयादत्ति नहीं, किन्तु पापदत्ति है। इनको दान देनेके बदले धनको अंधकूप में डाल देना अच्छा है। दातारको चाहिये कि बहुत विवेकपूर्वक अपने परिश्रम एवं न्यायसे कमाये हुए द्रव्य का सदुपयोग करे।

दाता व पात्र दोनों के जानने तथा दोषोंसे बचनेके लिये आहार सम्बन्धी ४६ दोषोंका वर्णन मुनिधर्म प्रकरण में किया गया है।

दान का फल

निर्दोष एवं विधिपूर्वक पात्र दान करनेसे गृहस्थों के आरंभ सम्बन्धी षट्कर्म-जनित पाप क्षय होजाते और सातिशय पुण्य का संचय होता है। तपस्वी-मुनियों को नमस्कार करने से उच्च गोत्रका बंध होता, दान देनेसे दानान्तरायका क्षयोपशम होता और भक्ति करनेसे सुन्दर रूप और स्तुति करने से कीर्ति होती है। पात्रको दिया हुआ दान उत्तम फलयुक्त वृक्षके समान सुखदाई और मनवांछित फलको उत्पन्न करनेवाला होता है। दानके फलसे मिथ्यादृष्टि भोगभूमिके सुख, सम्यग्दृष्टि स्वर्गके सुख भोगता हुआ परंपरासे मोक्ष पाता है। दानके फलकी महिमा यहां तक है कि तीर्थंकर भगवान् को प्रथम पारणा करनेवाला तद्भवमोक्षगामी होता है।

कुपात्र-दानके फलसे कुभोग भूमिके सुख तथा समदत्ति और दयादत्ति से पुण्य का बंध होकर स्वर्ग के सुख मिलते हैं। इसके विपरीत अपात्रों को दान देना पाप का बंध करनेवाला उल्टा दुखदाई होता है क्योंकि इससे मिथ्यात्व तथा पाप की वृद्धि होती है जिससे दाता और पात्र दोनोंको नीच गति की प्राप्ति होती है।

यहां पर यह प्रश्न उत्पन्न हो सकता है कि इस कलिकालमें योग्य-पात्र की प्राप्ति तो दुर्लभ हो गई, फिर हम किसकी वैयावृत्ति करें ? किसको

दान देवें ? उसका समाधान यह है कि यदि उत्तम पात्र न मिले तो मध्यम तथा जघन्य पात्रोंकी यथायोग्य सेवा-सहायता करो, उनके श्रद्धान, ज्ञान, चारित्रकी वृद्धिका पूरा-पूरा यत्न को, जिससे वे उत्तम पात्र बननेके उत्साही हों। इसके सिवाय पंच-परमेष्ठी गर्भित जिनबिम्बकी पूजन करो जो उत्तम दान एवं उत्कृष्ट वैयावृत्यके फलको देनेवाले हैं।

जिनेन्द्रपूजन करनेका अभिप्राय केवल वैयावृत्य और दान द्वारा पुण्य बंध करके स्वर्गसुखोंकी प्राप्ति करना मात्र ही नहीं है किन्तु चित्तवृत्ति को संसारसे फेरकर, वीतराग रूप करके धर्मध्यान शुक्लध्यानमें लगाकर परमात्मपनेकी प्राप्ति करना है। जिस प्रकार किसी सांसारिक कार्यको समुचित रीतिसे करने से वह सफल होता है, उसी प्रकार अनुभवपूर्वक एकाग्रचित्त करके पंच-परमेष्ठीके दर्शन, पूजन, वंदना करनेसे मोक्ष सरीखे अलौकिक सुखकी प्राप्ति हो सकती है। ऐसा जानकर प्रत्येक गृहस्थका कर्तव्य है कि यथाशक्ति नित्य धार्मिक षट्कर्मों में प्रवृत्ति करे। सो ही शास्त्रोंमें कहा है :—

श्लोक—देवपूजा, गुरूपास्तिः स्वाध्यायः संयमस्तपः।
दानंचेति गृहस्थानां षट् कर्माणि दिने-दिने ॥१॥

अर्थ—गृहस्थोंको, देवपूजा, गुरु-उपासना, स्वाध्याय संयम, तप और दान ये षट्-कर्म नित्य करना चाहिये।

पात्रदानके पंचातीचार—(१) दान में दी जानेवाली वस्तु हरित पत्रमें रखना (२) हरित पत्रसे ढांकना (३) अनादरसे दान देना[1] (४) दानकी विधि भूल जाना या दान देनेकी सुधि न रखना (५) ईर्ष्या बुद्धिसे दान देना।

प्रगट रहे कि अतीचार पात्रके आहारदानकी मुख्यता से कहे गए हैं अतएव अतीचार बचाने और अतिथि-संविभाग व्रतको निर्दोष पालनेके लिये दातार संबंधी जो-जो दोष बताये गये हैं उनको न लगने देना चाहिये।

---

१. तत्त्वार्थसूत्रजी में अनादरकी जगह परव्यपदेश अर्थात् दूसरेसे भोजन देनेको कहकर आप और काम में लग जाना और दानकी सुधि भूल जानेकी जगह आहारका समय टाल आहार देना कहा है सो इन दोनों का प्रयोजन एक ही है केवल शब्द मात्रका अन्तर है।

अतिथि-संविभाग अर्थात् दान देनेसे लोभादि कषायोंकी मंदता होती तथा धर्म और धर्मात्मा में अनुरागरूप परिणाम होनेसे तीव्र पुण्यबंध होता है तथा पात्र के शरीरकी स्थिरता होनेसे धर्मसाधन होकर उसे भी स्वर्ग-मोक्ष की प्राप्ति होती है।

व्रती श्रावकके टालने योग्य अन्तराय[१]—(१) **देखनेके**—१ गीला चर्म २ हड्डी ३ मांस ४ चार अंगुल रक्तकी धार ५ मदिरा ६ विष्ठा ७ जीवहिंसा ८ गीली पीव (राध) ९ बड़ा पंचेन्द्री मरा हुआ जानवर (मुर्दा) १० मूत्र, इनके देखने से अंतराय होता है।

(२) **स्पर्शके**—१ चर्मादि अपवित्र पदार्थ २ पंचेन्द्री बड़ा पशु ३ अव्रती पुरुष[२] ४ रजस्वला स्त्री ५ रोम या केश ६ पंख ७ नख ८ आखड़ी भंग करने वाले पुरुष या शूद्रका स्पर्श हो जाय अथवा अपने शरीर या हाथसे कोई छोटा-बड़ा त्रस जीव अचानक मर जाय या मरे हुएका स्पर्श हो जाय तो अंतराय होता है।

(३) **सुननेके**—१ मांस २ मदिरा ३ अस्थि ४ मरण होने की आवाज ५ अग्नि लगने आदि उत्पातके शब्द ६ अति कठोर "इसको मारो काटो" आदि शब्द ७ करुणाजनक रोने का शब्द ८ स्वचक्र-परचक्रके गमन का शब्द ९ रोग की तीव्रता का शब्द १० धर्मात्मा पुरुषके उपसर्गके समाचार ११ मनुष्य के मरनेके समाचार १२ नाक-कान छिदने (कटने) का शब्द १३ चांडालका शब्द १४ जिनबिम्ब, जिनधर्म और धर्मात्माके अविनयका शब्द १५ किसी अपराधीके फांसीके समाचार। इनके सुननेसे अन्तराय होता है।

(४) **मनके संकल्पके**—भोजन करते समय ऐसा विचार उत्पन्न हो कि यह अमुक भोज्यपदार्थ चाम-मांस-हाड़-रक्त-मदिरा-मल-मूत्र आदि निषिद्ध पदार्थ सरीखा है, ऐसी ग्लानि होने अथवा भोजन समय मल-मूत्र करने की शंका होनेसे अंतराय होता है।

---

१. सिद्धभक्ति किये पीछे अंतराय माना जाता है (२) जिसके दो बार भोजन करनेका नियम हो, वह अंतराय होनेपर अंतर्मुहूर्त पीछे पुनः भोजन कर सकता है, ऐसा स्व० ब्र० शीतलप्रसादजी ने त्रिवर्णाचारके आधार से अपने "गृहस्थ धर्म" में लिखा है।

२. जिसका निंद्य तथा भ्रष्ठ आचरण हो, जो जिनधर्म रहित हो, सप्तव्यसन सेवन करनेवाला तथा भ्रष्ट मूलगुणरहित हो, सो अव्रती जानना।

(५) **भोजनके**—यदि कोई त्यागा हुआ पदार्थ भोजन करने (खाने) में आ जाय तो भोजन तजे।

व्रती श्रावकके करने योग्य विशेष क्रियाएं—१. विशेष हिंसाके, निंद्य तथा निर्दयताके धंधे न आप करे, न औरों को करावे, और न इनकी दलाली करे जैसे, लाख-मोम-गोंद-लोहा-शोरा-सीसा-हथियार-जूता बेचना आदि, खात का ठेका लेना, वृक्ष काटना, घास काटना, तेल पेरना, हलवाईगिरी करना, बनकटी करना आदि, शराब-गांजा-अफीम आदि मादक पदार्थों का ठेका लेना-बेचना, गाड़ी, घोड़ा आदि के किरायेका धंधा करना।

यद्यपि व्रतप्रतिमामें केवल संकल्पी त्रस-हिंसाका त्याग होता है, आरंभीका नहीं तथापि अयत्नाचार पूर्वक होनेवाली आरम्भी हिंसा भी संकल्पीके भाव को उत्पन्न करती है, ऐसा शास्त्रों का वाक्य है। जैसे राज्य करना क्षत्रिय का आरंभ है अतएव प्रजा की रक्षा के लिए युद्ध करना, इस प्रकार की विरोधी हिंसा का त्याग करना उसके लिए अशक्य है, तथापि इसमें यत्नाचारका अत्यंत अभाव है। युद्ध महान् आरम्भ और हिंसा का कारण है। युद्धकर्त्तासे सामायिक, प्रोषधादि व्रतों का निर्विघ्न और यथायोग्य पालन होना असंभव है, इसलिये व्रती स्वतः अपने तईं युद्ध न करे, सेनापति, कुटुम्बी, भृत्यादि जो युद्ध करने योग्य हों, सो करें। इसी प्रकार प्रचुर आरंभ और हिंसा का मूल खेती का धंधा है, इसमें भी यत्नाचारका अभाव आदि युद्ध के सदृश सभी दोष उत्पन्न होते हैं अतएव व्रती पुरुष खेती अपने हाथ से न करे, जिसके परंपरासे होती आई हो, वह खेत बेचे, अपने कुटुम्बी, भृत्यजन आदिसे करावे अथवा इस धंधे को छोड़कर और कोई हिंसारहित धंधा करे।

यहां कोई सन्देह करे, कि कृषि वाणिज्यादि आरम्भका त्याग जब अष्टम प्रतिमामें कहा है तो व्रतप्रतिमा में इसका निषेध कैसा? उसका समाधान—जैसे छठी प्रतिमामें रात्रिभुक्ति त्याग कहा है तो इससे यह सिद्ध नहीं होता कि पांचवीं प्रतिमावाला रात्रिभोजन करता होगा। नहीं-नहीं रात्रिभोजन का त्याग तो प्रथम प्रतिमामें ही हो चुका है, छठीमें तो केवल कारितअनुमोदना सम्बन्धी अतीचारोंका त्याग होता है। इसी प्रकार पांचवीं प्रतिमामें बीज, कंद-मूलादि सचित भक्षणका त्याग कहा है इससे कोई ऐसा न समझे कि चौथी प्रतिमावाला कन्द-मूल खाता होगा। नहीं-नहीं,

इनका त्याग दर्शनप्रतिमाके २२ अभक्ष्यमें तथा रहा-सहा व्रत-प्रतिमाके अनर्थदंडत्यागव्रत में हो चुका है। पंचम प्रतिमामें तो केवल सचित्तका त्याग कराया है। इन दोनों दृष्टान्तों से भलीभांति समझमें आजायगा कि सप्तम प्रतिमावाला ब्रह्मचारी होकर कदापि अपने हाथ से खेती नहीं करता। भला वह सचित्तत्यागी, रात्रिभुक्तित्यागी, ब्रह्मचारी होकर हलबखर लेकर खेत जोते और प्रत्यक्ष छोटे-बड़े हिलते-चलते त्रस जीवोंका निर्भयता पूर्वक घात करे, यह कैसे संभव हो सकता है ? कदापि नहीं।

इसमें संदेह नहीं कि अल्प आरंभी, अल्प परिग्रही श्रावक ही भाव-शुद्धिपूर्वक अणुव्रतोंका पालन कर सकता है। कषाय मंद होकर जिस-जिस प्रकार प्रतिमा बढ़ती जाती है वैसे-वैसे ही इन्द्रियोंके विषय, आरंभ, परिग्रह घटते जाते हैं। यहां कोई प्रश्न करे कि जिसका धंधा ही खेती या युद्धका हो, वह क्या करे ? उसका समाधान—जो परिणामोंकी विशुद्धतापूर्वक अहिंसादि अणुव्रत, सामायिक आदि शील पालना चाहे तो खुद अपने हाथसे ऐसी दीर्घ हिंसा एवं आरंभके कार्य न करे, अपने कुटुम्बी, परिकर, नौकर-चाकरों को करने दे और आप ऐसे धंधे छोड़ अल्प आरंभ-परिग्रहके धंधे करे।

२. आंखों दीखते त्रस जीवोंका घात न करे। जितने कार्य गृहस्थ-सम्बन्धी या धर्मसम्बन्धी व्रतीके करने योग्य हों, सब में यत्नाचारपूर्वक देख-शोधकर प्रवृत्ति करे, क्योंकि अयत्नाचारपूर्वक प्रवृत्ति करने से हिंसा न होते हुए भी हिंसा सम्बन्धी पापास्रव होता है।

३ एक जीवको मार डालने से बहुत जीवों की रक्षा होती है, ऐसा मानकर सर्प, बिच्छू, सिंहादि हिंसक जीवोंको न मारे। प्रश्नोत्तरश्रावकाचार में स्पष्ट कहा है कि व्रत प्रतिमावाला, शत्रुको भी मूकी-लाठी आदि से नही मारता तो सिंहादि का मारना कैसे संभव है ? कदापि नहीं। इसी प्रकार देव, गुरु, धर्मके निमित्त भी कभी भूलकर हिंसा न करना चाहिये और न दुखी जीवोंको दुखसे छूट जाने के अभिप्रायसे मारना चाहिये।

४. सदा उठते-बैठते चलते-फिरते कोई भी कार्य करते इस बातका विचार रखना चाहिये कि मेरे ही समान सब जीवों को सुख-दुख व्यापता है, इसलिये जिस प्रकार रोजगार धंधों में हिंसा, झूठ आदि की प्रवृत्ति कम होती देखे, उसी तरह शरीर तथा कुटुम्बका पालन करता हुआ प्रवर्ते,

इसीलिए व्रती श्रावक को "अल्पसावद्यआर्य" संज्ञा है। सागारधर्मामृतमें भी कहा है कि व्रती अल्पसावद्ययुक्त आजीविका करे।

५. हिंसा तथा व्रतभंग से बचनेवाली नीचे लिखी बातों पर ध्यान देवे (१) रात्रिका बनाया हुआ भोजन भक्षण न करे (२) जाति-बिरादरीके बड़े-बड़े जीमणों (जेंवनारों, दावतों, गोटों) में भोजन न करे, क्योंकि वहां शुद्ध-अशुद्ध, भक्ष्य-अभक्ष्य, मर्याद-अमर्याद, छनापानी-अछनापानी आदि बातों का कुछ भी विचार नहीं रहता (३) रसोई बनाते या जीमते वक्त शुद्ध, धोया हुआ वस्त्र पहिने (दौ. क्रि. को.) (४) नीच तथा निकृष्ट धंधे करनेवालों से लेने-देने, बैठक-उठक आदि व्यवहार न रक्खे (५) बाग-बगीचेमें भोजन अथवा गोट न करे (६) पशु-मनुष्यादिका युद्ध न देखे (७) फूल न तोड़े (८) जलक्रीड़ा न करे (९) रात्रिको खेलकूद तथा व्यर्थ दौड़-भाग न करे (१०) जहां बहुत स्त्रियां एकत्र होकर विषय-कषाय बढ़ानेवाले गीतगान करती हों ऐसे मेलेमें न जावे और न विषय-कषाय बर्द्धक नाटक खेलादि देखे (११) होली न खेले (१२) गाली न देवे, हंसी-मसखरी न करे (१३) चमड़ेके जूते न पहने (१४) ऊनी वस्त्र न पहिने (१५) हड्डीके बटन आदि पदार्थ काममें न लावे (१६) धोबी से कपड़े न धुलावे[1] (१७) पानीके नलोंके डांटों में यदि चमड़े का पर्दा लगा रहता हो तो नलका पानी दर्शन प्रतिमाधारी को न पीना चाहिये। यदि चमड़ा न लगा हो और जीवाणी (बिछलानी) डालने का सुभीता न हो तो व्रतप्रतिमा-धारी न पीवे, क्योंकि जीवाणीको उसी जल स्थानमें डाले बिना, त्रसहिंसा का दोष आता है (१८) धर्मसंग्रह श्रावकाचार में कहा है कि व्रती अनछने जलसे स्नान तथा शौच न करे (१९) व्रती श्रावक उत्तम वंश अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यके हाथ का भरा हुआ जल पीवे, जो विधिपूर्वक जल छानना जानता हो (दौ. क्रि. को.) (२०) घड़ी दो दिन रहेसे घड़ी दिन चढ़े तक हिंसाकी निवृत्तिके लिए आहार-पानी न लेवे (२१) जिस देश या क्षेत्रमें व्रतभंग होता हो वहां न जावे (२२) व्रती मौनसहित[2] अन्तराय टाल

---

१. अगर कपड़े धोना हो तो जलस्थान से अलग छने पानी से धोवे।

२. व्रती श्रावकको भोजन के समय कोई भी चीज लेनेके लिये भौंह, आंख, हुंकार, हाथ, पांव आदि का इशारा न करना चाहिये, नाहीं करने के लिए इशारा करने की रोक नहीं है। **मौन** रखके तथा **अंतराय** पालने से जिह्वा इन्द्रिय वश होती, सन्तोष भावना पलती, वैराग्य दृढ़ होता, संयम पलता, चित्त स्थिर रहनेसे एषणासमिति पलती तथा वचनकी सिद्धि आदि अनेक अतिशय उत्पन्न होते हैं।

भोजन करे (२३) दर्शन-पूजन दानपूर्वक भोजन करे (२४) रातको स्नान न करे, इसमें विशेष त्रस हिंसा होती है (दौ. क्रि. को.) (२५) व्रत प्रतिमासे लेकर ११वीं प्रतिमा तक रात्रिको एकांत स्थानमें नग्न ध्यान धर सकता है। दिनको तथा सर्व स्त्री-पुरुषोंके आने जाने के स्थानमें ध्यान न धरे (पीयूषवर्षश्रावकाचार)।

व्रती श्रावक सात जगह मौन रखे—(१) भोजन-पान (२) स्नान (३) मलमोचन (पेशाब-पखाना) (४) मैथुन (५) वमन (६) पूजन (७) सामायिकके समय। तथा सात जगह चंदोवा बांधे—(१) चूल्हा अर्थात् रोटी बनाने की जगह तथा भोजन करने की जगह (२) परिंडा (घिनौची) पर (३) घट्टी (चक्की) पर (४) ऊखली पर (५) अनाज आदि रसोईके सामान साफ करनेकी जगह पर (६) सोने-बैठनेकी जगह पर (७) सामायिक-स्वाध्याय करने की जगह पर।

तृतीय सामायिक प्रतिमा

सामायिक शिक्षा व्रतमें कह ही आये हैं कि रागद्वेष रहित होकर शुद्धात्मस्वरूपमें उपयोग को स्थिर करना सो यथार्थ सामायिक है। इस सामायिकको सिद्धिके लिये श्रावक अवस्थामें द्वादश अनुप्रेक्षा, पंचपरमेष्ठी, आत्माके स्वभाव-विभावोंका चिंतवन एवं आत्मस्वरूपमें उपयोग स्थिर करने का अभ्यास करना, सो सामायिकप्रतिमा है।

यहां प्रश्न उत्पन्न होता है कि सामायिक-व्रत और सामयिक प्रतिमामें क्या अन्तर है? उसका सामाधान-शिक्षाव्रत में समयकी मर्यादा अथवा शाम-सुबह-दोपहरको नियमित समय से कुछ आगे-पीछे, कालका अंतर पड़ने सम्बन्धी दोष आता था, अथवा सामायिकव्रती कदाचित् (कभी) कारण विशेषसे प्रातःकाल संध्याकाल दो ही समय सामायिक करता था परन्तु यहां प्रतिमारूप होनेसे नियमपूर्वक त्रिकाल यथावत् सामायिक करता है। सामायिक व्रतमें लगनेवाले उपर्युक्त दोष ऐसे नहीं थे, जिनसे सामायिक व्रत भंग हो जाय। केवल सूक्ष्म-मलरूप थे, अतः यहां उनका अभाव हुआ। सामायिक प्रतिमावाला निर्दोष सामायिक करे और नीचे कहे हुए ३२ दोष न लगावे, उपसर्ग आने पर भी प्रतिज्ञासे न टले और रागद्वेषरहित हुआ सहन करे।

सामायिक सम्बंधी ३२ दोष—(१) अनादरसे सामायिक न करे (२) गर्वसे सामायिक न करे (३) मान-बड़ाईके लिये सामायिक न करे(४) दूसरे जीवों को पीड़ा उपजाता हुआ सामायिक न करे (५) हिलता हुआ सामायिकन करे (६) शरीरको ठेढ़ा रखता हुआ सामायिक न करे (७) कछुयेकी नांई शरीर को संकोचता हुआ सामायिक न करे (८) सामायिकके समय मछली की नांई नीचा-ऊंचा न हो (६) मनमें दुष्टता न रखे (१०) जैनमतकी आम्नायके विरुद्ध सामायिक न करे (११) भययुक्त सामायिक न करे (१२) ग्लानि सहित सामायिक न करे (१३) मनमें ऋद्धिगौरव रखता हुआ सामायिक न करे (१४) जात-कुलका गर्व रखता हुआ सामायिक न करे (१५) चोरकी नांई छिपता हुआ सामायिककी क्रिया न करे (१६) सामायिकका काल व्यतीत होने पीछे सामायिक न करे अर्थात् समय पर करे (१७) दुष्टतायुक्त सामायिक न करे (१८) दूसरेको भय उपजाता हुआ सामायिक न करे (१६) सामायिकके समय सावद्य वचन न बोले (२०) परकी निंदा न करे (२१) भौंह चढ़ाकर सामायिक न करे (२२) मनमें संकुचाता हुआ सामायिक न करे (२३) दशों दिशाओंमें इधर-उधर अवलोकन करता हुआ सामायिक न करे (२४) स्थानके देखे-शोधे बिना सामायिकको न बैठे (२५) जिस-तिस प्रकार सामयिकका काल पूरा न करे (२६) सामायिक की सामग्री लंगोटी-पूजणी-क्षेत्र आदिके मिलने पर या न मिलने पर सामायिकमें नागा न करे (२७) वांछायुक्त हुआ सामायिक न करे (२८) सामायिकका पाठ हीन न पढ़े अथवा सामयिक का काल पूरा हुए बिना न उठे (२६) खंडित पाठ न पढ़े (३०) गूंगेकी नांई न बोले (३१) मैंढककी नांई ऊंचे स्वर से टर्र-टर्र न बोले (३२) चित चलायमान न करे।

चतुर्थ प्रोषध प्रतिमा

प्रोषध—शिक्षाव्रतमें प्रोषधोपवासकी विधि विस्तारपूर्वक वर्णन कर ही आये हैं, वही सब क्रिया यहां समझना चाहिये। यद्यपि वहां पर भी मल दोष न लगनेकी पूरी खबरदारी रक्खी जाती थी, तो भी कारण विशेषसे प्रोषध-व्रतमें एक बार उष्ण-जल लेने अथवा एकासना करनेकी भी प्रतिज्ञा लेकर तदनुसार ही व्रत पालन किया जाता था। अब यहां प्रोषध प्रतिमा प्रतिज्ञारूप है, इसलिये परीषह उपसर्ग आनेपर भी शक्ति को न छिपाकर प्रत्येक अष्टमी-चतुर्दशीको यथाशक्य उत्कृष्ट मध्यम-जघन्य

प्रोषधोपवास कर सामायिकवत् १६ पहर तक आहार, आरम्भ, विषय, कषाय रहित होकर उत्कृष्ट प्रवृत्ति करना चाहिये।

पांचवी सचित्त त्याग प्रतिमा

जो दयालु पुरुष कच्चे (सचित) कन्द, मूल, फल, शाक, शाखा, करीर (अंकुर अथवा गाभा) पुष्प, बीज आदि भक्षण करनेका त्याग करता है वह सचित्तत्याग प्रतिमाधारी कहाता है।

सचित्तभक्षण का त्याग स्वदया (आत्मदया), परदया एवं जिह्वा वश करने अथवा अन्य-अन्य इन्द्रियोंके दमनार्थ किया जाता है। जो सचित्त त्यागी हैं, वे श्री जिनेन्द्रदेवकी आज्ञा और प्राणियोंकी दया पालते हुए धर्ममें तत्पर होते हुए अति कठिनतासे जीती जानेवाली रसना-इन्द्रियको वश करते हैं।

कच्ची वनस्पति, कच्चा जल और बीज[1] इन सब सचित्त पदार्थों को अचित्त होनेपर भक्षण करनेका अभिप्राय यही है कि जिससे स्थावर कायके जीव भी भक्षण करनेमें न आवें और अचित्त पदार्थोंके भक्षण करनेका रसना इन्द्रियका स्वभाव पड़ जाय। इसीलिये जलको गर्म करके अथवा तिक्त द्रव्य डालकर, तरकारीको सुखाकर, सिझाकर या छोटे-छोटे टुकड़े करके उसमें सर्वांग तिक्त द्रव्यका असर पहुंचाकर तथा बीजको बांटकर या पीसकर अचित करके खाते हैं।

यहां "कन्द-मूलादि सचित्त भक्षण न करे" यह कहा है, इससे कोई ऐसा न समझ ले कि चौथी प्रतिमावाला सचित्त कन्दमूल खाता होगा, इसीलिये पांचवीं प्रतिमावालेके लिये इस अनन्त काय (कन्द-मूलादि) को अचित करके भक्षण करनेकी विधि बताई है। नहीं-नहीं ! कन्दमूलादि अनतकाय वा पुष्पादि त्रसजीवोंसे सशंकित वनस्पतियोंका त्याग तो भोगोपभोग परिमाणव्रतमें ही हो चुकता है, यहां तो केवल सचित्तत्याग और अचित्त भक्षणकी विधि होनेसे सामान्य रीतिसे कन्द-मूल-पुष्प-फलादि सभी सचित्त वनस्पतियोंके नाम-मात्र आचार्यों ने कहे हैं। सचित्तत्यागीने पहिले भोगोपभोग परिमाण व्रतमें जितनी सचित्त-वस्तुओंके भक्षण

---

१. सूखा बीज योनिभूत होनेसे शास्त्रोंमें उसे सचित कहा गया है और हरा बीज तो सचित्त है ही।

करनेका प्रमाण किया हो, उन्हींको अचित्त हुई खावे और जिनका अचित्त-सचित्त दोनों भंगोंसे त्याग कर दिया हो, उनको अचित्त भी न खावे। इसी अभिप्रायको लेकर सकलकीर्ति श्रावकाचारमें कहा है कि सचित्तत्यागी, भोगोपभोगपरिमाण व्रतमें त्यागकी हुई वनस्पतियोंको अचित भी न खावे।

प्राशुक (अचित्त) करने की विधि

गाथा

सुक्कं, पक्क, तत्तं आमललवणेहि मिस्सियं दव्वं ।
जं जंतेण य छिण्णं, तं सव्वं फासुयं भणियं ॥ १ ॥

अर्थ—सूखा हुआ, अग्नि तथा धूप द्वारा पका हुआ, गर्म हुआ, खटाई-लवण मिश्रित हुआ, यंत्रद्वारा छिन्न-भिन्न अर्थात् टुकड़े-टुकड़ हुआ, पिसा हुआ, दला हुआ, रगड़ा या बांटा हुआ निचोड़ा हुआ ये सब आचार्यों द्वारा प्राशुक कहे गये हैं।

सचित्तत्यागी धूप द्वारा पके हुए फलोंमें गुठली (बीज) सचित होनेके कारण, फलोंमेंसे अलग हुआ गूदा भक्षण करते हैं। यदि गूदा सशंकित सचित्त हो तो छिन्न-भिन्न हुआ तथा लवणादि तिक्तद्रव्य-मिश्रित हुआ खाते हैं।

सचित्तत्यागी अपने हाथोंसे यत्नाचारपूर्वक रसोई बना सकता है अर्थात् अन्न-जल सागादि सामग्री अचित्त करके खा सकता है क्योंकि इस प्रतिमामें केवल जिह्वा इन्द्रियकी लोलुपता घटानेका मुख्योद्देश है, आरम्भ त्यागका नहीं। ज्ञानानंदश्रावकाचारमें भी कहा है कि "सचित्त भक्षण करनेका त्याग तो पांचमी प्रतिमाधारीके होता है और शरीरादिकसे स्पर्श का त्याग मुनिके होता है" इससे सिद्ध हुआ है कि इस प्रतिमामें सचित्त-भक्षणमात्रका त्याग है। तो भी सागारधर्मामृत और धर्मसंग्रह श्रावकाचारमें कहा है कि "सचित्त त्यागी, सचित्त वस्तुका भक्षण करना तो दूर, पांवसे भी न छूवे। पृथ्वी अग्नि, पवन कायादिकी दया पाले"। क्रियाकोषीमें भी कहा है कि हाथ-पांव धोनेको सचित्त मिट्टी न लेवे। इन उपर्युक्त वाक्योंसे यद्यपि परस्पर विरोधसा जान पड़ता है, तथापि विचार करनेसे यही सिद्ध होता है कि अपने प्रयोजनके वश रसोई बना सकता है। जल, अन्न, साग तरकारी आदि प्राशुक करके भक्षण कर सकता है। क्योंकि यहां आरम्भका त्याग नहीं है, तोभी निरर्थक एकेन्द्रीकी भी हिंसा नहीं करता।

सचित्तत्यागी रसोईमें ऊपरसे नमक डालकर न खावे क्योंकि नमक सदा सचित्त कहा गया है। मिट्टीसे दांत न मले, सूखा फल भी बीज सहित न खावे, क्योंकि उसमें बीज सचित्त होता है। पुनः सचित्तत्यागी किसी प्रकारका सचित्त दूसरोंको भी न खिलावे ऐसा स्वामिकार्त्तिकेय अनुप्रेक्षा और समाधितंत्रमें कहा है।

सचित्तत्याग प्रतिमा धारण करनेसे जिह्वा इन्द्रिय वशमें होती, और दया पलती है। बात-पित्त-कफका प्रकोप न होनेसे शरीर नीरोग रहता, शारीरिक-शक्ति बढ़ती, कामवासना मन्द पड़ती है जिससे चित्तकी चंचलता घटती है। अतएव सचित्तत्याग पुण्यबंधका कारण तथा धर्मध्यान में सहकारी होनेसे परंपराय मोक्षकी प्राप्तिका भी निमित्त कारण है।

छठी रात्रि-भुक्तित्याग प्रतिमा

इस प्रतिमाका शास्त्रोंमें दो प्रकारसे वर्णन किया गया है एक तो कृत-कारित-अनुमोदनासे रात्रि भोजनका त्याग करना। दूसरे दिनको स्त्री-सेवनका त्याग करना। ये दोनों प्रकारके त्यागी रात्रिभुक्तत्यागी कहाते हैं। इनका स्पष्ट स्वरूप इस प्रकार है—

(१) यद्यपि मांस-दोषकी अपेक्षा दर्शन प्रतिमामें और बहु-आरम्भजनित त्रस-हिंसाकी अपेक्षा व्रत प्रतिमामें रात्रिको खाद्य-स्वादादि चारों प्रकारके आहारका अतीचारों सहित त्याग हो जाता है तथापि पुत्र-पौत्रादि कुटुम्बी तथा अन्य जनोंके निमित्तसे कारित-अनुमोदनासम्बन्धी जो दोष आते हैं, उनके यथावत् त्यागकी प्रतिज्ञा यहां होती है। रात्रिभुक्त-त्यागी अपने पुत्रादि कुटुम्बियों तथा घर आये हुए पाहुनोंको भी रात्रि भोजन नहीं कराता, न करते हुओंकी अनुमोदना करता है। यहां तक कि रात्रिको भोजन-अन्नादिका दान भी नहीं करता।

(२) इस प्रतिमावाला मन-वचन-काय, कृत-कारित-अनुमोदनासे दिनको स्त्री सेवनका त्यागी होता है। इससे कोई ऐसा न समझ ले कि पांचवीं प्रतिमावाला दिन को स्त्री सेवन करता होगा, नहीं! यहां तक इस सम्बन्धी कोई सूक्ष्म अतीचार रूप दूषण लगते थे, यहां उनकाभी त्याग हुआ (क्रिसन. क्रिया कोष)। सागारधर्मामृतमें स्पष्ट कहा है कि इस प्रतिमावाला स्त्रीके ऋतुमती होने पर चतुर्थ-स्नानके पीछे, संतानोत्पित्तके निमित्त रात्रिको कदाचित् ही सेवन करता है। यह अत्यन्त विरक्त, काम-इन्द्रिय दमन करने वाला होता है।

स्वामीकार्तिकेयानुप्रेक्षाकी संस्कृत टीकामें यह भी कहा है कि इस प्रतिमावाला रात्रिको गृहसम्बन्धी व्यापार, लेन-देन वाणिज्य-व्यवहार व गृहस्थीसम्बन्धी चूल्हा, चक्की आदि षट्कर्मोंका आरम्भ न करे अर्थात् सावद्य (पाप के) व्यापारों को छोड़े। दौलत-क्रियाकोषमें रात्रिको मौन करना भी कहा है। सो उसका भाव ऐसा भासता है कि भोजन-व्यापारादि संबंधी विकथा न करे, धर्मचर्चाका निषेध नहीं। समाधितंत्रमें कहा है कि रात्रिको गमन न करे। सो यहां भी धर्मकार्यके लिये यत्नाचार-पूर्वक गमन का निषेध न जानना, अन्य सांसारिक कार्योंके लिये गमनागमनका निषेध जानना।

जो पुरुष इस प्रकार निरतिचार रात्रिभोजनत्याग करता है, उसको रात्रिभोजनसंबंधी सम्पूर्ण पापास्रव रुक जाते और संयमरूप रहनेसे पुण्यका बंध होता है। पुन. दिनको कामसेवन सम्बन्धी दोषों के निवारण करनेसे शारीरिक बल, तेज, कान्ति बढ़ती और वीर्यान्तिरायका विशेष क्षयोपशम होकर ब्रह्मचर्य प्रतिमा धारण करने में सहायता पहुंचती है।

सप्तम ब्रह्मचर्य प्रतिमा

जो ज्ञानी पुरुष, स्त्रीके शरीर को मलका बीजभूत, मलको उत्पन्न करनेवाला, मलप्रवाही दुर्गंधयुक्त, लज्जाजनक निश्चय करता हुआ सर्व प्रकारकी स्त्रियों में मन-वचन-काय, कृत-कारित-अनुमोदनासे काम सेवन तथा तत्सम्बन्धी अतीचारोंका त्याग करता और ब्रह्मचर्यकी दीक्षामें आरूढ़ होता है सो ही ब्रह्मचारी ब्रह्मचर्य प्रतिमाधारी कहाता है।

ब्रह्मचारीके चेतन-अचेतन सर्व प्रकारकी स्त्रियों से उत्पन्न हुए मैथुनके दोषोंके त्यागसे नीचे लिखे अनुसार शीलके अठारह हजार भेद होते हैं। यद्यपि इन दोषोंका त्याग पाक्षिक अवस्थासे ही आरम्भ हो जाता है, तथापि स्त्री-सेवनका सर्वथा त्याग न होने से यथार्थ ब्रह्मचर्य नाम नहीं पा सकता। निरतीचार त्याग इसी प्रतिमा में होता है। यहां वेदकषायकी इतनी मंदता हो जाती है कि जिससे काम वेदना सम्बन्धी मूर्च्छा उत्पन्न ही नहीं होती। यही मंदता क्रमशः बढ़ते-बढ़ते नवमें गुणस्थानमें वेदकषायका सर्वथा अभाव हो जाता है, जिससे आत्मा वेद कषाय जनित कुशीलकी मलिनतासे रहित हो जाती है।

शीलके १८,००० भेद—देवी-मनुष्यनी-तिर्यंचनी तीन प्रकारकी चेतन स्त्रियोंको मन-वचन-काय तीनों योगों करके कृत-कारित-अनुमोदना द्वारा

स्पर्शन-रसन-घ्राण-चक्षु-श्रोत्र पंचेन्द्रियोंके वशीभूत होकर आहार भय मैथुन परिग्रह चार संज्ञाओं युक्त, द्रव्य भाव दो प्रकारसे अनन्तानुबन्धी आदि सोलह कषाय करके सेवन करने से (३×३×३×५×४×२×१६)= १७,२८० भेदरूप दोष चेतन स्त्री सम्बन्धी कुशील के होते हैं।

चित्र या लेप मिट्टीकी काष्ठकी पाषाणकी बनी हुई तीन प्रकारकी अचेतन स्त्रियों के मन-काय[1] दो योगों द्वारा कृत-कारित-अनुमोदना करके, पंच इन्द्रियोंके वशीभूत, ४ संज्ञायुक्त, द्रव्य-भाव दो प्रकार सेवन करनेसे (३×२×३×५×४×२)=७२० भेदरूप दोष अचेतन स्त्री सम्बन्धी कुशीलके होते हैं।

इस प्रकार चेतन-अचेतन दोनों सम्बन्धी अठारह हजार कुशीलके भेद हुए। इन भेदों द्वारा लगते हुए कुशील के दोषों का जैसा-जैसा त्याग होता जाता है, वैसे-वैसे ही शीलगुण प्राप्त होते जाते हैं।

यहां चेतन स्त्री संबधी भेदों में प्रश्न उत्पन्न होता है कि देवांगनाका मनुष्य कायद्वारा सेवन कैसे संभव है ? उसका समाधान--कोई देवांगना किसी मनुष्यके पास किसी कारण विशेषसे आवे जैसा कि रामचन्द्रजीके पास सीता का जीव सीतेन्द्र देवांगनाका रूप धारण कर आया था, या कोई मनुष्य मन्त्रबलसे किसी देवांगनाको वश करे और परिणाम बिगड़नेसे आलिंगन करे या पकड़ लेवे तो, धातु उपधातु रहित वैक्रियक शरीर और औदारिक शरीरका संभोग असंभव होते हुए भी स्पर्शन मात्रसे काय सम्बन्धी कुशीलका दोष संभव हो सकता है।

यहां दूसरा प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि अचेतन स्त्री संबंधी भेदोंमें चित्राम-काष्ठ-पाषाण की स्त्रियोंका त्याग कराया, सो इनसे कुशीलसेवन कैसे सम्भव हो सकता है ? उसका समाधान—केवल स्त्री सेवन ही करना कुशील नहीं है किन्तु मूर्च्छापूर्वक मन-वचन-कायकी कुशील सेवनरूप प्रवृत्ति-रूप होने से भी कुशीलका दोष आता है।

---

१. अष्टपाहुड़के शीलपाहुड़की टीकामें स्पष्ट कहा है कि अचेतन स्त्रीके वचन नहीं होता, इससे कोई उससे कुशील सम्बन्धी वचन नहीं कहता। पुन. चर्चा समाधान में अचेतन स्त्री सम्बन्धी भंग इस प्रकार भी कहे हैं—चित्राम-काष्ठ-पाषाणकी तीन प्रकार स्त्रियोंको, मन करि, कृत-कारित अनुमोदना करि, पंचेन्द्रियके वश, १६ कषाय युक्त होकर विषयकी वांछा से (३×१×३×५×१६)=७२० भेद होते हैं।

शीलव्रतकी नव बाड़ी—ब्रह्मचर्यव्रतको निर्दोष पालन करनेके लिये नीचे लिखी हुई शीलकी रक्षक नव बाड़ोंकी रक्षा करना आवश्यक है। जैसे बाड़ी खेतकी रक्षा करती, वैसे ही ये नव बाड़ी शीलकी रक्षा करती हैं। अन्यथा इनके भंग करनेसे शीलव्रतका भंग होना सम्भव है।

तिय थल वास, प्रेम रुचि निरखन, देख रीझ भाखन मधु वैन।
पूरव भोग केलि रसचिंतन, गरुय अहार लेत चित चैन॥
कर शुचि तन शृंगार बनावत, तिय पर्यंक मध्य सुख सैन।
मन्मथ-कथा, उदर भर भोजन, ये नव बाड़ि जान मत जैन॥

अर्थ—(१) स्त्रियोंके सहवासमें न रहना (२) स्त्रियों को प्रेम रुचिसे न देखना (३) स्त्रियोंसे रीझकर मीठे-मीठे वचन न बोलना (४) पूर्वकाल में भोगे हुए भोगों का चितवन न करना (५) गरिष्ठ आहार नहीं करना (६) शृंगार-विलेपन करि शरीर सुन्दर न बनाना (७) स्त्रियों की सेज पर न सोना (८) काम-कथा न करना (९) भरपेट भोजन न करना—ये शीलकी रक्षक ९ बाड़ी जैनमत में कही हैं।

इसी प्रकार श्री ज्ञानार्णवमें भी ब्रह्मचारी को नीचे लिखे हुए मैथुन के १० दोष टालनेका उपदेश है: (१) शरीर शृंगार करना (२) पुष्टरस सेवन करना (३) गीत, नृत्य, वादित्र, देखना-सुनना (४) स्त्रियोंकी संगति करना (५) स्त्रियों में किसी प्रकार काम-भोगसम्बन्धी संकल्प करना (६) स्त्रियों के मनोहर अंगोंको देखना (७) स्त्रीके अंगोंके देखने का संस्कार हृदयमें रखना (८) पूर्वमें किये हुए भोगों का स्मरण करना (९) आगामी काम-भोगों की वांछा करना (१०) वीर्य पतन करना।

स्त्रियोंके वशवर्तीपना होनेसे अंतरंग में दाह और पापकी वृद्धि होती है, सुख-शान्तिका नाश होता है। अतएव जो धार्मिक पुरुष, स्त्री सम्बन्धी पराधीनता छोड़ दुर्जय काम को जीत ब्रह्मचर्य पालते हैं, वही सच्चे साहसी सुभट हैं। युद्ध में प्राण विसर्जन करने वाले शूर उनके सामने तुच्छ हैं क्योंकि ऐसे युद्ध शूर काम द्वारा जीते हुए हैं, अतएव इस जगज्जयी काम सुभटको जिन ब्रह्मचारियों ने जीता, वे ही मोक्षमार्गी महासुभट, धन्य हैं। इस ब्रह्मचर्यके प्रभावसे वीर्यान्तिराय कर्म का विशेष क्षयोपशम होकर आत्मशक्ति बढ़ती, तप उपवासादि परीषह सहज ही जीती जाती, गृहस्था-श्रम सम्बन्धी आकुलता घटती, परिग्रहकी तृष्णा घटती, इन्द्रियां वशमें होतीं, यहांतक कि वाक्शक्ति स्फुरायमान हो जाती है। ध्यान करने में अडिग

चित्त लगता और अतिशय पुण्यबन्धके साथ-साथ कर्मों की निर्जरा विशेष होती, जिससे मोक्षनगर निकट हो जाता है।

अष्टम आरम्भत्याग प्रतिमा

जो श्रावक हिंसा से अति भयभीत होकर आरम्भ[1] को परिणामोंमें विकलता उत्पन्न करनेवाला जान गृहसम्बन्धी सम्पूर्ण आरम्भ स्वयं नहीं करता और न दूसरोंसे कराता है, सो आरम्भत्याग प्रतिमाधारी है। इसके मन-वचन-काय, कृतकारित से गृहसम्बन्धी पापारम्भ का त्याग होता है, अनुमोदना (अनुमति) का त्याग नहीं होता। अनुमोदना का अर्थ सम्मति सलाह या अभिप्राय देना है, आज्ञा देना नहीं है। यथा—"यह काम तुमने भला किया या बुरा किया", "इसमें हानि होगी, इसमें लाभ होगा" आदि। यदि पुत्रादि व कुटुम्बी, घरके काम काजकी वा व्यापार सम्बन्धी सलाह पूछे तो सम्मतिरूप उसके हानि लाभ बता देवे, परन्तु उस कामके करनेकी प्रेरणा न करे। यदि भोजन सम्बन्ध में पूछे, तो अपना त्याग आखडी बता देवे या अनिष्ट हानिकारक वस्तुओंका निषेध कर देवे, परन्तु अमुक-अमुक वस्तु बनाना, ऐसी आज्ञा न देवे।

आम्भत्यागी हिंसा से भयभीत हो सन्तोष धारण कर धनसम्पदासे ममत्व घटाता हुआ सर्व प्रकारके व्यापार-धन्धे करना छोड़े तथा गृहारंभ नहीं करे। गृहसम्बन्धी षट्कर्म अर्थात् पीसना, दलना, कूटना, छड़ना, रसोई बनाना, बुहारना, झाड़ना, जल भरना आदि गृहारंभ तथा व्यापार-धन्धे आदि आजीवी आरंभ नहीं करे। उद्यमी, आरंभी दोनों प्रकारकी हिंसा तजे।

यहां रत्नाचारपूर्वक पूजनादि सम्बन्धी अल्पारम्भका त्याग नहीं है (सा. ध.) तथा यह भी कहा है कि ये पूजा आदि धर्मकार्य हिंसायुक्त न हों, क्योंकि धर्मारम्भ प्राणिवधका अंग नहीं है, धर्मारंभ वही है जहां प्राणिरक्षा संभव हो। जल भरना, द्रव्य धोना आदि आरंभ न करे, द्रव्य चढ़ावे, पूजा करे।

यहां कोई संदेह करे कि जब आरंभत्याग प्रतिमामें सेवा-कृषि-वाणिज्यादि आरम्भका त्याग हुआ है तो सप्तम प्रतिमा तक कृषि तथा युद्ध सम्बन्धी आरम्भ करता होगा ? उसका समाधान—यह बात सम्भव नहीं होती कि सचित्त भक्षणको त्याग, ब्रह्मचर्य धार, उदासीन अवस्था

---

१. जिन क्रियाओं में षट्काय के जीवोंकी हिंसा हो, सो आरम्भ है।

अंगीकार कर स्वयं हलबखरसे खेत जोते, बोवे, या युद्ध करके सहस्त्रों जीवोंका आंखों देखते घात करे। सर्वार्थसिद्धि टीकामें भाषाटीकाकार पं० जयचन्दजीने कहा है कि कुटुम्बके शामिल रहने से यहांतक कुछ अति-चार दोष लगते थे, सो यहां उनका यथावत त्याग हुआ। इसी प्रकार ब्रह्मचर्य प्रतिमा धारकका सामान्य गृहस्थों की नांई अन्य व्यापार धन्धोंमें संलग्न रहना सम्भव नहीं, क्योंकि जैसी-जैसी कषाय घटती जाती है तदनुसार ही आरम्भ भी घटता जाता है।

आरम्भत्यागी अपने हाथ से भोजन बनाता नहीं, और न दूसरोंसे कहकर बनवाता है। अपने घर या पराये घर न्योता हुआ जीमनेको जाता है और जिह्वा इन्द्रियके स्वाद में अशक्त न होता हुआ लघु भोजन करता है।

आरम्भत्यागी को चाहिए कि अपने गृहमें जो द्रव्य हो, उसमें अपनी इच्छानुसार कुटुम्बका योग्य विभाग करके अपने योग्य आप ग्रहण करे, अन्य धनसे ममत्व तजे और नया धन उपार्जन नहीं करे। अपने पासके धनको दान-पुण्य-यात्रादि धर्मकार्यों में लगावे। यदि भाग्य योगसे अपने पासका धन चोरी चला जाय, नष्ट हो जाय, तो कर्मोदयका ऋण चुका जान संतोष करे, आकुल-व्याकुल न हो।

यहां कोई प्रश्न करे कि धन पास रक्खे, तो धन्धा करेही करे अथवा रोटी बनावे-बनवावे ही, नहीं तो धन रखने से क्या प्रयोजन ? इसका उत्तर - यह जो अल्प धन अपने पास रखता है, वह धर्मानुकूल दान, पुण्य, तीर्थादिमें व्यय करने तथा अपने वस्त्रादि लेनेके लिए रखता है। उस धनको, वह हिंसा आरम्भके कार्योंमें कदाचित भी नहीं लगाता, क्योंकि इससे उसकी प्रतिज्ञा भंग होती है।

फिर कोई प्रश्न करे कि आरम्भत्यागीको घरके या अन्य लोग भोजनको न बुलावें तो वह क्या करे ? अथवा कोई साथका त्यागी बीमार हो जाय तो भोजन बनाकर खावे, खिलावे, या नहीं ? इसका समाधान— प्रथम तो यह बात असम्भव है कि सच्चे धर्मात्मा-त्यागीको आहारकी योग्यता न मिले, अवश्य मिले ही मिले। दूसरे त्यागीको भी चाहिए कि जिस क्षेत्रमें धर्मसाधनकी अनुकूलता (सहायता) देखे, वहां श्रावकसमूहके साथ रहे। आगमका भी तो यही उपदेश है कि अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की योग्यता देखकर हरएक व्रत-आखंडी-प्रतिज्ञा धारण करे, क्योंकि बिना

योग्यताके त्यागी या प्रतिमाधारी होनेसे कुछ भी कल्याण नहीं होता। कषाय, ममत्वभाव तथा इनके बाह्य आलंबनोंको छोड़ने और विरागता के साधक कारणों को मिलानेसे ही प्रतिमा धारण करनेका यथार्थ फल हो सकता है।

सप्तम प्रतिमा तक अपने हाथ से कुल काम अपनी आजीविका सम्बन्धी कर सकता है। भोजन बनाना, सवारी आदि पर चढ़कर इधर-उधर जाना आदि आरम्भ हो सकता है परन्तु इस प्रतिमामें इन सब आरम्भोंका त्याग हो जाता है। इसलिए जिसकी आरम्भ रूप प्रवृत्ति करनेकी इच्छा हो अथवा जो अपनी योग्यता आरम्भत्याग निभाने योग्य न देखे, सो सप्तम प्रतिमारूप ही रहे, जैसे अनुकूलता देखे, वैसा करे। जब देखे कि मैंने सर्व आरम्भका काम पुत्रादिकों को सौंप दिया, मेरी आरम्भ करने रूप कषाय घट गई, मेरे पुत्र-पुत्रबधु आदि कुटुम्बी हर्षपूर्वक मुझे भोजनादि देकर निर्वाह करेंगे तथा साधर्मी भाई भोजन-पानादि सहायता में सावधान रहेंगे, तब इस आरम्भ त्याग प्रतिमा को धारण करे।

आरम्भत्यागी घोड़ा, ऊंट, गधा, बग्घी, पालकी आदि सर्व प्रकारकी सवारी तजे, ऐसा सभी शास्त्रों[1] का मत है, क्योंकि इससे प्रमाद तथा हिंसा की उत्पत्ति होती है। इसीमें मोटर, रेल, जहाज आदि की स्वतन्त्र या परतन्त्र सवारियां भी गर्भित हैं। ये सब सवारियां आरम्भत्यागी की स्वतन्त्रता तथा विरक्तताको मूलसे नाश करनेवाली और धर्मका अपमान करानेवाली है।

यद्यपि यहां सर्व प्रकारके वाहनों की सवारी करनेका निषेध है तथापि नदी पार होने के लिए नाव पर बैठकर जाने का निषेध न जानना क्योंकि नदी पार जाना अनिवारित है, इसमें प्रमाद-जनित दोष नहीं है। केवल हिंसाजनित अल्प दोष है, जिसके लिए प्रतिक्रमण विधान की परिपाटी है।

आरम्भत्याग सम्बन्धी विशेष बातें--(१) अपने पुत्र-पुत्री आदि की सगाई, विवाहका आरम्भ आप स्वयं न करे, यदि कुटुम्बी आदि करें और सम्मति मांगे तो देना ठीक ही है (२) वस्त्रादि न अपने हाथसे धोवे न दूसरों से

१. अमितगति श्रावकाचार गुरुपदेश, श्रावकाचार, भगवती आराधना आदि।

धुलावे, मलिन होने पर दूसरे धारण कर लेवे(३)स्थान मकान आदि बनाने सम्बन्धी निष्प्रयोजन बहु आरम्भ[1] का निषेध तो व्रतप्रतिमा में ही है, यहां अल्पारंभ भी न करे (४) हलकी कीमतके सादे वस्त्र पहने (५) दीपक न जलावे[2] (६) रात्रिको गमन न करे। व्रतप्रतिमा ही से देखकर चलना, रात्रिको गमनागमन करना, दीपक यत्नाचारसे रखना आदि कार्य यथासम्भव हिंसा बचाकर किए जाते हैं, क्योंकि गृहारम्भ के कारण इन कामोंके किए बिना चल नहीं सकता। अब आरम्भत्याग होनेसे इन कामोंकी भी जरूरत नहीं रही (७) पंखा न हिलावे (८) स्नान न करे, परन्तु पूजा के लिए अथवा अस्पृश्य के छूजाने पर तथा सूतक में शुद्धता निमित्त सामान्य रीतिसे स्नान करने का निषेध नहीं (९) वैद्यक, ज्योतिष, धातु, रसादिक नहीं करे (१०) कुएसे जल भरकर या खानसे मिट्टी खोदकर न लावे। (११) चौमासे[3] में यहां-वहां ग्रामान्तरमें भ्रमण न करे। यद्यपि व्रतप्रतिमा से ही हिंसाके भयसे बहुधा चौमासे में यहां-वहां ग्रामान्तरमें भ्रमण न करता हुआ एक ही ग्राममें यत्नाचार पूर्वक धर्म सेवन करता था, परन्तु गृहारम्भके कारण सर्वथा नियमरूप नहीं था। अब आरम्भत्याग होने पर चौमासे भर एक ही स्थान में रहकर धर्मध्यान करे और गृहत्यागी तो प्रतिमास ही इसका विचार रक्खे।

असि, मसि, कृषि, वाणिज्य, पशुपालन, शिल्पादि षट आजीवी कर्मों और पंचसून सम्बन्धी आरम्भ क्रियाओंके त्याग करनेसे हिंसादि पापोंका अभाव होता, संयमरूप रहनेसे पुण्यबन्ध होता और सबसे बड़ा लाभ यह होता है कि आरम्भ सम्बन्धी विकल्पोंके अभावसे आत्मकार्यमें चित्तवृत्ति भलीभांति स्थिर होने लगती है जो परंपराय आत्मकल्याणका का कारण है।

नवम परिग्रह-त्याग प्रतिमा

जो धार्मिक श्रावक रागद्वेषादि अभ्यन्तर परिग्रहोंकी मन्दतापूर्वक क्षेत्र-वस्तु आदि दश प्रकारके बाह्य परिग्रहोंमेंसे आवश्यक वस्त्र और

---

१. आवश्यकता से अधिक शौक तथा बड़प्पन के वास्ते मकान न बनवाना।

२. कोई-कोई कहते हैं कि स्वाध्याय के वास्ते दीपक और धर्मकार्यके निमित्त प्राशुक भूमिमें गमन कर सकता है।

३. अषाढ़की अष्टान्हिकाके आरम्भ से कार्तिककी अष्टान्हिकाके अंत तक चौमासा कहाता है। इसमें वर्षाके कारण त्रस जीवोंकी प्रचुर उत्पत्ति होती है।

पात्रके सिवाय शेष सब परिग्रहोंको त्यागता है और सन्तोषवृत्ति धारण करता है, वह परिग्रहसे विरागी परिग्रहत्याग प्रतिमाधारी है।

बाह्य परिग्रह दश प्रकार के हैं: (१) क्षेत्र-खेत—बाग, बगीचा आदि (२) वास्तु—घर, महल, हवेली, किला आदि रहनेके स्थान (३) हिरण्य—चांदी के गहने तथा रुपया आदि मुद्रा (४) सुवर्ण—सोने के गहने तथा मुहर-गिन्नी आदि सुवर्ण मुद्रा (५) धन—गाय, भैंस, घोड़ा आदि पशु (६) धान्य—चावल, गेहूं आदि अनाज (७) दासी नौकरानी, हजूरनी (८) दास—नौकर, चाकर, हजूरिया (९) कुप्य—कपास, सन, रेशम आदि सर्व प्रकारके वस्त्र (१०) भांडे—सर्व प्रकारके बर्तन।

इन उपर्युक्त दश प्रकारके बाह्य-परिग्रहोंके त्यागनेसे मिथ्यात्व, क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुसंक वेद[1] ये १४ प्रकारके अंतरंग-परिग्रह भी क्रमशः मन्द पड़ने लगते हैं क्योंकि बाह्य-परिग्रहका त्याग कारणरूप और अंतरंग परिग्रह की मन्दता एवं अभाव होना कार्यरूप है।

बाह्याभ्यन्तर दोनों प्रकारका परिग्रह पापोत्पत्ति तथा आकुलताका मूल है ऐसा निश्चयकर बाह्य परिग्रहको छोड़ते हुए अपने मनमें अति आनन्द माने और ऐसा विचार करे कि आज का दिन धन्य है जब मैं आकुलताओं और बन्धनों से छूटा।

बाह्य परिग्रहका त्याग अंतरंग मूर्च्छाके अभावके लिए किया जाता है। यदि किसीके पास बाह्य परिग्रह कुछ भी न हो और अंतरंगमें मूर्च्छा विशेष हो, तो वह परिग्रही है, क्योंकि यथार्थमें मूर्च्छा ही परिग्रह है। अतएव भेदविज्ञानके बलसे अंतरंग मूर्च्छाको मन्द करते हुए बाह्य-परिग्रह छोड़ना चाहिए, तभी परिग्रहत्यागजनित निराकुलित सुख की प्राप्ति हो सकती है।

परिग्रह-त्याग प्रतिमावाला केवल शीत-उष्णकी वेदना दूर करनेके निमित्त अल्प मूल्यके सादे वस्त्र के सिवाय अन्य सब धन-धान्यादि परिग्रह मन-वचन-काय-कृत-कारित-अनुमोदनासे त्यागे। छोटा पना (अर्ज) की ६ हाथ लम्बी (समाधितन्त्र) धोती पहनने को रक्खे, एक धोती तथा पछेवड़ी

---

१. किसी-किसी ग्रथमे एक ही वेद कहकर शेष दो वेदोके स्थानमे राग, द्वेष कहे है।

ओढ़नेको रक्खे, शिरपर बांधनेको एक अंगोछा (पोत्या) तथा नरम पूंजणी या एक छोटा सफेद रुमाल (मलफी) पृथ्वीपरके आगन्तुक जीवों की रक्षा (अलग करने) के निमित्त रक्खे। विस्तर न रक्खे, चटाई पर सोवे। अल्प-मूल्यका तांबे या पीतलका जलपात्र तथा एक भोजनपात्र रक्खे (भगवती आराधना)। घरका भार पंचोंकी साक्षीपूर्वक पुत्र-भाई-भतीजे आदिको, जो गृहस्थी चलाने योग्य हो, सौंपे। जो दान-पुण्य करना हो, करे, और सबसे क्षमापूर्वक धर्मसाधनकी आज्ञा लेवे। और ऐसा निश्चय करे कि अब मेरा-इनका कुछ भी सांसारिक सम्बन्ध नहीं रहा, अन्य साधर्मियों सरीखे इनको भी समझे, अपना-पराया घर एकसा समझे, भोजन अपने या पराये घर न्योता हुआ जाकर करे।

परिग्रहत्याग प्रतिमा सम्बन्धी विशेष बातें—परिग्रहत्यागीको इन बातों पर भी ध्यान देना चाहिए : (१) स्त्री-पुत्रादि, औषधि, आहार-पान आदि देवें, वस्त्रादि धोवें तथा शारीरिक सेवा-टहल करें तो ठीक, न करें तो आप उन पर दबाव न डाले और न अप्रसन्न हो (२) जो गृहत्यागी हो तो कुटुम्ब सम्बन्धी वृद्धि-हानिका सूआ - सूतक न माने, परन्तु जो गृहवासी हो तो गृहस्थीमें शामिल होने के कारण सूआ-सूतक माने[1] (३) अव्रतीसे[2] टहल न करावे (४) लौकिक वचन न कहे (५) रागादि-मकान-मठ आदिमें न रहे (६) नौकर-चाकर नहीं रखे (७) परिगृह-त्यागीको द्रव्यपूजनकी आवश्यकता नहीं, क्योंकि द्रव्यपूजनमें मुख्यता त्यागधर्मकी है सो अब धनादि परिग्रहका सर्वथा त्याग हो गया, अतएव भावपूजन ही करे। (८) जिस प्रकार अशुद्धता और अमर्यादापूर्वक वर्तमान बड़ी-बड़ी जेवनारों में रसोई बनती है ऐसी रसोई प्रथम प्रतिमा-वाला भी न जीमे, क्योंकि उसमें पंच उदम्बर, तीन प्रकरका दोष आता है। हां ! यदि मर्यादा और शुद्धतापूर्वक बने, तो नवम प्रतिमावाला तक न्योंता हुआ जाकर जीम सकता है (९) बाली, अंगूठी आदि सर्व प्रकारका गहना तजे (१०) बिना दिया जल, मिट्टी भी न लेवे (अष्टमी प्रतिमामें हिंसा आरम्भके कारण लेने का त्याग था, यहां परिग्रह अपेक्षा निषेध है)।

---

१. जान पड़ता है कि व्रतप्रतिमासे लेकर किसी भी प्रतिमामें गृहत्यागी होने पर उसके कुटुम्ब सम्बन्धी वृद्धि-हानिका सूआ-सूतक नहीं माना जाता, क्योंकि अब उसके कुटुम्ब सम्बन्ध नहीं रहा।

२. जिसके अष्टमूल गुणोंका धारण न हो, सो अव्रती जानना।

परिग्रहसे आरम्भ, चिन्ता, शोक, मदादि पाप उपजाते हैं जो मूर्च्छा (चित्त की मलीनता) का कारण हैं। अतएव सन्तोष निमित्त मूर्च्छाको घटाना और परिग्रहत्याग करना आवश्यक है। परिग्रहत्याग प्रतिमाके धारण करनेसे गृहस्थाश्रम सम्बन्धी सर्व भार उतर जाता है, जिससे निराकुलताका सुखानुभव होने लगता है।

दशवीं अनुमति-त्याग प्रतिमा

जो पुरुष आरम्भ परिग्रह की अर्थात् सांसारिक सावद्य कर्म विवाह-आदिक तथा गह बनवाने, बनिज, सेवा आदिकामोंके करनेकी सम्मति उपदेश नहीं देता, अनुमोदना नहीं करता, समबुद्धि है, वह श्रावक अनुमति-त्याग प्रतिमाधारी कहाता है।

नवमी प्रतिमा तक स्त्री-पुत्रादिको गृहस्थी सम्बन्धी पंच सूनों, षट् आजीवी कर्मों, इष्टभोजन व विवाहादि करनेकी सम्मति देता था, अनुमोदना करता था, सो अब नहीं देवे और न उनके किये हुए कामकी "भला किया या बुरा किया" आदि अनुमोदना करे।

उदासीनतापूर्वक स्त्री-पुत्रादि से अलग निज घर, चैत्यालय अथवा मठ-मण्डपादिमें रहकर धर्मध्यान करे, कुटुम्बी अथवा अन्य श्रावकोंके घर जीमनेके समय बुलाने पर भोजन कर आवे, न्योंता न माने, अपने अंतराय कर्मके क्षयोपशमके अनुसार कड़ुवा, खारा, खट्टा, अलूणा जैसा भोजन प्राप्त हो, उसीमें सन्तोष करे। रागद्वेष न करे। भला-बुरा न कहे।

किसीके पुत्रजन्म, द्रव्यलाभ. विवाह आदि शुभ कार्योंका अथवा मारना, पीड़ा देना, बांधना आदि अशुभ कार्योंका चिंतवन न करे। लौकिक (पाप) कर्मोंका उपदेश वा आदेश न करे, ईर्यासमितिपूर्वक गमन करे, भाषासमितिसहित बचन बोले। यद्यपि पांचों समितियों का विचार व्रत प्रतिमासे ही यथायोग्य रक्खा जाता है तथापि यहां से इन दो समितियों पर और भी विशेषरूपसे ध्यान देवे।

गृहत्यागी ब्रह्मचारी गृह त्यागनेपर और गृहवासी, दशवीं प्रतिमा धारण करनेपर कुटुम्ब सम्बन्धी वृद्धि-हानिका सूआ-सूतक न माने, क्योंकि गृहस्थपनेसे अलग हो गया।

ऐलक-क्षुल्लक कहीं भी जावे तो सदा पीछी, कमंडल साथ

रक्खे, क्योंकि ये उसका चिन्ह (बाह्य मुद्रा) है। उसी प्रकार दशवीं प्रतिमावाला जीवों की रक्षा निमित्त नरम पूंजड़ी या रूमाल और शौच निमित्त जलपात्र रक्खे। पहिरने वा ओढ़ने के लिए छह-छह हाथ वस्त्र रखने की आज्ञा है। चटाई पर सोवे।

सागारधर्मामृत और धर्मसंग्रहश्रावकाचारमें भोजनमें अनुमति त्याग होनेके कारण दशवीं प्रतिमावालेको भी भिक्षुक संज्ञा कही है। वह ठीक ही है परन्तु यथार्थमें सच्चे भिक्षुक मुनि ही हैं।

गृहवारा सम्बन्धी आरम्भकी अनुमोदना करनेसे भी पापका सचय और आकुलताकी उत्पत्ति होती है, अतएव अनुमति-त्याग होनेसे पंच-पापका नव-कोटिसे त्याग होकर पापास्रव क्रियाएँ सर्वथा रुक जाती हैं। पुनः आकुलताके अभाव होनेसे चित्त की विकलता दूर होती, जिससे मन वश होकर इच्छानुसार धर्मध्यानमें शीघ्र स्थिर होने लगता है।

ग्यारहवीं उद्दिष्ट-त्याग प्रतिमा

जो (गृहवासी) अनुमति त्यागी श्रावक, चरित्रमोहके मन्द हो जानेसे उत्कृष्ट चारित्र अर्थात् दर्शनाचार-ज्ञानाचार-चारित्राचार-तपाचार और वीर्याचार इन पंचाचारों की प्राप्ति एवं रत्नत्रयकी शुद्धता निमित्त, पिता-माता भाई, स्त्री, पुत्रादि, परिजनसे क्षमा कराकर, वनमें जानेकी आज्ञा ले गुरु के निकट जाकर उद्दिष्टत्याग प्रतिमा (प्रतिज्ञा) धारण करता है, वह उद्दिष्ट-त्यागप्रतिमा धारक कहाता है।

यदि कालदोषसे निर्ग्रन्थ-गुरुका समागम न मिले तो श्रीजिनेन्द्र देवकी प्रतिमाके सन्मुख साधर्मियोंकी साक्षीपूर्वक प्रतिज्ञा लेवे। इसी प्रकार जो पुरुष दशवीं प्रतिमा तक गृहवासी रहा हो, वह ऊपर कहे अनुसार कुटुम्बियों से भी आज्ञा लेवे और जिसने पहिले ही गृहत्याग कर दिया हो, उसे कुटुम्बियोंसे क्षमा कराने वा आज्ञा लेनेकी आवश्यकता नहीं। सिवाय इसके ऐसा भी कोई नियम नहीं है कि आपको वैराग्य उत्पन्न हो और कुटुम्बी आज्ञा न दें तो उद्दिष्ट-त्याग या मुनिव्रत अंगीकार न कर सके। किन्तु आज्ञा मांगने और उनको भी संसार-शरीर-भोगोंकी अनित्यता बताने और उनसे राग हटाने की पद्धति है, सो जैसा देखे वैसा करे।

उद्दिष्ट आहार त्यागी मन-वचन-काय, कृत-कारित अनुमोदना सन्बन्धी दोषरहित, भिक्षाचरणपूर्वक, याचना-रहित आहार ग्रहण करे।

अपने निमित्त[1] बनाया हुआ, अभक्ष्य, सचित तथा सदोष आहार न ले। यमरूप हरी तथा रसादिकके त्याग का परिपालन करे। पानी बरसतेमें आहारको नहीं निकले, क्योंकि इससे ईर्यापथ शुद्धि नहीं पलती तथा आहारमें अतिगृद्धता सूचित होती है। आहारको जावे तब न तो जल्दी-जल्दी चले, न धीरे-धीरे। समभावसे चले। इधर-उधर न देखे, नीची दृष्टि से जीव-जन्तुओंकी रक्षा करता हुआ मौन-सहित, ईर्यासमिति पालता हुआ जावे।

यद्यपि सागारधर्मामृतमें उत्कृष्ट श्रावक होनेकी अपेक्षा अनुमति-त्यागीको भी अतिथि कहा है। तथापि उत्कृष्ट श्रावक एवं उद्दिष्टत्यागी ऐलक-क्षुल्लकसे ही यथार्थमें अतिथिपना आरंभ होता है। क्योंकि इनके आहार तथा गमनागमनकी तिथि नियत नहीं रहती। ये उदंड आहार-विहार करते हैं, इसीलिये अचानक ही भोजनके लिये निकलते हैं। यथार्थमें उत्कृष्ट अथिति मुनि ही हैं क्योंकि अष्टमी-चतुर्दशी आदि पर्वोंमें प्रोषधो-पवासका भी उनके नियम नहीं, इसलिये वे सार्थक नामधारक अथिति हैं।

उद्दिष्टत्यागी जब आहारके निमित्त निकले और द्वारापेक्षण करता हुआ श्रावक यथायोग्य नवधाभक्ति एवं विधिपूर्वक पडगाहे तो उद्दिष्ट-त्यागीको उचित है कि दाताका उत्साह वा योग्य भक्तिभाव देखकर योग्य क्षेत्र-कालमें शुद्ध लघु भोजन शान्तभाव पूर्वक करे।

जल-भोजन एक ही बार लेवे, दांतौन कुरला भी न करे, जो अंतराय हो जाय तो उस दिन उपवास करे। मुनिसंघमें या अपने समान त्यागियोंके संघमें रहे, अकेला भ्रमण न करे, क्योंकि दूसरे संयमीकी सहायताके बिना व्रत दूषित हो जाना संभव है।

सांसारिक विषय-कषायोंके कारणोंसे अलग वन-मठ-मंडप-वस्तिकादि एकान्त स्थानमें रहे। बस्तीमें न रहे। रात्रिको एकान्त स्थानमें ध्यान धरे।

शौचके निमित्त अल्प-मूल्यका तथा चौड़े मुंहका कमंडल रक्खे, जिसमें धोने, साफ करनेके लिये हाथ अच्छी तरह जा सके। भोजन-पात्र साधारण रक्खे, जिसमें न शौकीनी मालूम पड़े न बिलकुल लघुता। भूमि,

---

१. यदि मालूम पड़ जाय कि गृहस्थने यह भोजन मेरे ही निमित्त बनाया है तो ग्रहण न करे और अन्तराय माने। इसी प्रकार पीछी, कमंडल, बसतिका भी अपने निमित्त बनाई हुई जाने, तो ग्रहण नहीं करे।

शरीर, संस्तर, पुस्तकादिको शोधने तथा जीवोंकी रक्षा निमित्त पिच्छिका (पीछी) और पढ़ने के लिये आवश्यकीय शास्त्र-पुस्तकादि रक्खे।

माथा उघाड़ा रक्खे। सोनेके लिये चटाई, बिछौना आदि न रक्खे, क्योंकि ये पदार्थ द्रव्य-साध्य हैं, प्रमाद, भय, आकुलता तथा हीनताके उत्पन्न करनेवाले हैं। प्राशुक भूमि, काष्ठ के पटिये या पाषाणकी शिलापर अर्धरात्रि पीछे अल्प निद्रा ले। बीमारी आदिमें अन्य कोई चटाई बिछा देवे, या पियारका संस्तर कर देवे, तो उसपर लेटे।

श्रावक दशामें दिवसमें प्रतिमायोग अर्थात् नग्न होकर ध्यान धरना वर्जित है, इसी प्रकार पीयूष वर्ष श्रावकाचार में वीरचर्या अर्थात कठिन -कठिन आखड़ी लेनेका भी निषेध किया गया है। रात्रिको एकान्तस्थानमें प्रतिमा योग धार ध्यान कर सकता है (वसुनंदि श्रावकाचार)।

इस उद्दिष्टत्याग प्रतिमाके दो भेद हैं: (१) क्षुल्लक (२) अहिलक या ऐलक। इनका संक्षिप्त स्वरूप इस प्रकार है—

क्षुल्लक

क्षुल्लक भोजनके लिए उपयुक्त पात्र रक्खे। दातारके बर्तनमें भोजन करे और बर्तन झूठा छोड़ आवे, तो वह बर्तन मंजने के लिये जब तक चाहे तबतक पड़ा रहे, जिससे त्रस-स्थावर जीवोंकी हिंसा होना संभव है। इसलिये वह अपने पात्रमें ही भोजन करके अपने हाथसे ही तत्काल मांजकर लेता आवे, दूसरोंसे न मंजावे। ऐसा सागाधर्मामृतादि श्रावकाचारोंमें कहा है। इस से क्षुल्लकोंको पात्र रखना आवश्यक है।

सफेद वस्त्रकी लंगोटी लगावे, खंड वस्त्र अर्थात् एक पन्ने की ३ हाथ लम्बी पिछोड़ी ओढ़नेको रक्खे, जिससे शिर ढंके तो पांव उघड़े रहें और पांव ढंके तो शिर उघड़ा रहे। लंगोटी बांधनेके लिये डोरेकी करधनी (कणगती) कमरमें रक्खे। कमंडल, पीछी और पठन-पाठनके लिये शास्त्र रखना योग्य ही है।

केश दूसरे, तीसरे, महीने उस्तरा (छुरा) से मुड़ावे या कतरनीसे कतरावे, अथवा लौंच करे। डाढ़ी, मूंछ नहीं रक्खे। कांख तथा नीचेके बाल न कतरावे न बनावे (वसुनंदि श्रावकाचार)।

सागारधर्मामृतादि श्रावकाचारोंमें क्षुल्लकके आहारके दो भेद किये हैं : (१) एक भिक्षा नियम—एक ही घर भोजन करना। (२) अनेक भिक्षा-नियम—पांच घर या अधिक घरोंसे भिक्षपात्रमें भिक्षा लेकर जब उदर भरने योग्य होजाय, तब आखिरी घर प्राशुक जल लेकर भोजन कर लेना और पात्र मांज लेकर चले आना।

सात मुहूर्त दिन चढे आहारको जावे—मार्गमें खड़ा न रहे, न अति शीघ्रतासे चले, न अति मंदतासे। अर्थात् ९ बजेके लगभग देव वंदना करके आहारको जावे, १० बजे तक पहुंचे और १०॥ या ११ बजे तक लौट आकर मध्याह्नकी सामायिक करे।

कई ग्रन्थोंमें अपराह्नकाल अर्थात् दोपहरके पीछे चार बजे भी आहार लेनेको जानेकी आज्ञा है, सो गृहस्थोंके ब्यालू अर्थात् अपराह्नकालके भोजनके पूर्व संभव है। जो प्रातःकाल भिक्षानिमित्त न गया हो तो अपराह्न-कालमें जावे।

भिक्षाको जावे तब गृहस्थके आंगन तक जावे, जहा तक सब लोग बिना रोक-टोक जा सकते हों, दरवाजा बन्द हो तो खोले नही। दाता देख लेवे और पडगाहे तो ठीक, नहीं तो तत्काल दूसरे घर चला जाय। भोजन निमित्त किसी प्रकारका इशारा या प्रार्थना न करे, दीनता न दिखावे। यदि अंतराय हो जाय तो उस दिन उपवास करे।

श्रावक विधिपूर्वक पडगाहे तो गृहमें जाकर हाथ-पांवसे शुद्ध हो, यथास्थान बैठ निज पात्रमें एषणा समिति पूर्वक अंतराय[1] टाल भोजन करे। पात्र मांज लेकर अपने स्थान आवे और लगे हुए दोषों की गुरु के निकट आलोचना करे।

चारों पर्वोमें पूर्व-प्रतिज्ञावत् प्रोषधोपवास अवश्य करे (सागारधर्मा-मृत)। यथार्थ में उत्कृष्ट अतिथि मुनि ही हैं, उनके वृत्तिपरिसंख्यान आदि कठिन-कठिन तप होते हैं, इसलिये वे अष्टमी-चतुर्दशीको प्रोषधोपवास करने के लिये बाध्य नहीं हैं। परन्तु आरम्भिक अतिथि उद्दिष्टत्यागीको कठिन-कठिन आखड़ी लेने व तप करने की आज्ञा नहीं है इसलिये ये प्रोषधोपवास करनेके लिये बाध्य हैं।

१. अन्तराय बिना थालीमें अन्न न छोड़े।

षट् आवश्यक नित्य अवश्य पाले। ईर्या समिति रूप चले। भाषा समिति बोल बोले। विकथा न करे, धर्मोपदेश देवे, शास्त्र पढ़े अथवा मौन रक्खे, आत्मचिंतवन करे, शक्ति के अनुसार तप करे। अपने बैठने आदि के स्थानको कोमल उपकरणसे प्रतिलेपन करे। नहावे-धोवे नहीं। आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी, शैक्ष्य, ग्लान, गण, कुल, संघ, साधु, मनोज्ञ इन दश प्रकारके ऋषियोंकी वैयावृत्ति करे।

ऐलक

ऐलक कोपीन (लंगोटी) लगावे, उसके बांधने को कमर में डोरा (कणगती) रक्खे, दया निमित्त पीछी और शौच निमित्त कमंडल सदा साथ रक्खे। बैठकर कर-पात्र से अथवा एक हाथ में गृहस्थ (दाता) भोजन रखता जाय और बैठा हुआ ऐलक दूसरे हाथसे उठा-उठाकर भोजन करता जाय, खड़े होकर भोजन न करे, क्योंकि खड़े-भोजन करनेकी विधि मुनियों के लिये है, श्रावकके लिये नहीं है।

डाढ़ी, मूंछ तथा माथे के बालोंका उत्कृष्ट दो माह, मध्यम तीन माह और जघन्य चार माह में लौंच करे, इससे अधिक दिनोंके लिए शास्त्राज्ञा नहीं है।

आहारको जाय, तब ईर्यापथ-शुद्धिपूर्वक जाय, गृहस्थ के आंगनमें जाय "अक्षयदान" कहे (ज्ञाना. श्राव.)। गृहस्थ पडगाहे तो ठीक, नहीं तो अन्य गृह चला जाय[1]। यदि अंतराय हो जाय तो उस दिन उपवास करे। ऐलक एक ही घर का आहार ले (समाधि-शतक, प्रश्नो. श्रा.)।

चारों पर्वों में उपवास करे। दिवस में प्रतिमायोग अर्थात् नग्न होकर ध्यान न करे। रात्रिको नियमपूर्वक प्रतिमायोग धारण करे।

सागारधर्मामृत तथा पीयूषवर्ष श्रावकाचारमें इनको भी वीरचर्या करनेका निषेध किया है अर्थात् जान-बूझकर कठिन-कठिन परीषह उपसर्गके सामने न जावे। सन्मुख आये उपसर्ग-परीषह को जीते। त्रिकाल-योग न धरे अर्थात् ग्रीष्म, वर्षा, शीत ऋतुकी परीषह जीतने के सन्मुख न हो और न कठिन-कठिन आखडी करे।

१. किसनसिंह क्रियाकोष में कहा है कि ऐलक-क्षुल्लक पांच घरसे अधिक गोचरी के लिए नहीं जाय।

सदा आत्मध्यानमें तत्पर मुनि-संघ में रहे । उद्दिष्टत्यागी को शास्त्रोंमें मुनिका लघुभाई कहा है। अतएव ग्यारहवीं प्रतिमाका अभ्यास कर अवश्यमेव मुनिव्रत अंगीकार करना योग्य है।

उद्दिष्टत्याग करनेसे पांचों पाप तथा परतंत्रताका सर्वथा अभाव हो जाता है। इस प्रतिमाके अंतमें अणुव्रत, महाव्रतोंको स्पर्शने लगते हैं। व्रत प्रतिमासे जिस प्रकार इन्द्रियविषयों में मूर्च्छा मन्द हो जाती और आरम्भ-परिग्रह घटते जाते हैं, वैसा-वैसा साम्यभाव बढ़ता हुआ यहां उत्कृष्ट अवस्था को प्राप्त होकर मानों सामायिक-संयमके स्पर्शने को हाथ फैलाता है। निराकुलता-जनित स्वानुभवका आनन्द आने लगता है। इस प्रकार श्रावक-धर्मके पालक जीव नियमसे सोलहवें स्वर्ग तक जाकर महर्द्धिक देव अथवा इन्द्रादिका उच्च पद पाते हैं, क्योंकि जिस जीवके देवायु सिवाय अन्य आयु का बन्ध हो जाता है उसके परिणामों में श्रावकव्रत धारण करने योग्य निर्मलता होती ही नहीं और जो श्रावकधर्मके धारक होते हैं, उनके नियमसे देवायुका ही बंध होता है। अतएव व्रती श्रावक निश्चयसे देव पर्याय पाकर वहां से चय, मध्यलोकमें चक्रवर्ती, मंडलीक आदि उत्कृष्ट होकर मुनिव्रत धारणकर मोक्षको प्राप्त होता है।

बहुधा देखा जाता है कि कितने भोले भाई अंतरंगमें आत्मकल्याणकी इच्छा रखते हुए भी बिना तत्त्वज्ञान प्राप्त किये, दूसरोंकी देखा-देखी श्रावक-धर्मकी ग्यारह प्रतिमाओं में कही हुई प्रतिज्ञाओंमें से कोई दो, चार प्रतिज्ञायें अपनी इच्छानुसार नीची-ऊंची. यद्वा-तद्वा धारणकर त्यागी बन बैठते हैं और मनमानी स्वच्छन्द प्रवृत्ति करते हैं जिससे स्वपरकल्याणकी बात तो दूर उल्टी धर्मकी बड़ी भारी हंसी व हानि होती है। ऐसे लोग "आप डूबंते पांडे, लै डूबें यजमान" की कहावत के अनुसार स्वतः धर्म-विरुद्ध प्रवृत्तिकर अपना अकल्याण करते और दूसरों को भी ऐसा उपदेश दे उनका अकल्याण करते हैं। अतएव आत्म-कल्याणेच्छु सुज्ञ पुरुषोंको उचित है कि पहिले देव-गुरु-धर्मका स्वरूप अच्छी तरह जानें। पंच-परमेष्ठीका स्वरूप पहिचानें। छः द्रव्य, सात तत्त्वोंके नाम, स्वरूपको भलीभांति समझें। आत्माके विभाव स्वभावोंको जानें। विभाव तजने और स्वभावकी प्राप्ति के लिये कारणरूप श्रावक तथा मुनिव्रतकी साधक बाह्य-अंतरंग क्रियाएं वा उनके फलको जानें, पीछे यथाशक्य चारित्र अंगीकार करें। श्रावक धर्मकी ११ कक्षाओं (प्रतिमाओं) का अभ्यास करके पीछे मुनिव्रत धारणकर कर्मोंका नाश करें और परमात्मा बन स्वरूपानन्दमें मग्न हों।

साधक-श्रावक (समाधिमरण)

व्रती श्रावक (नैष्ठिक) सदा सल्लेखना (समाधि) मरण करनेके उत्साही व अभिलाषी रहते हैं, इसलिये विषयों की मूर्च्छा तथा कषायोंकी वासना मन्द करते हुए यथासंभव पूर्णरीतिसे भलीभाँति व्रत पालन करते हैं। वहाँ जो श्रावक संसार-शरीर भोगोंसे विरक्त होते हुए इन्द्रियों के विषय तथा कषाय तजकर मन-वचन-कायसे निज-स्वरूपको साधते हुए मरण करते हैं वे साधक श्रावक कहाते हैं।

मरण पांच प्रकारके हैं। (१) पंडित-पंडित मरण—जो केवली भगवानके होता है अर्थात् जिस मरणके होनेपर फिर जन्म-धारण नहीं करना पड़ता। (२) पंडित-मरण—जो मरण मुनियोंके होता अर्थात् जिस मरणके होने पर दो-तीन भवमें मोक्षकी प्राप्ति होती है। (३) बाल-पंडित-मरण—जो देशसंयमी (श्रावक) के होता है और जिसके होने पर सोलहवें स्वर्गतक की प्राप्ति होती है। (४) बालमरण—जो अविरत सम्यग्दृष्टिके होता और बहुधा स्वर्गकी प्राप्ति कराता है। (५) बाल-बालमरण—जो मिथ्यादृष्टिके होता है और चतुर्गति भ्रमणका कारण है।

हम कह चुके हैं कि श्रावककी ग्यारह प्रतिमाओंमें से हर कोई भी प्रतिमाधारी समाधिमरण कर सकता है। उसका मरण बालपंडित मरण कहाता है। यहां साधक-श्रावकका वर्णन है इसी कारण बालपंडित मरणका विस्तारपूर्वक वर्णन किया जाता है।

सल्लेखना मरण, समाधिमरण, संन्यासमरण, ये तीनों एकार्थवाची हैं। भले प्रकार काय-कषायके कृश करनेको सल्लेखना कहते हैं। चित्तको शांत अर्थात् रागद्वेषको मन्दतायुक्त करना समाधि कहाती है। अपनी आत्मासे पर-पदार्थोंको भले प्रकार त्यागना सो संन्यास कहाता है। अतएव काय-कषायको कृश करते हुए, स्वरूप का ध्यान करते हुए, शांतचित्तयुक्त शरीररूपी गृहको त्यागना ही सुमरण है। इस प्रकार सुमरण करनेवाले भव्य पुरुष ही अपने साधे हुए सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूपी धर्मको साथ ले जाते हैं और अधिक-से-अधिक सात-आठ भवमें मुक्ति प्राप्त कर लेते हैं। इसके विपरीत जो पुरुष ऐसी उत्तम सर्व-योग्यताको पाकर समाधिमरण नहीं करते, वे मृत्युरूपी कल्पवृक्षको पाकर भी असावधान रह संसार-सागर में डूबते हैं।

जब तक शरीर सर्वप्रकार धर्मसाधनके योग्य रहे, तबतक योग्य आहार-विहारादि द्वारा उसे नीरोग रखते हुए उससे धर्म-साधन में सहायता लेता रहे, कदाचित् कर्मोदयसे कभी कोई रोग आजाय, तो योग्य औषधि सेवन करे, परन्तु शरीर की रक्षाके निमित्त अन्याय, अभक्ष्य रूप एवं पदस्थ के अयोग्य उपचार कदापि न करे, क्योंकि इससे अपने रत्नत्रयात्मक आत्मिक गुणोंकी हानि होती है। जब देखे कि ऐसा कोई असाध्य रोग हो गया है जो धर्मसाधनका बाधक एवं नष्ट करनेवाला है, तो शरीर को अपकारी नौकरकी तरह समझ, निर्ममत्व होता हुआ उसे छोड़नेके लिये तत्पर हो। नाश होने योग्य, अपवित्र शरीरके निमित्त अपने धर्मको हानि कदापि न पहुंचावे और सावधानीपूर्वक समाधिमरण करे। क्योंकि शरीर तो फिर भी मिल सकता है परन्तु नष्ट हुआ रत्नत्रयधर्म फिर मिलना दुर्लभ है। जो आत्महितैषी रत्नत्रयधर्मकी रक्षाके लिये शरीर की कुछ परवा नहीं करते, उनका समाधिमरण स्तुति योग्य है। क्योंकि जो फल बड़े-बड़े कठिन व्रत-तप करने से प्राप्त होता है, वही समाधिमरण करनेसे सहजमें प्राप्त हो जाता है।

कोई-कोई अज्ञानी पुरुष समाधिमरणका अभिप्राय अच्छी तरह समझ बिना धर्मसाधनके योग्य शरीर होते हुए और भले प्रकार धर्मसाधन होते हुए भी अज्ञान वा कषायवश विष, शस्त्रघातादिसे मरते, अग्निमें पड़ते, पर्वतसे गिरते, जीते हुए जमीनमें गड़कर समाधि लेते, झंपापात करते, स्त्रियां सती होतीं अर्थात् मरे हुए पतिके साथ जीती जलतीं इत्यादि अनेक प्रकार अनुचित रीतिसे प्राण त्यागनेमें धर्म समझते हैं। इस प्रकार आत्मघात करना निंद्य और नरकादि कुगतिका ले जाने वाला है। हां, जो ज्ञानीपुरुष मरण के सन्मुख होते हुए या चारित्र भ्रष्ट होनेके कारण प्राप्त होते हुए, निःकषाय भावपूर्वक शरीर त्याग करते हैं, उनका ऐसा सुमरण अज्ञान रागादि कषायों के अभावसे आत्मघात नहीं है किन्तु ज्ञान-पूर्वक मन्द कषायसहित होनेसे वर्तमानमें सुखका और परम्पराय-मोक्षप्राप्तिका कारण है।

सामाधिमरण दो प्रकारका होता है : सविचारपूर्वक और अविचारपूर्वक।

(१) सविचार समाधिमरण

जब शरीर अति वृद्ध हो जाय अर्थात् चारित्रको हानि पहुंचानेवाला

बुढ़ापा आ जाय, दृष्टि अति मंद हो जाय, पांवसे चला न जाय, ऐसा असाध्य रोग हो जाय जिसका इलाज होना असंभव हो, मरणकाल अति निकट आजाय, ऐसी दशाओंमें काय-कषायको कृश करते हुए अन्तमें चार प्रकार आहार-त्याग धर्म-ध्यानसहित मरण करना, सो सविचार समाधि-मरण कहाता है।

(२) अविचार समाधिमरण

जब विना जाने अचानक ही देव, मनुष्य, तिर्यंच अथवा अचेतन कृत उपसर्ग आ जाय, घरमें आग लग जाय, निकलनेका कोई उपाय न रहे, बीच समुद्रमें जहाज डूबने लगे, सांप काट खाय, इलाजका कोई अवसर न हो, महावनमें मार्ग भूल जाय, जहांसे बाहर निकलना असम्भव हो, चारित्र-नाशक शत्रु या प्राणघातक डाकू घेर ले, बचनेका कोई उपाय न रहे, अचानक दुर्भिक्ष आ जाय, अन्न पान न मिले, ऐसे अचानक कारणोंके आने पर अपने शरीरको तेलरहित दीपकके समान स्वयमेव विनाशके सन्मुख आया जान संन्यास धारण करे। चार प्रकार आहारका त्याग कर पंच-परमेष्ठीके स्वरूपमें तथा आत्मध्यानमें लवलीन हो। यदि मरणमें किसी प्रकारका संदेह जाने, तो नियमरूप ऐसी प्रतिज्ञा करे कि "इस रोग-उपसर्ग-अग्नि आदि से जो मृत्यु हो, तो मेरे चार प्रकार आहारका तथा आत्मा सिवाय अन्य सब पदार्थों से ममत्व भावका त्याग है। यदि इतने काल तक बचूंगा, या इस दुःख से बचूंगा, तो आहार-पान परिग्रहादि पूर्ववत् या इस प्रकार घटाकर ग्रहण करूंगा"। इस प्रकार एकाएक कायसे ममत्व छोड़, शांत परिणामोंयुक्त चार प्रकार आहारका त्याग कर समाधिमरण करना, सो अविचार समाधिमरण कहाता है।

अविचारसमाधिमरण करने वाले को जैसा कुछ द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव कर्मयोगसे मिल जाय, उसीमें परिणामोंकी थिरतापूर्वक आत्म-हित करना योग्य है परन्तु सविचार समाधिमरण करने वालेको तो समाधिमरणके योग्य द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव मिलाना आवश्यक है। अतएव यहाँ चारोंका संक्षिप्त स्वरूप कहा जाता है।

द्रव्य—यद्यपि अविरत-सम्यग्दृष्टि तथा व्यवहार-सम्यग्दृष्टि भी अपनी योग्यतानुसार समाधिमरण कर सकते हैं तथापि साधक-श्रावकके प्रकरण में व्रतधारकको ही समाधिमरण करने का अधिकारी आचार्यों ने बताया है।

क्षेत्र—जिस क्षेत्र में समाधिमरण कराने में तथा वैयावृत्ति करने में प्रवीण धर्मात्माओं का समागम हो, समाधिमरण करनेके विरोधी राजा-मंत्री आदि न हों। सर्व प्रकारकी अनुकूलता हो, विशेष मोह ममत्वका कारण तथा स्त्री, नपुंसक, पशु आदिका संघट्ट वा कोलाहल न हो, जिस जगह विशेष शीत, ऊष्ण, डांस, मच्छर आदि बाधक कारण न हों, तथा क्षेत्र अपवित्र, असुहावना और दुर्गंधित न हो।

काल—अपना शरीर बहुत वृद्ध तथा इन्द्रियां शिथिल होती जान अधिक-से-अधिक १२ वर्ष पेश्तरसे समाधिमरण करने योग्य सामग्रीका समागम मिलावे। समाधिमरणके लिये शीत ऋतु बहुत अनुकूल होती है। जिस समय उस क्षेत्रमें अकाल, मरी आदि चित्त-विक्षेपके कारण उपस्थित हों, उस समय समाधिमरण न मांड़े, क्योंकि ऐसे समय समाधिमरण कराने वालों का समागम मिलना व चित्त स्थिर रहना कठिन हो जाता है।

भाव—समाधिमरण करने वालेके परिणाम शोक-भय-चिन्ता-मोह-ममत्व रहित, संसार-शरीर-भोगोंसे विरक्त, मन्दकषाययुक्त, धर्ममें उत्साहवान् तथा आत्मकल्याणकी इच्छारूप हों।

यहा कोई प्रश्न करे कि बचपनसे ही धर्मसाधन करने तथा युवा अवस्थासे ही समाधिमरणके अभ्यास करनेकी क्या आवश्यकता है? जब मरणकाल समीप आवे, तभी धर्म-साधन या समाधिमरण करना योग्य है। उसका समाधान--जो पुरुष बचपन तथा जवानी में धर्म-मर्म तथा समाधिमरणके स्वरूपसे अज्ञ रहते हैं, वे अन्तसमय धर्मध्यान पूर्वक शरीर छोड़नेको समर्थ नहीं हो सकते। जिस प्रकार युद्ध क्रियाका न जाननेवाला एवं अभ्यासरहित पुरुष युद्ध के समय शत्रु के शस्त्रोंका प्रहार देखकर तथा मार-मारके भयकर शब्द सुनकर युद्धस्थलमें नहीं ठहर सकता और न शत्रु का सामना करके जय पा सकता है, उसी प्रकार जिसने पहिले से ही धर्मज्ञान की प्राप्ति तथा धर्मसाधन न किया हो, समाधिमरण करने योग्य परिणामों की निर्मलता-निर्ममत्व का अभ्यास न किया हो, समाधिमरणकी क्रिया देखी-सुनी न हो, वह अन्तसमय समाधिमरण नहीं कर सकता। जैसे मलिन वस्तु पर अच्छा रंग नहीं चढ़ सकता, उसी प्रकार उसको अंत समय समाधिमरण करनेमें रुचि उत्पन्न होना असंभव है।

भगवती आराधना सारमें कहा है कि "जहांतक संभव हो, समाधिमरण करनेवाला अंत समय मुनिव्रत धारण करे। सर्व परिग्रह तजे। देहसे

निर्ममत्व हो शिर, डाढ़ी मूंछके केश लौंच करे, मयूरपिच्छिका धारण करे"। उत्कृष्ट प्रतिज्ञाधारकों को (दशवीं, ग्यारहवीं प्रतिमावालोंको) मुनिव्रत धारण करना सहज है, इसलिए उनको मुनिव्रत धारणपूर्वक ही समाधिमरण करना चाहिये। यदि कोई श्रावक उपसर्ग, परिषह सहनेको असमर्थ हो या ऐसा सुअवसर तथा योग्यता उसे न मिले, तो अपने गृहमें वा गृहस्थ अवस्थामें ही एकांत स्थान में दो-चार धर्मात्माओंको पास रखकर अपना कार्य सुधारे।

प्रथम ही अपने कुटुम्बी आदिको इस प्रकार सम्बोधन कर ममत्व छुटावे, "हे इस शरीरके माता-पिता-स्त्री-पुरुषादि! अब यह शरीरमरण अर्थात् नाशके सन्मुख हुआ है, तुम्हारा अब इससे कुछ भी प्रयोजन सधनेवाला नहीं है, हमारा-तुम्हारा इतना ही संयोग था सो पूरा हुआ। संयोग, वियोग की यही दशा एक-न-एक दिन सबपर बीतने वाली है। एक दिन सबको कर्मजनित शरीरादि सामग्री छोड़ परलोक जाना है। इसलिये मुझसे मोह-ममत्व छोड़कर शांत भाव धारण करो और मेरे कल्याणके सहायक बनो" इस प्रकार उन्हें समझाकर निर्ममत्व हो, पुत्रादिकको गृहस्थी का भार सौंप, जिसको जो कुछ देना-लेना हो, देवे-लेवे। दान-पुण्य करना हो, करे। पीछे निःशल्य होकर अपने आत्मकार्य में लगे।

समाधिमरण करनेवाला सुहावने तथा स्वच्छ स्थानमें शुद्ध संस्तर[1] पर पूर्व या उत्तरको मुंह करके बैठे (भगवती आरा०) संपूर्ण परिग्रहसे निर्ममत्व हो, पंच-परमेष्ठीके प्रति अपने पूर्वकृत दुष्कर्मोंकी आलोचना करे, पश्चात् इस प्रकार द्वादशानुप्रेक्षा का चिंतन करे—

१. अनित्य भावना

हे जीव! इस संसारमें किसी भी वस्तुका संयोग स्थिर नहीं है। राजा-राणा-चक्रवर्ती तथा साधारण पुरुष सभी अपनी आयु पूरी करके पर्यायान्तर को प्राप्त होते हैं। तेरी आयु भी क्षण-क्षण घट रही है। यौवन, शरीर, धन, पुत्र, स्त्री, आदिका संयोग जलबुद्बुदवत् क्षणभंगुर है, संसारकी ऐसी अस्थिरता जान फिर तू निश्चित क्यों हो रहा है? अपना आत्महित शीघ्र कर।

---

१. स्वच्छ पवित्र पृथ्वी तल पर योग्यतानुसार पियांर या घासका बिछौना हो अथवा उस पर ऊपर से एक स्वच्छ वस्त्र या चटाई हो।

२. **अशरण भावना**

हे जीव! इस संसारमें तेरा कोई भी सहाई नही है, तेरे ही किये हुए पुण्य-पापके अनुसार तुझे सुख-दुख प्राप्त होता है। देवी, देवता, माता-पिता, कुटुम्बी आदि कोई भी तेरी रक्षा करनेको, तेरे दुख मिटानेको, समर्थ नहीं हैं। सम्पूर्ण धन-सम्पत्ति खर्चनेपर भी एक क्षणकी आयु नहीं बढ़ सकती, अतएव संसार की इसी प्रकार अशरण अवस्था जान तू अपनी संभाल शीघ्र कर।

३. **संसार भावना**

हे आत्मन्! यह जन्म-जरा-मरणरूप संसार अनादि-निधन, अनन्त दुःखोंका सागर और कल्याणरहित, नित्य पंच-परिवर्तन रूप है। चारों गति मरण, शोक, भय, तृष्णामय हैं। संसारमें एक आत्माके सिवाय सब परपदार्थ हैं, अतएव सबसे ममत्व छोड़कर निजमें ममत्व जोड़ना ही आत्महित है।

जन्म-मरण प्रारम्भ करके बार-बार पूर्ण करनेको परिभ्रमण, परिवर्तन या संसार कहते हैं, जो पांच भेद रूप है : द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव।

(१) **द्रव्य परिवर्तन**—इसका दूसरा नाम पुद्गलपरिवर्तन भी है। इसके दो भेद हैं : नोकर्म-परिवर्तन और कर्म-परिवर्तन।

नोकर्म-परिवर्तन—औदारिक, वैक्रियक, आहारक तीन शरीर सम्बंधी छः पर्याप्ति होने के योग्य पुद्गल-वर्गणाओंको नोकर्मवर्गणा कहते है। किसी जीवने किसी समय जिन नोकर्मवर्गणाओंको स्पर्श, रस, गंध, वर्णादि करि तीव्र, मध्यम, मंद भाव लिये हुए यथासंभव ग्रहण किये। पश्चात् समयोंमें तिन वर्गणाओंकी निर्जरा होती रहती है। इस प्रकार अनंतवार अगृहीत के समय-प्रबद्धोंको ग्रहण कर-कर छोड़े, अनंतवार मिश्र को ग्रहण कर छोड़े तथा अनंतवार गृहीत[1] वर्गणाओंके समयप्रबद्ध

१. जो परमाणु पहिले कभी ग्रहण न किये हों प्रथम ही नये ग्रहण किये जांय सो अगृहीत, जो पहिले ग्रहण किये जाकर फिर ग्रहण किये जांय सो गृहीत, तथा कुछ नये कुछ पूर्व में ग्रहण किये हुए मिलकर ग्रहण किये जांय सो मिश्र कहाते है। अनादिकाल से एक जीवने अनंत-अनंत पुद्गल, समय-समय ग्रहण किये, तो भी लोकमें बहुत से अगृहीत परमाणु अब भी मौजूद है। अथवा जब नया परिवर्तन शुरू होता है तब पूर्व-परिवर्तन में ग्रहण किये हुए परमाणु भी अगृहीत कहलाने लगते है।

को भी ग्रहण कर-कर छोड़े। ऐसा करते हुए जिस समय, उन्हीं प्रथम समयमें ग्रहणकी हुई नोकर्म वर्गणाओंको गणनामें उतनी ही तथा वैसे ही स्पर्श, रस, गंध, वर्णादिको लिये हुए ग्रहण करे ऐसी क्रिया होने के समुदायरूप सम्पूर्ण कालको एक नोकर्म-परिवर्तन काल कहते हैं।

कर्मपरिवर्तन—ज्ञानावरणादि अष्टकर्म रूप होने योग्य पुदगल वर्गणाओंको कर्मवर्गणा कहते हैं। किसी जीवने किसी समय आठ प्रकार कर्मरूप होने योग्य कार्माण-वर्गणा ग्रहण की, समय अधिक आवलीमात्र आबाधा-काल व्यतीत होने पर उनकी निर्जरा होने लगती है। इसके अनंतर जैसा अनुक्रम नोकर्मपरिवर्तनमें कहा है, वैसे ही अगृहीत, मिश्र तथा गृहीतके समय प्रबद्धको अनंत-अनंत बार ग्रहण करि-करि छोड़े, इस प्रकार करते हुए वह जीव जिस समय प्रथम बार ग्रहणकी हुई कर्मवर्गणाओं को, उतने ही प्रमाण ग्रहणकरि कर्मत्वभावको प्राप्त करे, उस बीचके सम्पूर्ण काल को एक कर्मपरिवर्तन काल जानो।

(२) क्षेत्रपरिवर्तन—यह भी दो प्रकारका है: स्वक्षेत्रपरिवर्तन और परक्षेत्रपरिवर्तन।

स्वक्षेत्रपरिवर्तन— कोई जीव प्रथम समय जघन्य अवगाहनायुक्त सूक्ष्म-लब्धि-अपर्याप्त निगोदियाका शरीर धारण करे, पश्चात् उससे एक प्रदेश बढ़ती अवगाहनाको धरे। इस प्रकार क्रमसे एक-एक प्रदेश बढ़ाता हुआ महामत्स्यकी उत्कृष्ट अवगाहनापर्यंत शरीर धारण करे, बीच में जो क्रमरहित अवगाहनायुक्त शरीर धारण करे, सो गिनतीमें नहीं। ऐसा करते हुए जितना समय लगे, सो सब एक स्वक्षेत्रपरिवर्तन काल जानो।

परक्षेत्रपरिवर्तन—कोई सूक्ष्म लब्धि-अपर्याप्तक निगोदिया जीव जघन्य अवगाहनाके शरीरको धारणकर मेरुके नीचे, लोकके मध्यभागमें इस प्रकार जन्म ले कि उस जीवके मध्यके ८ प्रदेश, लोकके मध्यके आठ प्रदेशों पर आजायं[1]। पश्चात् आयुपूर्ण होने पर मरकर संसार भ्रमण करता हुआ फिर किसी कालमें उतने ही प्रदेश प्रमाण अवगाहनाका शरीर धारण कर उसी क्षेत्रमें जन्म ले, इसी भांति शरीरकी अवगाहनाके बराबर

---

१. सूक्ष्मलब्ध्यपर्याप्त निगोदियाके शरीरकी अवगाहना असंख्यातप्रदेश प्रमाण होती है इसलिए लोकके मध्यके ८ प्रदेशोंको अपने आठ रुचिक (मध्य के) प्रदेशोंसे दाबता तथा और भी आसपासके क्षेत्रको रोकता है।

असंख्यात प्रदेश-प्रमाण बार उसी क्षेत्रमें उसी प्रकार जन्म ले, पश्चात् एक प्रदेश प्रमाण अधिक क्षेत्रको बढ़ाकर[1] जन्म ले, ऐसे क्रमसे श्रेणीबद्ध एक-एक प्रदेश बढ़ाता हुआ लोकाकाशके सम्पूर्ण प्रदेशोंमें जन्म ले। क्रमरहित प्रदेशोंमें जन्म लेना गिनती में नहीं, इस प्रकार लोकाकाश के सम्पूर्ण प्रदेशों में जन्म तथा मरण करनेमें जितना काल लगे वह सब एक परक्षेत्रपरिवर्तन काल जानो।

(३) **काल परिवर्तन**—कोई जीव उत्सर्पिणीकालके प्रथम समयमें उत्पन्न हुआ, मरकर संसारमें भ्रमण करता करता फिर किसी उत्सर्पिणीके दूसरे समय में उत्पन्न हो, इसी प्रकार तृतीयादि समयोंमें क्रमसे जन्म ले-लेकर उत्सर्पिणी के दश कोडा-कोडी सागर व अवसर्पिणी के दश कोडा-कोडी सागर इस प्रकार २० कोडा-कोडी सागर (कल्प काल) के समयोंको क्रमपूर्वक जन्म ले-लेकर पूर्ण करे, क्रमरहित गिनतीमें नही। ऐसा करनेमें जितना काल व्यतीत हो, वह सब एक काल-परिवर्तन जानो।

(४) **भव-परिवर्तन**—कोई जीव प्रथम नरकमें दश हजार वर्षकी जघन्य-आयु पाकर जन्मा, आयु पूर्ण होनेपर मरा, पीछे संसार भ्रमण करते-करते फिर किसी कालमें उतनी ही आयुका धारक हुआ, इस प्रकार दश हजार वर्षके जितने समय होते हैं, उतने बार दश-दश हजार वर्षकी आयुका ही धारक होकर, पीछे क्रमसे एक-एक समय अधिक, आयु धारण कर नरकायुका उत्कृष्ट ३३ सागर प्रमाण काल पूर्ण करे। इसी प्रकार देवायुकी जघन्य-स्थिति दश हजार वर्षसे लेकर उत्कृष्ट स्थिति ३१ सागर[2] तक तथा मनुष्यायु-तिर्यंचायुकी जघन्य स्थिति अंतर्मुहूर्तसे लेकर उत्कृष्ट स्थिति तीन पल्य पर्यन्त क्रमपूर्वक एक-एक समय बढ़ाता हुआ पूर्ण करे। क्रमरहित गिनती में नहीं। ऐसा करते हुए चारों आयुके पूर्ण करनेमें जितना काल लगे, वह सब एक भव-परिवर्तन काल जानो।

(५) **भाव परिवर्तन**—योगस्थान, अनुभाग-अध्यवसाय स्थान,

१. प्रदेश आगे बढ़ानेका मतलब ऐसा नहीं है कि पहले प्रदेशोंको भी शामिल करके उतना बड़ा शरीर करे। किन्तु आगे एक-एक प्रदेश क्रमसे बढ़ाता जाय, पीछे के प्रदेश चाहे छूटते जायं।

२. देवायु में ३१ सागरसे अधिक आयुका धारक नियमसे सम्यक्ती मोक्षमार्गी ही होता है अतएव उसे परिवर्तन नहीं करना पड़ता, इसीलिए यहां ३१ सागर कहा है।

कषाय-अध्यवसाय स्थान, स्थिति-स्थान इन चारों का परिवर्तन क्रमपूर्वक पूर्ण होना, सो एक भाव परिवर्तन काल है अर्थात किसी जीवके जिस समय जघन्य स्थिति स्थान, जघन्य कषाय-अध्यवसाय स्थान, जघन्य अनुभाग-अध्यवसाय स्थान और जघन्य ही योग स्थान हो, तब भाव परिवर्तन का आरम्भ जानो। वहां योगस्थान के तो एक-एक स्थान क्रम से पलट कर उत्कृष्ट पर्यन्त असंख्यात स्थान पूर्ण हों और शेष तीनों ज्यों के त्यों जघन्य रूप ही रहें। इस प्रकार जब योगस्थान पूर्ण हो चुकें, तब अनुभाग- अध्यवसायस्थान पलटकर दूसरा हो, शेष दो का जघन्य स्थान ही रहे। इस प्रकार योगस्थानोंकी पलटन पूर्वक असंख्यात-लोक-प्रमाण अनुभाग-अध्यवसाय स्थान क्रम से पलट-पलटकर पूर्ण हो चुकें, तब कषाय अध्यवसायका दूसरा स्थान हो। इस प्रकार योग स्थान, अध्यवसाय स्थान पूर्वक, कषयाध्यवसाय स्थान क्रमसे पलटते हुए असंख्यात लोकप्रमाण पूर्ण हों तब स्थिति स्थान जघन्यसे पलटकर दूसरा अर्थात एक समय अधिक हों, इस प्रकार सब कर्मोंकी मूल उत्तर प्रकृतियों के स्थिति-स्थानों के इसी क्रमपूर्वक पलटनेमें जितना समय लगे, वह सब भाव-परिवर्तन काल जानो।

द्रव्य परिवर्तन काल अनन्त है, उससे अनन्तगुणा क्षेत्र परिवर्तनका, उससे अनन्तगुणा काल-परिवर्तनका, उससे अनन्तगुणा भव-परिवर्तनका और उससे अनन्तगुणा भाव-परिवर्तनका काल है। इन पाँचों परिवर्तनोंके कालका समूह एक परिवर्तन कहाता है। जीव मिथ्यात्ववश अनादिकालसे अपने शुभाशुभ परिणामोंके अनुसार सुख-दुःख भोगता हुआ ऐसे अनन्त परिवर्तन कर चुका है इसलिए अब भव-भ्रमणके दुःखोंसे छूटनेका प्रयत्न करना अवश्य है।

४. एकत्व भावना

हे जीव ! तीनों लोकोंमें तू अकेला है, तेरा कोई भी साथी नहीं, अकेला ही जन्मता और अकेला ही मरता है, अकेला ही अपने किये हुए शुभाशुभ कर्मोंका फल (सुख-दुख) भोगता है। स्त्री-पुत्रादि कोई भी साथी नहीं होते। केवल आत्मीक गुण (रत्नत्रय) ही तेरे साथी, तेरे स्वभावरूप हैं। उन्हींके प्रभावसे तू मोक्ष-सुख पा सकता है, इसलिए उन्हींके बढ़ानेका यत्न कर।

५. अन्यत्व भावना

हे आत्मन् ! तू इन कर्म-शरीरादि पुद्गलोंसे पृथक है, केवल भ्रम-बुद्धिसे इनको अपने मान रहा है। तू सर्वांग चेतन और ये शरीरादि जड़ हैं। फिर इनमें तथा घर, सम्पत्ति, परिवार में एकता कैसी ? और इनका भरोसा कैसा ? व्यर्थ ही तू इनका भरोसा करता और इनके लिए पाप करके दुर्गति का पात्र बनता है।

६. अशुचि भावना

हे आत्मन ! यह शरीर अशुचि माताके रज और पिताके वीर्यसे उत्पन्न हाड, मांस, मल, मूत्रका समूह है। इसमें रहते हुए तुझे क्या ग्लानि नहीं आती ? क्या तुझे चमड़ेसे लिपटा हुआ घिनावनी वस्तुओंका समूह यह शरीर सुहावना लगता है ? जो तू इसे अपना रहा है। भला ! विचार तो सही, संसारमें जितनी अपवित्र वस्तुयें हैं वे सब एक शरीरके सम्बन्धसे ही अपवित्र हुई हैं। इतना होनेपर भी यह शरीर स्थिर नहीं है, अतएव ऐसे अपवित्र शरीर से ममत्व तजना और आत्माके पवित्र होनेका प्रयत्न करना ही श्रेष्ठ है।

७. आस्रव भावना

हे जीव ! मिथ्यात्व, अविरत, कषायके वशीभूत होकर मन-वचन-कायकी प्रवृत्ति करनेसे पुदगल-कर्मोंका आस्रव होकर आत्मा से बंध होता है, जिससे आत्माके ज्ञानदर्शनादि गुणोंका घात होता है, अतएव आत्म-गुणोंकी रक्षाके लिए इन मोहादि भावोंका त्यागना योग्य है।

८. सवर भावना

हे आत्मन ! मोहके मन्द पड़ने अथवा सर्वथा अभाव हो जानेसे सम्यक्त्व, संयम तथा निष्कषाय भाव उत्पन्न होते और योगोंका निरोध होकर, नूतन कर्मोंका आना रुक जाता है, अतएव आत्म हितके लिए जिस-तिस प्रकार इस संवर अवस्थाकी प्राप्ति करना अवश्य है।

९. निर्जरा भावना

हे आत्मन् ! शुभाशुभ कर्मोंके उदयानुसार सुख-दुखकी सामग्रीके समागम होनेपर समताभाव धारण करनेसे सत्तास्थित कर्मोंका स्थिति अनुभाग घटता और बिना रस दिए ही (कर्मत्वशक्ति रहित होकर)

निर्जरा होती है। इस प्रकार संवरपूर्वक कर्मोंका एकदेश अभाव होना सो (अविपाक) निर्जरा और सर्वदेश कर्मोंका अभाव हो जाना सो मोक्ष है। अतएव मुक्तिप्राप्ति के लिये शुद्धोपयोगकी वृद्धि करना ही उचित है।

१०. लोक भावना

हे आत्मन्! यह अनादि, अनन्त, अकृत्रिम, षटद्रव्योंसे भरा हुआ लोक १४ राजू ऊंचा, उत्तर-दक्षिण ७ राजू चौड़ा, पूर्व-पश्चिम नीचे ७ राजू, मध्यमें १ राजू, पांचवें स्वर्गके अन्तमें ५ राजू, और ऊपर लोकके अन्तमें १ राजू मोटा है। यह पुरुषाकार ३४३ घन राजू प्रमाण घनाकार है। अधोलोकमें ७ नरक पृथ्वी, मध्यलोकमें असंख्यात द्वीप-समुद्र, ऊर्ध्व-लोकमें १६ स्वर्ग, नव ग्रैवेयिक, नव अनुत्तर, पंच-पंचोत्तर हैं, उनसे ऊपर अष्टमी प्राग्भार-पृथ्वी है, जिसमें अंगूठीमें नगीने की नाईं ४५ लाख योजन व्यासयुक्त सिद्धशिला जड़ी हुई है, सबसे ऊपर लोकके अन्तमें मुक्तजीवोंका स्थान (सिद्धालय) है। जीव अनादिकालसे सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रकी प्राप्ति के बिना इस लोकमें सर्वत्र जन्म-मरण कर रहा है, अतएव संसार-भ्रमणसे बचने के लिए आत्मगुणों की एकताको प्राप्त करना ही परम कर्तव्य है।

११. बोधि दुर्लभ भावना

हे आत्मन्! इस संसार भ्रमणमें प्रथम तो नित्य निगोदसे निकलना ही महा कठिन है, फिर बे-इन्द्री, तेइन्द्री, चौइन्द्री, पंचेन्द्रियका होना क्रमशः दुर्लभ है। सैनी पंचेन्द्रिय, मनुष्यपना, उच्चकुल, नीरोगता, आयुकी पूर्णता पाना अति दुर्लभ है। तिसपर क्षयोपशमादि पंचलब्धियोंको प्राप्त होकर सम्यकत्व और चारित्र का उत्पन्न होना महा कठिन है। अब यह शुभ अवसर प्राप्त हुआ है। अतएव ऐसे दुर्लभ-संयोग को पाकर अनन्तकाल-स्थायी स्वस्थान (मोक्ष) की प्राप्तिका यत्न करना योग्य है।

१२. धर्म भावना

हे आत्मन्! धर्म आत्माका स्वभाव है, वह निश्चयनयसे यद्यपि अकथनीय है तथापि व्यवहारनयसे रत्नत्रय, दश लक्षण, जीवदया रूप है। इस निज स्वभाव रूप आत्मधर्मको प्राप्त करना ही जीवका परमहित है, इस निज-सम्पत्तिको पाकर ही यह जीव सच्चा सुखी हो सकता है अतएव इसको धारण करना ही सर्वश्रेष्ठ है।

ये द्वादश भावना वैराग्यका माता संवेग-निर्वेदकी उत्पादक हैं, इनके चितवन करनेसे संसार से विरक्तता होकर दर्शन-ज्ञान-चारित्र-तप भावनाओं में गाढ़ रुचि उत्पन्न होती है अतएव समाधिमरण करनेवाला इन भावनाओं-आराधनाओं युक्त पंच-परमेष्ठीके गुणोंका तथा आत्मगुणोंका चितवन करे। निकटवर्ती साधर्मी भाइयोंको भी चाहिए कि समाधिमरण करने वालेका उत्साह हर समय बढ़ाते रहें, धर्मध्यानमें सावधान करते रहें। वैयावृत्य करते हुए सदुपदेश देवें और रत्नत्रयमें उपयोग स्थिर करावें।

अब समाधिमरण करनेवाला अन्त समयमें किस प्रकार आहारादि को घटावे तथा क्या चितवन करे वह लिखते हैं। प्रथम ही अन्नके बदले क्रम-क्रमसे दूध पीनेका अभ्यास डाले, पीछे छांछ और उसके बाद प्राशुक जल ही रक्खे, जब देखे कि आयु दो-चार प्रहर, या १ दिन की ही शेष रही जान पड़ती है, तब शक्ति-अनुसार चार प्रकार आहारका त्याग करे। योग्यता तथा आवश्यकतानुसार ओढ़ने-पहिरने मात्र अल्प वस्त्र परिग्रह रक्खे, यदि शक्ति और सब प्रकारकी योग्यता हो तो वस्त्रादिक सब परिग्रह त्याग, मुनिव्रत धार तृण के संस्तर पर पद्मासन या पर्यंकासनसे बैठ जाय, यदि बैठने की शक्ति न हो, तो लेट जाय और मन, वचन, कायको स्थिरकर धीरे-धीरे समाधिमरण में दृढ़ करनेवाले पाठ पढ़े, अथवा साधर्मीजनोंके बोले हुए पाठोंको रुचिपूर्वक सुने, जब बिलकुल शक्ति घट जाय तो केवल णमोकार मंत्र ही जपे, पंचपरमेष्ठीका ध्यान मात्र करे, जब यह शक्ति भी न रहे, तब निकटवर्ती धर्मात्मा पुरुष धीरे-धीरे मीठे स्वरसे उसे सावधान करते हुए, केवल अर्हत्-सिद्ध या सिद्ध नाममात्र ही सुनावें। यह बात ध्यान में रहे कि समाधिमरण करनेवालेके पास कुटुम्बी या कोई दूसरे आदमी सांसारिक वार्तालाप न करें, रोवें और गावें नहीं, कोलाहल न करें क्योंकि ऐसा होनेसे समाधिमरण करनेवालेका मन उद्वेग-रूप हो जाता है। अतएव हरएक सज्जनको यही उचित है कि उसके निकट संसार, शरीर, भोगोंसे विरक्त करनेवाली चर्चा-वार्ता करे, तथा आगे जो बड़े सुकुमाल आदि सत्पुरुषों ने भारी-भारी परीषह-उपसर्ग सहकर समभावों पूर्वक समाधि-मरण साधा, उनकी कथा कहे, जिससे समाधिमरण करनेवालेके चित्तमें उत्साह और स्थिरता उत्पन्न हो। इस प्रकार समतासहित, ममतारहित शरीरका त्याग करना समाधिमरण कहाता है।

समाधिमरणके नीचे लिखे पांच अतीचार त्यागने योग्य हैं। क्योंकि इनके लगने से समाधिमरण दूषित हो जाता है—

(१) जीवित-आशंसा—ऐसी वांछा करना कि यदि मैं अच्छा हो जाऊं और कुछ काल और भी जीऊं तो अच्छा है।

(२) मरण-आशंसा—ऐसी वांछा करना कि दुःख बहुत हो रहा है, यदि शीघ्र मर जाऊं तो अच्छा है।

(३) मित्रानुराग- माता, पिता, स्त्री, पुत्र, मित्र आदि की प्रीति का स्मरण तथा मिलने की इच्छा करना।

(४) सुखानुबंध—पूर्वकाल में भोगे हुए भोगोंका स्मरण करना।

(५) निदान—परभवमें सांसारिक विषयभोगों की प्राप्ति की वांछा करना।

जो अणुव्रती सत्पुरुष अतीचाररहित संन्यासमरण करते हैं, वे अपने किये हुए व्रत रूपी मन्दिर पर मानो कलश चढ़ाते हुए स्वर्गमें महर्द्धिक देव होते हैं। दोचार भव में ही सच्चे आत्मिक निराकुलित स्वरूपानन्द को प्राप्त होते हैं। क्योंकि समाधिमरण के भलेप्रकार साधनेसे अगले जन्म में वासना चली जाती है, जिससे वह जीव वहां विराग-रुचि होकर निर्ग्रंथपना धारने का उत्साही होता और शीघ्रही मुनिव्रत धारणकर, शुद्धस्वरूप को साध, मोक्ष प्राप्त कर सकता है।

अभिवंदन प्रकरण

(भद्रबाहु संहितानुसार)[1]

अव्रती, व्रती, ब्रह्मचारी, उत्तम श्रावक तथा निर्ग्रंथ गुरु आदि के, एक दूसरे से अभिवंदन करने की पद्धति—

(१) गुरु मुनि के लिए श्रावक 'नमोस्तु' कहे।

(२) गुरु (मुनि) बदले में उत्तम त्रिवर्ण-श्रावकों को 'धर्मवृद्धि' साधारण (सामान्य) पुरुषोंको 'धर्मलाभ' और शूद्रोंको 'पापं क्षयतु' कहें।

(३) ब्रह्मचारीको श्रावक 'वन्दना' कहे।

(४) ब्रह्मचारी बदलेमें श्रावकको 'पुण्यवृद्धि' अथवा 'दर्शनविशुद्धि' कहे।

१. अन्य ग्रन्थों में यह विषय देखने में नहीं आया।

(५) श्रावक आर्यिका को 'वंदामि' कहे[1]।

(६) आर्यिका भी श्रावकको धर्मवृद्धि और सामान्य पुरुषोंको धर्म-लाभ कहें।

(७) व्रती श्रावक अर्थात् सहधर्मी आपसमें 'इच्छाकार' करें तथा विरक्त उदासीन श्रावकसे भी 'इच्छाकार' करे।

(८) शेष जैनी मात्र आपसमें जुहार (जूहारु) या जयजिनेन्द्र करें।[2]

(९) गृहस्थ अपने लौकिक व्यवहार में जेठों, बड़ों को नमस्कार करें।[2]

(१०) इनके सिवाय और पुरुषोंके प्रति भी उनकी योग्यतानुसार यथायोग्य विनय करना चाहिये।

(११) विद्या, तप और गुणों से श्रेष्ठ पुरुष, अवस्थामें कम होते हुए भी ज्येष्ठ (बड़ा) माना जाता है।

(१२) सूत्रपाहुडमें दशवीं-ग्यारहवीं प्रतिमावाले उत्कृष्ट-श्रावकों को 'इच्छाकार' करना लिखा है, अर्थात् मैं आप सरीखे होनेकी इच्छा करता हूँ।

(१३) ग्यारहवीं प्रतिमावाले आपसेमें 'इच्छामि' करे (सागारधर्मामृत और धर्मसंग्रह श्रावकाचार)।

यहां पर व्रती स्त्री-पुरुषोंको श्रावक और शेष सबको सामान्य गृहस्थ समझना चाहिये।

सूतकप्रकरण

सूतकमें देव-गुरु शास्त्रका पूजन स्पर्शन, मन्दिर के वस्त्र-पात्रका स्पर्शन तथा पात्रदान वर्जित है। सूतक कालपूर्ण होने पर प्रथम दिवस पूजन-प्रक्षाल तथा पात्रदान करके पवित्र होवे। सूतकका विधान इस प्रकार है—

---

१. यह किसी ग्रंथ में नहीं मिला कि श्राविका, आर्यिका के प्रति क्या कहे, और आर्यिका बदले में श्राविका से क्या कहे परन्तु बुद्धि में आता है कि श्रावकों की नाईं श्राविका भी आर्यिका प्रति वंदामि कहे और आर्यिका श्रावकों की नाईं श्राविका को धर्मवृद्धि कहे।

२. जेठे-बड़े अपनेसे छोटोंको बदले में क्या कहें ? ऐसा कहीं देखने में नहीं आया, परन्तु बुद्धि में आता है कि 'सुखी होओ' आदि आशीर्वादात्मक-वचन कहें।

(१) वृद्धि अर्थात् जन्मका सूतक (सुआ) १० दिन का माना जाता है।

(२) स्त्रीका गर्भ-जितने माहका पतन हो, उतने दिनका सूतक मानना चाहिये, यदि ३ माहसे कमका हो, तो तीन दिनका सूतक मानना चाहिये।

(३) प्रसूता-स्त्रीको ४५ दिनका[1] सूतक होता है, इसके पश्चात वह स्नान-दर्शन करके पवित्र होवे।

(४) प्रसूतिस्थान का एक माहका सूतक अर्थात् अशुद्धता कही है।

(५) रजस्वला (ऋतुवती) स्त्रीकी पांचवे दिन शुद्धता होती है।

(६) व्यभिचारिणी स्त्री कभी भी शुद्ध नहीं होती, उसके सदा ही सूतक है।

(७) मृत्युका सूतक १२ दिनका माना जाता है।

(८) तीन पीढ़ीतक १२ दिन, चौथी पीढ़ीमें १० दिन, पांचवीं पीढ़ीमें ६ दिन, छट्ठी पीढ़ीमें ४ दिन, सातवीं पीढ़ीमें ३ दिन, आठवीं पीढ़ी में १ दिन-रात, नववीं पीढ़ीमें दो प्रहर और दशवीं पीढ़ीमें स्नानमात्रसे शुद्धता कही है।

(९) ८ वर्ष तकके बालककी मृत्युका ३ दिनका और तीन दिनके बालकका १ दिनका सूतक है।

(१०) अपने कुलका कोई गृह-त्यागी अर्थात् दीक्षित हुआ हो उसका संन्यास मरण अथवा किसी कुटुम्बीका संग्राममें मरण हो जाय, तो एक दिनका सूतक होता है। यदि अपने कुलका देशान्तरमें मरण करे और १२ दिनपूरे होनेके पहिले मालूम हो, तो शेष दिनोंका सूतक मानना चाहिये। यदि दिन पूरे होगये हों, तो स्नानमात्र सूतक है।

(११) घोड़ी, भैंस, गौ आदि पशु तथा दासी अपने आंगन (गृह) में जनें, तो १ दिन का सूतक होता है, यदि गृह बाहर जनें तो सूतक नहीं होता।

(१२) दासी-दास तथा पुत्रीके प्रसूति हो या मरे तो ३ दिनका सूतक होता है। यदि गृह बाहर हो तो सूतक नहीं होता। यहां पर मृत्यु की मुख्यतासे ३ दिनका कहा है, प्रसूतिका १ ही दिन का है।

१. कहीं कहीं चालीस दिन का भी माना जाता है।

(१३) जने पीछे भैंसका दूध १५ दिन तक, गायका १० दिन तक और बकरीका ८ दिन तक अशुद्ध है, पश्चात् खाने योग्य है।

कहीं-कहीं देश भेदसे सूतक विधानमें भी भेद होता है, इसलिये देश-पद्धति तथा शास्त्रपद्धतिका मिलानकर पालन करना चाहिये।

स्त्री चारित्र

१. सूत्रपाहुड़में कहा है कि स्त्री 'क्षुल्लिका' भी हो सकती है। यह भी कहा है कि उनकी योनिमें, स्तनकी बोटियोंमें, नाभिमें तथा कांखोंमें लब्धि-अपर्याप्तिक मनुष्य उत्पन्न होते रहते हैं। ऐसी दशामें उनको महाव्रत की दीक्षा कैसे हो सकती है? क्योंकि उनसे सर्वप्रकारकी हिंसाका त्याग नहीं हो सकता। जो स्त्री सम्यक्त्वसे शुद्ध है वह मोक्षमार्ग संयुक्त कही है, परन्तु ऊचा (अपनी शक्तिभर) चारित्र धारण करने पर भी उसके महाव्रतकी दीक्षा नही होती।

२. दौलतक्रियाकोष के दानप्रकरणमें कहा है आर्यिका एक सफेद साड़ी, पीछी, कमंडल, शास्त्र रक्खे, बैठकर कर-पात्र आहार करे, केश लौंच करे।

३. श्रीमूलाचारमें कहा है — आर्यिकाओंके वृक्ष-मूलादि योग नहीं होता है अर्थात वृक्षादि के कोटरमें एकान्त रहकर तप करने की आज्ञा नहीं है। आर्यिका परस्पर अनुकूल रहे, परस्पर मत्सर, ईर्षाभाव न रक्खे, आपसमें रक्षण, प्रतिपालनमें तत्पर रहें, क्रोध, वैर, कलह, कुटिलता रहित हों, न्यायमार्गमें प्रवर्तनेवाली, मर्यादावान, लोकापवादसे भयभीत, लज्जायुक्त तथा दोनों कुल (सासरा या पीहर) के योग्य जिनका आचरण हो अर्थात् मर्यादावान, लज्जावान और क्रियावान हों।

पढ़े हुए शास्त्रोंका पठन-स्वाध्याय-पाठ, शास्त्र-श्रवण, अपने जाने हुए शास्त्रोंका व्याख्यान, श्रुनिका, चितवन, द्वादशानप्रेक्षा का चितवन, बारह प्रकार तप, इन्द्रियनिरोध, विनय इन शुभ क्रियाओंमें आर्यिकायें सदा उद्यमी रहें। विकार-रहित वस्त्र (सफेद साड़ी) पहिरें (रंगीले और शौकीनी वस्त्र न पहरें), विकार तथा संस्कार रहित शरीर रहे तथा स्नानादि रहित हों[1]

---

१. आर्यिका मासिक धर्मके समय तो श्राविकाओं द्वारा उचित स्नानादि शौच करे, इन दिनों में उपवास या नीरस आहार करे, चौथे दिन प्रासुकजल से स्नान कर आहार करे।

धर्मयुक्त, दीक्षायुक्त, शीलवान, विशुद्ध हों, संकलेश रहित हों।

आर्यिका नगरके न अति निकट रहें, न अति दूर रहें। जहां असंयमी तथा गृहस्थ न रहते हों, जहाँ पर दारालम्पट, चोर, ठग, दुष्ट-तिर्यंचादि न रहते हों तथा मुनियोंका संचार जहाँ न हों, जहाँ मलमूत्रादि उत्सर्ग करने का स्थान गुप्त हो, ऐसे स्थान में रहें। दो आर्यिकाओं से कम न रहें, अर्थात अकेली कभी न रहें, अधिक हो तो उत्तम है।

आर्यिका बिना प्रयोजन गृहस्थके घर न जावे, अथवा जहाँ मुनि बैठे हों, वहाँ न जाय। गृहस्थोंके घर (भिक्षा-काल में अथवा आचार्यके निकट प्रतिक्रमण के समय) गणिनी (श्रेष्ठ आर्यिका) की आज्ञा लेकर अन्य आर्यिका अथवा गणिनी के साथ जाय।

आर्यिकाको आश्रममें तथा पर घर जाकर इतने काम न करना चाहिए : रुदन अर्थात दुःख से पीड़ित होकर आंसू काढ़ना, स्नपन अर्थात बालकादिको स्नान कराना, किसीके बालकादि को भोजन कराना, पानी पिलाना, रसोई करना, सूत कातना, सीना, कसीदा काढ़ना आदि। असि, मसि, कृषि, वाणिज्य, शिल्पकर्म, लेखकर्म, ये षट कर्म जीवघातके कारण हैं, सो न करे। संयमियोंके पगोंका प्रक्षालन, रागभावपूर्वक गाना आदि और भी अपवादके कारण अयोग्य क्रिया न करे।

आर्यिका आचार्यदिकी वंदनाके लिए जाय, तो आचार्य को ५ हाथ दूरसे, उपाध्यायको ६ हाथ दूरसे और साधुको ७ हाथ दूरसे वंदना करके उनके पिछाड़ी जाकर बैठे, अगाड़ी न बैठे। इसी प्रकार आलोचना, अध्ययन, स्तुति भी इतने हो दूरसे करे और जैसे गौ बैठती है उसी तरह गौआसनसे वंदना करे।

४ श्रीभगवतीआराधनासारमें कहा है कि "आर्यिका" समाधि-मरणके अवसरमें अन्य आर्यिका या गणिनी की सहायता से अन्त समय नग्न-दिगम्बर मुद्रा भी धारण कर सकती है, जो पुरुषोंके दृष्टिगोचर न हो।

उपर्युक्त आगमवाक्योंसे स्पष्ट सिद्ध होता है कि स्त्रियाँ भी पुरुषों समान सब प्रतिमाओंकी धारक तथा आर्यिका हो सकती हैं। ऐलकवृत्ति तथा मुनिव्रत धारण करना इनके लिए अशक्य है। इनके उत्तम संहननके अभावसे शुद्धोपयोग रूप परिणाम, नग्न-दिगम्बर मुद्रा तथा प्रमत्तादि

ऊपरले गुणस्थान नहीं हो सकते। इनके वस्त्रत्याग अशक्यानुष्ठारूप होनेसे तत्सम्बन्धी निराकुलता एवं चित्तकी दृढ़ता नहीं हो सकती। ये हिंसादि सावद्ययोगका त्याग नव कोटि अर्थात मन-वचन-काय, कृत-कारित-अनुमोदनासे नहीं कर सकती, न इनके सामयिक चारित्रकी प्राप्ति हो सकती है, इसीसे आगममें इनके उपचारसे महाव्रत कहा है। यद्यपि ये अपने पुरुषार्थ की हद्द को पहुंच चुकी हैं तथापि भाव यथार्थमें पंचम गुणस्थानरूप ही होते हैं।

गृहस्थनी-श्राविका, ब्रह्मचारिणी, क्षुल्लिका तथा आर्यिका के बाह्य-भेष और क्रियाओंमें इतना ही भेद जान पड़ता है कि श्राविकाके पति संसर्ग तथा परिग्रह-प्रमाण और भोगोपभोग प्रमाण व्रतके अनुसार वस्त्र वा परिग्रह रहता है और पहिनाव सामान्य गृहस्थों सरीखा होता है। ब्रह्मचारिणी के पति संसर्गका अभाव, वैराग्य-सूचक सादे-सफेद वस्त्रोंका पहिनाव तथा अल्प परिग्रह रहता है। क्षुल्लिका एक सफेद धोती तथा एक सफेद दुपट्टा रखती और आरम्भ परिग्रह-रहित रहतीं तथा आर्यिका आरम्भ परिग्रह-रहित केवल एक सफेद साड़ी पहनतीं, पीछी, कमंडल साथ रखती हैं।

स्त्रियाँ भी तत्वज्ञानपूर्वक श्रावकधर्मका (साधन जैसाकि ऊपर वर्णन किया जा चुका है) ग्यारहवीं प्रतिमा (क्षुल्लिका) तक करती हुई आर्यिका तक हो सकतीं और अपनी शक्ति एवं योग्यतानुसार धर्मसाधन करती हुई आत्मकल्याण कर सकती हैं। जिससे परम्परा से स्त्रीलिंग का अभाव करके पुरुष पर्याय, उत्तम सुख-समृद्धि पाकर, महाव्रत धारण कर मोक्ष प्राप्त कर सकती हैं। अतएव स्त्रियोंको उचित है कि पढ़ें-लिखें, धर्म विद्याका अभ्यास करें, तत्वबोधको प्राप्त हों और द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव को देख योग्यतानुसार ब्रह्मचर्यादि प्रतिमा अथवा आर्यिकाके व्रत धारण करें।



तृतीय भाग

मुनि-धर्म[1]

जब जीवके लोक-स्थित जीव-पुद्गलादि षट्द्रव्योंके यथार्थ स्वरूप-पूर्वक शुद्ध आत्मद्रव्य की स्वाभाविक पर्यायोंके और पुद्गलजनित वैभाविक-पर्यायोंके जाननेसे मिथ्याबुद्धि दूर होकर सत्यश्रद्धान और सम्यग्ज्ञानकी प्राप्ति हो जाती है, तब वह आत्मिक स्वभाव की प्राप्तिके लिए उसके साधक कारणों को मिलाता और बाधक कारणोंको दूर करता है, इसी क्रिया को सम्यक्चारित्र कहते हैं।

चारित्रकी आरम्भिक श्रेणीमें हिंसादि पंच-पापोंका स्थूलपने त्याग होता है जिसे श्रावकधर्म या अणुव्रत कहते हैं। जहाँ राज्य-दण्ड, पंचदण्ड, लोकमें निन्दा हो, ऐसी हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्म एवं अतितृष्णाका त्याग होता है। इनके रक्षणार्थ तथा महाव्रतोंकी आरम्भिक क्रियाओंके शिक्षणार्थ दिग्विरतादि सप्तशीलोंका पालन किया जाता है। जिसका फल यह होता है कि अणुव्रत, महाव्रतोंको स्पर्शने लगते हैं और इनका पालक पुरुष महाव्रत धारण करनेका अधिकारी हो जाता है।

चारित्रकी उत्तरश्रेणीमें हिंसादि पंच पापोंका सम्पूर्णपने त्याग होता है, इसे मुनिधर्म या महाव्रत कहते हैं। इसके निर्वाहार्थ तथा रक्षणार्थ पंच समिति, तीन गुप्ति (अष्ट प्रवचन-मात्रिका) भी पालन की जाती है। जिसका फल यह होता है कि महाव्रत यथाख्यात चरित्र को प्राप्त होते हैं।

बाईस परीषहजय

असाता वेदनीय आदि कर्मजनित अनेक दुखों के कारण प्राप्त होने पर भी खिन्न न होना तथा उन्हें पूर्व संचित कर्मों का फल जान निर्जराके निमित्त समता (शान्ति) भाव पूर्वक सहना सो परीषहजय है। ये बाईस भेदरूप हैं:—(१) क्षुधा परीषह—भूख की वेदना को शान्तिपूर्वक खेद-

---

१. यहाँ श्री मूलाचार, भगवती आराधनासार तथा विद्वज्जनबोधकके अनुसार दिग्दर्शन मात्र संक्षिप्तरूप से मुनिधर्मका वर्णन किया है। जो सज्जन विस्तार रूपसे जानना चाहें, वे इन ग्रंथोंका अवलोकन करें।

रहित सहना।(२) **तृषा परीषह**—प्यास की वेदना को शान्तिपूर्वक खेद-रहित सहना। (३) **शीत परीषह**—शीत की वेदना को शान्तिपूर्वक खेद-रहित सहना। (४) **उष्ण परीषह**—गर्मी की बाधा को शान्तिपूर्वक खेद रहित सहना। (५) **दंसमशक परीषह**—डाँस (दंश) मच्छर (मशक) आदि अनेक जीव जन्तुओंजनित दुखों को शान्तिपूर्वक, खेद रहित सहना। (६) **नग्न परीषह**—उपस्थ (काम) इन्द्रिय को वश में करना और वस्त्र के सर्वथा त्याग करने से उत्पन्न हुई नग्नरूप लोक लाज को जीतना। (७) **अरति परीषह**—द्वेष के कारण आने पर खेद रहित शान्तचित्त रहना। (८) **स्त्री परीषह**—स्त्रियों में वा काम विकार में चित्त नहीं जाने देना। (९) **चर्या परीषह**—ईर्यापथ शोधते अर्थात चार हाथप्रमाण भूमि को निर्जन्तु देखते हुए पैदल गमन करना और पैदल चलते खेद न मानना। (१०) **निषद्या परीषह**—उपसर्ग के कारण आने पर खेद न मानना तथा उपसर्ग के[1] दूर न होने तक वहाँ से नहीं हटना, वहीं संयमरूप स्थिर रहना। (११) **शयन परीषह**—रात्रि को कठोर, कंकरीली भूमि पर खेद न मानते हुए एक आसन से अल्प निद्रा लेना। (१२) **आक्रोश परीषह**—क्रोध के कारण आने पर या बचन सुनने पर क्षमा तथा शान्ति ग्रहण करना। (१३) **बध-बन्धन परीषह**—कोई आपको मारे अथवा बाँधे तो खेद न मानते हुए शान्तिपूर्वक सहन करना। (१४) **याचना परीषह**—औषधि, भोजन, पान आदि किसीसे नहीं माँगना।(१५) **अलाभ परीषह**—भोजनादिकका अलाभ होते हुए उससे कर्म की निर्जरा होती जान शाँत भाव धारण करना, खेद न मानना। (१६) **रोग परीषह**—शरीर में किसी भी प्रकार का रोग आने पर कातर न होना, खेद न मानना, शान्त भाव पूर्वक सहना। (१७) **तृण स्पर्श परीषह** पाँव में कठिन कंकरों या नुकीले तृणों के चुभने पर भी उसकी वेदना को खेदरहित, शाँत भाव सहित सहना तथा पाँव में काँटा या शरीर के किसी अंग में फाँस आदि लग जाय तो अपने हाथ से न निकालना और तज्जनित वेदना को शान्तभाव पूर्वक सहन करना। यदि कोई अपनी बिना प्रेरणा के निकाल डाले तो हर्ष नहीं मानना। (१८) **मल परीषह** शरीर पर धूल आदि लगने से उत्पन्न हुआ जो ग्लानि का कारण मल, पसेव आदि उसे दूर करने को स्नानादि संस्कार नहीं करना, धूल नहीं छुड़ाना, शरीर नहीं पोंछना, न उसके कारण

१. सिंह, बाघ, चोर दुष्ट, वैरीकृत आक्रमण या बाधा होना

चित्त में खेदित होना (यहां पर मल त्याग सम्बन्धी अपवित्रता दूर करने का निषेध न जानना)। (१६) सत्कार पुरस्कार परीषह—आप आदर सत्कार के योग्य होते हुए भी कोई आदर सत्कार न करे तथा निन्दा करे तो मन में खिन्न न होना। (२०) प्रज्ञा परीषह—विशेष ज्ञान होते हुए भी उसका अभिमान न करना। (२१) अज्ञान परीषह—बहुत तपश्चरणादि करते हुए भी आपको ज्ञान की प्राप्ति नहीं होती तथा अन्य को थोड़े तपश्चरणादि से ज्ञान की प्राप्ति होती देख, खेद नहीं करना। (२२) अदर्शन परीषह—ऐसा सुना है तथा शास्त्रों में भी कहा हुआ है कि तप बल से अनेक ऋद्धियाँ उत्पन्न होती हैं, मुझे दीर्घकाल कठिन कठिन तप करते हो गया परन्तु अभी तक कोई ऋद्धियाँ उत्पन्न नहीं हुईं सो यह उपर्युक्त वार्ता कदाचित असत्य तो नहीं है ? ऐसा संशय न करना।

मुनिधर्म धारने योग्य पुरुष

(१) मुनिधर्म धारण करने वाला पुरुष उत्तम देशका उपजा हो[1] (२) उत्तम त्रिवर्ण ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य हो। (३) अंगपूर्ण हो। (४) राजविरुद्ध न हो। (५) लोक विरुद्ध न हो। (६) जिसने कुटुम्बसे दीक्षा लेनेकी आज्ञा माँग ली हो। यद्यपि आज्ञा माँगनेका राजमार्ग है तथापि कारण विशेष से यदि कुटुम्बी आज्ञा न दें, तो भी दीक्षा ले सकता है। परन्तु प्रेमभावपूर्वक सबसे क्षमाभाव होना उचित है। (७) मोह रहित हो। (८) कुष्ट, मृगी आदि बड़े रोगोंसे रहित हो। (९) संघमें कुशलता और धर्मकी वृद्धिका कारण हो।

यद्यपि सामान्य रीति से सर्व ही मुनि नग्न, दिगम्बर, अट्ठाईस मूल गुणधारी, आभरण-स्नान-गंध-लेपनादि संस्कार रहित, शान्त मुद्रायुक्त होते हैं इसलिए अभेद हैं, तथापि किसी-किसी विशेष गुणकी मुख्यता अपेक्षा इनके अनगार साधु, ऋषि, मुनि, यति आदि भेदरूप नाम भी कहे जाते हैं। सो ही श्री मूलाचार में कहा है "ये ही महाव्रती गृहवास, स्त्री-पुत्रादि परिग्रह-तज निर्ग्रन्थ होनेकी अपेक्षा अनगार कहाते हैं। आत्मस्वरूप (सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र) को एकीभावपूर्वक साधनेकी अपेक्षा साधु कहाते हैं। मौन

१. म्लेच्छ खंड का उपजा चक्रवती आदि के साथ आर्यखंडमें आकर महाव्रत धारण कर सकता है (लब्धिसारजी)।

धारण करने, मन-वचन-कायकी गुप्तियुक्ति आत्मध्यान में तत्पर होनेकी अपेक्षा मुनि कहाते हैं। आत्मध्यानके बलसे अनेक प्रकार की मनः पर्यय, अक्षीण-महानस, चारण आदि ऋद्धियां प्राप्त होनेकी अपेक्षा ऋषि कहाते हैं। इसीप्रकार इन्द्रिय-कषायोंको जीतनेकी अपेक्षा संयत और तेरह प्रकार चारित्र पालनेके लिए यत्न करनेकी अपेक्षा यति कहाते हैं"। तथा चारित्रसारमें ऐसा कहा है कि "सामान्यपने निजगुणोंके साधक अनगार, उपसम-क्षपक श्रेणीमें आरूढ़ यति, अवधिज्ञानी मुनि और जो ऋद्धियुक्त होते हैं सो ऋषि कहाते हैं।"

मुनियों के भेद

मुनियोंके पदस्थ अपेक्षा आचार्य, उपाध्याय, साधु तीन भेद होते हैं। इन्हीसे संघका निर्वाह तथा उत्तरोत्तर ज्ञान-ध्यानकी वृद्धि होती है। इनका स्वरूप इस प्रकार है—

आचार्य

जो स्वतः ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, वीर्याचार, तपाचार इन पंचाचार रूप प्रवर्तते तथा संघके सब मुनि समूहको प्रवर्ताते और दीक्षा प्रायश्चित्तादि देते हैं। जिस प्रकार राजा, प्रजाकी कुशलता की वृद्धि तथा रक्षा करता है उसी प्रकार ये अपने संघ के आचार और रत्नत्रयादिकी रक्षा और वृद्धि करते हैं।

उपाध्याय

जिस प्रकार अध्यापक शिष्यों को पठन-पाठन द्वारा ज्ञानकी वृद्धि कराता और स्वयं ज्ञानकी वृद्धि के लिए पठन पाठन करता है उसी प्रकार उपाध्याय सर्वसंघको अंग पूर्वादि शास्त्रोंका ज्ञान कराते और स्वयं पठन-पाठन करते हैं।

साधु

जो आत्मस्वरूपको साधते और आचार्यकी आज्ञानुसार आचरण करते तथा उपाध्यायकी इच्छानुसार पढ़ते हैं। इस प्रकार पदस्थ अपेक्षा भेद होते हुए भी आत्म स्वरूप का साधन तीनों प्रकारके मुनियोंमें सामान्य-रीतिसे एक सा ही होता है, इसलिए सभी साधु हैं।

सामान्य रीतिसे यद्यपि सब ही साधु सम्यग्यदर्शन, सम्यग्यान एवं महाव्रतोंयुक्त, नग्नदिगम्बर (निर्ग्रन्थ) २८ मूलगुणोंके धारी होनेसे एक ही

प्रकारके होते हैं, तो भी चारित्र परिणामकी हानि वृद्धि अपेक्षा इनके पुलाक, बकुश, कुशील, निर्ग्रन्थ, और स्नातक ये पाँच भेद हैं—

(१) **पुलाक**—जिनका मन उत्तरगुणोंकी भावना रहित हो, जो किसी क्षेत्र-कालके आश्रय व्रतोंमें कदाचित दोष होनेसे परिपूर्णताको नहीं प्राप्त होते हुए अविशुद्ध (विना धोये हुए तंदुलके समान) हों। जिनके परवश तथा बरजोरी से कोई मूलगुण सदोष हों। ये सामायिक, छेदोपस्थापना संयम के धारक और पीत, पद्म, शुक्ल तीन शुभलेश्या युक्त होते हैं। मरनेपर बारहवें स्वर्ग तक जाते हैं।

(२) **बकुश**—जिनके महाव्रत अखंडित होते हों। सराग संयमकी विषेशता-वश धर्मप्रभावनाके निमित्त जिनके शरीर तथा पीछी, कमंडलादि उप-करणोंकी सुन्दरताकी इच्छारूप ऐसे भाव होते हों, कि हमारे संयमादिके संस्कारसे शरीर ऐसा सुन्दर हो, जिनके देखनेसे देवोंके सम्यक्त्व हो जाय, मनुष्योंके संयम हो जाय। इसी प्रकार ये वीतरागतासूचक धर्मोपकरण रखते और उन्हें इस प्रकार सुधारते-सम्हालते हैं, जिनके देखनेसे दूसरोंके वीतरागता प्रकट हो जाय। इनका चारित्र चित्रवर्ण कहा है क्योंकि वीतराग होते हुये, विविध विषयोंके ग्राहक शिष्य-समूहयुक्त होते हैं। शिष्य-शाखामें राग होता है। ये सामायिक-छेदोपस्थापना संयमके धारक होते हैं। छहों लेश्यायुक्त होते हैं, मरकर सोलहवें स्वर्ग तक जाते हैं।

(३) **कुशील**—इनके दो भेद हैं—(क) प्रतिसेवना कुशील—जिनके शिष्य-शाखादि अप्रगट हैं। यद्यपि मूलगुणों, उत्तरगुणोंमें परिपूर्णता है तथापि कोई कारण-विशेष वश उत्तरगुणोंकी विराधना होती है। सामायिक, छेदो-पस्थापना संयमके धारक होते हैं, छहों लेश्यायुक्त होते, मरकर सोलहवें स्वर्ग तक जाते हैं। (ख) कषायकुशील—जो संज्वलन कषाय युक्त होते, शेष कषायोंको जिनने वश किया है, प्रमाद-रहित होते हैं, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसांपराय संयमके धारक होते हैं, सामायिक छेदोपस्थापना संयम भी होता है। परिहार विशुद्धिवालेके कापोत-पीत-पद्म-शुक्ल चार लेश्या होती हैं। सूक्ष्मसांपराय संयमीके एक शुक्ल लेश्या होती है। मरकर सर्वार्थसिद्धि तक जाते हैं।

(४) **निर्ग्रन्थ**—जिनके जलमें लहर अथवा दंडकी लीकके समान कर्मका उदय प्रगट नहीं है। मोहनीय कर्मका अभाव हुआ है। ज्ञानावरण, दर्शना-

वरण और अन्तराय कर्मका उदय है। जिनके उपयोगकी गति मन्द हो गई है, व्यक्त (अनुभवगोचर) नहीं है। जिनके अन्तर्मुहूर्त पीछे केवलज्ञान उपजनेवाला है। ये यथाख्यात-संयमके धारक होते, शुक्ललेश्या युक्त होते, मरकर सर्वार्थसिद्धि पर्यन्त जाते हैं।

(५) **स्नातक**—चारों घातिया कर्मोंके सर्वथा अभाव युक्त केवली सयोगी-अयोगी दो भेदरूप होते है। ये यथाख्यातसंयमके धारक होते, शुक्ल लेश्या युक्त होते, मोक्षके पात्र होते हैं।

मुनियोंके उत्सर्ग-अपवाद दो मार्ग कहे गये है--(१) **उत्सर्गमार्ग** -जहां शुद्धोपयोग परम वीतराग संयम होता है। (२) **अपवादमार्ग** जहाँ शुद्धोपयोगसे बाह्य-साधन आहार-विहार-निहार, कमंडल-पीछी, शिष्य-शाखादि के ग्रहणत्याग युक्त शुभोपयोगरूप सरागसंयम होता है। इनमें अपवादमार्ग उत्सर्गमार्ग का साधक होता है।

साधुके २८ मूलगुण

आगममें साधु (मुनि) का लक्षण इस प्रकार कहा है "जो पचेन्द्रियोंके विषयोंसे विरक्त, आरंभ-परिग्रह रहित और ज्ञान-ध्यान-तपमें लवलीन हो, सो ही साधु है।" आत्मस्वरूपमें लवलीन होनेके बाधक कारण आरंभ-परिग्रह और इन्द्रिय-विषयोंकी लोलुपता है, इन्हीके निमित्तसे जीवके कषायोंकी उत्पत्ति होती है और आत्मध्यानमें चित्तवृत्ति स्थिर नहीं रह सकती। अतएव इनको त्याग आत्म-ज्ञानपूर्वक ध्यान में लवलीन रहना ही साधुका कर्तव्य है। इस इष्टसिद्धिके लिए साधुको नीचे लिखे शास्त्रोक्त २८ मूलगुण धारण करना चाहिए। पच महाव्रत, पँच समिति, पंच इन्द्रियों का दमन, सामायिकादि षट्कर्म, केशलौंच, आचेलक्य, अस्नान, भूमिशयन, अदन्तधावन, खड़े-खड़े भोजन और एकभुक्ति। इन मूलगुणोंके भलीभाँति पालनेसें आत्मा के ८४ लाख उत्तरगुणोंकी उत्पत्ति होती है, जिनका वर्णन आगे किया गया है। जिस प्रकार मूल विना वृक्ष नहीं ठहर सकता और न विस्तृत व हरा-भरा हो सकता है उसी प्रकार मूलगुणोंके समुचित पालन किए बिना न तो मुनिधर्मका ही साधन हो सकता और न उत्तर गुणोंकी उत्पत्ति ही हो सकती है। अतएव मुनिधर्म धारणकर आत्मस्वरूप साध, परमात्मा होनेके इच्छुक भाग्यवानोंको ये २८ मुलगूण यथार्थरीतिसे पालन करना अत्यावश्यक है।

पंच महाव्रत—जिनका आचरण पूर्णरूपेण सावद्यकी निवृत्ति और मोक्षकी प्राप्तिके लिए किया जाय, सो महाव्रत हैं। अथवा जिनका आचरण महाशक्तिवान्, पुण्यवान् पुरुष ही कर सकें सो महाव्रत हैं। अथवा जो इन महाव्रतों को धारण करे सो महान हो जाता है ऐसे ये स्वयं ही महान् हैं, इसलिए महाव्रत हैं। इस प्रकार हिंसादि पंच पापोंके सर्वथा त्यागरूप सकल संयम (चारित्र) के साधक महाव्रत पांच प्रकार हैं—

(१) **अहिंसामहाव्रत** षट्काय के जीवोंकी हिंसा नहीं करना अर्थात् पृथ्वी, जल, तेज, वायु, वनस्पति कायिक (स्थावर) जीव तथा दो-इन्द्रिय, ते-इन्द्रिय, चौ-इन्द्रिय, पंच-इन्द्रिय (त्रस जीव) इन सबको जीवत्वकी अपेक्षा समान जान, इनकी हिंसा न करनी, रक्षा करना-दयाभाव रखना सो द्रव्य हिंसा-विरति और राग-द्वेषका त्याग सो भावहिंसाविरति है। प्रमत्तयोगपूर्वक द्रव्य और भाव प्राणोंके घातका सर्वथा त्याग सो अहिंसा महाव्रत है।

(२) **सत्यमहाव्रत**—प्रमत्तयोगपूर्वक असत्यवचनका सर्वथा त्याग सो सत्य महाव्रत है।

(३) **अचौर्यमहाव्रत**—प्रमत्तयोगपूर्वक विना दी हुई वस्तु के ग्रहण करनेका सर्वथा त्याग सो अचौर्य महाव्रत है। यद्यपि अचौर्यका अभिप्राय अदत्तग्रहणका त्याग मात्र है अर्थात किसीका पड़ा हुआ, भूला हुआ, रक्खा हुआ, विना दिया हुआ पदार्थ न लेवे। तथापि मुनि, धर्मोपकरण तथा भोजनके सिवाय, अन्य कोई वस्तु दी हुई भी न लेवे। यदि लेवे तो अचौर्य महाव्रत नष्ट हो जाता है, क्योंकि साधु सर्वथा सर्वप्रकार परिग्रहके त्यागी हैं।

(४) **ब्रह्मचर्यमहाव्रत**—वेदके उदय-जनति मैथुन सम्बन्धी सम्पूर्ण क्रियाओंका सर्वथा त्याग सो ब्रह्मचर्यमहाव्रत है। वहाँ सर्वप्रकारकी स्त्रियों में विकारभावका अभाव सो द्रव्य-ब्रह्मचर्य और स्वात्मरूपमें स्थिति सो निश्चय ब्रह्मचर्य है।

(५) **परिग्रहत्यागमहाव्रत**—परद्रव्य एवं तत्सम्बन्धी मूर्च्छाका अभाव सो परिग्रहत्यागमहाव्रत है वहाँ चेतन, अचेतन दोनों प्रकार के परिग्रह का अथवा १ खेत (जमीन) २ वास्तु (मकानात) ३ चाँदी ४ सोना ५ पशु ६ अनाज ७ नौकर ८ नौकरानी ९ वस्त्र १० बर्तन इन दश प्रकार बाह्य-परिग्रहों का तथा १ क्रोध २ मान ३ माया ४ लोभ ५ हास्य

६ रति ७ अरति ८ शोक ९ भय १० जुगुप्सा (घृणा) ११ स्त्रीवेद १२ पुरुषवेद १३ नपुंसकवेद १४ मिथ्यात्व इन चौदह प्रकार अंतरंग-परिग्रहोंका त्याग सो परिग्रहविरति है। यद्यपि यहाँ संज्वलन कषायका सर्वथा अभाव नहीं हुआ तथापि अभाव करनेके सन्मुख है।

इन व्रतों की पांच-पांच भावनायें हैं जिनका विवरण पंचाणुव्रत में किया गया है।

पाँच समिति—सम् अर्थात् भले प्रकार, शास्त्रोक्त, इति कहिये गमनादिमें प्रवृत्ति सो समिति है। इसमें समीचीन चेष्टा सहित आचरण होता है इस लिये ये व्रतोंकी रक्षक और पोषक हैं। ये पांच हैं—

(१) **ईर्यासमिति**—जो मार्ग मनुष्य-पशु आदिके गमनागमनसे खुंद गया हो, सूर्यके आतापसे तप्त हो गया हो, हल-बखर आदिसे जोता गया तथा मसानभूमि हो, ऐसे प्रासुकमार्गसे, प्रमाद रहित-होकर, दिनके प्रकाशमें चार हाथ प्रमाण भलीभांति निरखते हुए प्राणियोंको न विराधते हुए, शास्त्र-श्रवण, तीर्थ-यात्रा, गुरु-दर्शन आदि धर्म-कार्यों तथा आहार-विहार-निहारादि आवश्यक कार्योंके निमित्त गमन करना सो ईर्यासमिति कहाती है।

इसके अतीचार[1]—गमन करते समय भूमिका भलीभांति अवलोकन नहीं करना। पर्वत, वन, वृक्ष, नगर, बाजार, तिर्यंच मनुष्यादिको अवलोकन करते हुए चलना।

(२) **भाषासमिति**—सर्व प्राणियोंके हितकारी, सुख उपजानेवाले, प्रामाणिक, शास्त्रोक्त, विकथा-वर्जित वचन बोलना। लौकिक, कर्कश, हास्यरूप, परनिन्दक, स्वात्मप्रशंसक, प्राणियों को संक्लेश, दुःख, हानि उपजाने वाले वचन न बोलना, सो भाषासमिति कहाती है।

इसके अतीचार—देश-कालके योग्यायोग्य विचार किये बिना बोलना, बिना पूछे बोलना, पूरा सुने-जाने बिना बोलना।

(३) **एषणा समिति**—आहार ग्रहणकी प्रवृत्तिको एषणा कहते हैं। सो ४६ दोष, ३२ अंतराय, १४ मल दोष टाल कर उत्तम त्रिकुल अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यके घर, तपचारित्र बढ़ानेके लिये, शीत-उष्ण, खट्टे-

१. श्री मूलाचारके अनुसार ये अतीचार लिखे गये हैं।

मीठेमें समभावसहित, शरीरपुष्टि और सुन्दरताके प्रयोजनरहित, मन-वचन-काय, कृत-कारित-अनुमोदना नव कोटिसे शुद्ध, अपने निमित्त न किया हुआ ऐसा अनुद्दिष्ट आहार लेना, सो एषणा समिति कहाती है।

इसके अतीचार – उद्‌गमादि दोषोंमेंसे कोई दोष लगा कर भोजन करना। अतिरसकी लम्पटतासे प्रमाणाधिक भोजन करना।

(४) **आदान-निक्षेपण समिति**—रक्खी हुई वस्तु उठाने को आदान और ग्रहणकी हुई वस्तु रखनेको निक्षेपन कहते हैं। जिससे किसी जीवको बाधा न पहुँचे, उस प्रकार ज्ञानके उपकरण शास्त्र, संयमके उपकरण पीछी, शौचके उपकरण कमंडल तथा संस्तरादिको यत्नपूर्वक उठाना, रखना सो आदाननिक्षेपणसमिति कहाती है।

इसके अतीचार–भूमि पर शरीर तथा उपकरणोंको शीघ्रतासे उठाना-धरना, अच्छी तरह नेत्रोंसे नहीं देखना वा मयूर-पिच्छिकासे अच्छी तरह प्रतिलेखन नही करना, उतावलीसे प्रतिलेखन करना।

(५) **प्रतिष्ठापनासमिति**—जीव-जन्तु रहित तथा एकांत (जहां असंयमी पुरुषोंका प्रचार न हो) अचित्त (हरितकायादि रहित) दूर, छिपे हुए (गुप्त), विशाल (बिल, छिद्र रहित) अविरोध (जहां रोक-टोक न हो) ऐसे मलमूत्ररहित निर्दोषस्थानमें मल-मूत्र-कफादि क्षेपण करना, सो प्रतिष्ठापनासमिति कहाती है।

इसके अतीचार—अशुद्ध, बिना शोधी भूमिमें मल-मूत्र कफादि क्षेपना।

पंचेन्द्रिय-निरोध— स्पर्शनादि पंचेन्द्रियोंके विषयोंमें लोलुपता होने से असंयम तथा कषायोंकी वृद्धि होकर चित्तमें मलिनता तथा चंचलता होती है, इसलिये जिनको चित्त निर्मल तथा आत्मस्वरूपमें स्थिर करना है, आत्मस्वरूपको साधना है, ऐसे-साधु-मुनियों को कषायोंके उत्पन्न न होने देनेके लिये पंचेन्द्रियोंके विषयों से सर्वथा विरक्त होना चाहिये। इसी प्रकार इन पंचेन्द्रियोंको कुमार्गमें गमन करानेवाले चंचल मनको भी वश करना अत्यावश्यक है। यद्यपि मन किसी रसादि विषयको ग्रहण नहीं करता, तथापि इन्द्रियोंको विषयोंकी तरफ झुकाता है। इस तरह इन्द्रियों तथा मनके विषयोंमें रागद्वेषरहित होना इन्द्रियनिरोध कहाता है।

षट् आवश्यक—अवश्य करने योग्य को आवश्यक कहते हैं। मुनियोंके ये षट्आवश्यक समस्त कर्मोंके नाश करनेको समर्थ हैं। यद्यपि मुनिराज नित्य ही ये षट्कर्म करते हैं, तथापि ध्यान-स्वाध्याय की इनके मुख्यता है। ये षट्कर्म इस प्रकार हैं—

१. समता अर्थात् सामायिक—भेदज्ञानपूर्वक समस्त सांसारिक पदार्थोंको अपने आत्मा से पृथक् जान तथा आत्म-स्वभावको राग-द्वेष-रहित जान जीवन-मरण, लाभ-अलाभ, संयोग-वियोग, शत्रु-मित्र, सुख-दुःख में समान भाव रखना तथा कर्मोंके शुभाशुभ उदयमें रागद्वेष न करना।

मुनि इस प्रकार समतारूप सामायिक चारित्रके धारक होते हुए भी नित्य त्रिकाल सामायिक करते हैं इसलिऐ यहाँ प्रकरणवश इनके सामायिक सम्बन्धी ३२ दोष कहे जाते हैं।

सामायिकके ३२ दोष—(१) अनादर दोष—सामायिकका क्रिया-कर्म निरादर-पूर्वक वा अल्पभावसे करना (२) तप्तदोष—विद्या आदि गर्वसंयुक्त उद्धततापूर्वक सामायिक करना (३) प्रविष्टदोष—अति असंतुष्टतापूर्वक पंचपरमेष्ठी का ध्यान करना (४) परि-पीड़ित दोष—दोनों गोड़ोंके प्रदेशोंको स्पर्शना-पीड़ना (मसकना) (५) दोलायतदोष—आपको चंचल करके संशयसहित सामायिक करना (६) अंकुशदोष—हाथकी अंगुलियोंको अंकुशके सदृश ललाटसे लगाकर वन्दना करना (७) कच्छपदोष—कटिभागको कछुएकी तरह ऊंचा करके सामायिक करना (८) मत्स्यदोष—मछलीकी तरह कमरको नीची-ऊंची, अगल-बगलको पलटना (९) मनोदुष्टदोष—हृदयको दुष्टरूप, क्लेश-रूप करके सामायिक करना (१०) वेदिकाबद्ध दोष—अपने हाथोंसे अपने दोनों घुटनोंको बांधकर मसकना (११) भयदोष—मरणादिकके भयसहित सामायिक करना (१२) विभीतदोष—परमार्थको जाने बिना गुरुके भयसे सामायिक करना (१३) ऋद्धिगौरवदोष—अपने संघके गौरवकी इच्छा कर सामायिक करना (१४) गौरवदोष—सुखके निमित्त आसन आदि कर अपना गौरव प्रगट करना (१५) स्तेनितदोष—गुरुसे तथा अन्यसे छिपकर सामायिक करना (१६) प्रत्यनीकदोष—देवगुरुसे प्रतिकूल होकर सामायिक करना। (१७) प्रदुष्टदोष—अन्य सामायिक करे उससे द्वेष, वैर, कलह करके सामायिक करना (१८) वर्जितदोष—अन्यको भय उपजाकर सामायिक करना (१९) शब्ददोष—मौनको छोड बातें करते हुए सामायिक करना

हीलितदोष आचार्य तथा अन्य साधुओंका अपमान करते हुए सामायिक करना (२१) त्रिबलिदोष—ललाटकी तीन रेखा चढ़ाकर सामायिक करना (२२) संकुचित दोष—दोनों हाथोंसे माथा पकड़कर संकोचरूप होना (२३) दृष्टिदोष—अपनी इच्छापूर्वक दशों दिशाओंमें अवलोकन करना (२४) अदृष्टदोष आचार्यादिकसे छिपकर और अनेक जनोंके सन्मुख प्रतिलेखन करना (२५) करमोचनदोष—संघ के रंजन निमित्त तिनकी भक्तिकी वांछारहित सामायिक करना (२६) आलब्धदोष—जो उपकरण मिल जाय तो सामायिक करना (२७) अनालब्धदोष—उपकरणादिकी वांछायुक्त सामायिक करना (२८) चंदनचूलिकादोष—थोड़े ही कालमें जल्दीसे सामायिक कर लेना (२९) उत्तरचूलिकादोष—आलोचनामें अधिक काल लगाकर सामायिकको थोड़े ही कालमें पूर्ण करना (३०) मूकदोष—मूकके समान मुख मटकाके, हुंकार आदि करके अंगुली आदि की समस्या बताना (३१) दर्दुर दोष—अपने शब्द, परके शब्द विषें मिलाते, रोकते, बड़े गले करके सामायिक करना (३२) चुचूलितदोष—एक ही जगह बैठकर सबकी वंदना पंचम स्वर (अतिउच्चस्वर) से करना।

२. वंदना—चौबीस तीर्थंकरोंमें से एक तीर्थंकरकी वा पंचपरमेष्ठीमें एककी मुख्यता करके स्तुति करना तथा अर्हंत् प्रतिमा, सिद्धप्रतिमा, तपोगुरु, श्रुतगुरु, दीक्षागुरु, दीक्षाधिकगुरुको प्रणाम तथा उनकी मन-वचन-काय की शुद्धतापूर्वक स्तुति करना।

३. स्तुति या स्तवन—चौबीस तीर्थंकरोंकी स्तुति करना।

४. प्रतिक्रमण—आहार, शरीर, शयन, आसन, गमनागमन और चित्तके व्यापारसे द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावके आश्रय अतीतकालमें लगे हुए व्रतसम्बन्धी अपराधोंका शोधना, निन्दा-गर्हायुक्त अपने अशुभ योगोंसे निवृत्त होना अर्थात अशुभ परिणामपूर्वक किये हूए दोषोंका परित्याग करना सो प्रतिक्रमण है। वह दैवसिक, रात्रिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक, सांवत्सरिक ईर्यापथिक, उत्तमार्थ भेदसे सात प्रकारका होता है। इसी भाँति वर्तमानमें लगे हुए दोषोंका निराकरण सो प्रायश्चित तथा भविष्यमें ऐसे अपराध न करनेकी प्रतिज्ञा सो प्रत्याख्यान कहाता है।

५. कायोत्सर्ग—शरीरसे ममत्व छोड खडे होकर या बैठकर शुद्धात्मचिंतन करना, सम्यक्त्वादि रत्नत्रयगुणोंकी भावना सहित होकर शरीरसे निर्ममत्व होना।

६. स्वाध्याय—वांचना, पृच्छनादि पंच प्रकारसे शास्त्रों का अध्ययन अथवा आत्मचिंतन करना।

केसलौंच[1] अपने हाथसे शिर, डाढ़ी, मूछोंके केशोंका उखाड डालना, सो केशलौंच कहाता है।

यह क्रिया उत्कृष्ट दो माहमें, मध्यम तीन माहमें, जघन्य चार माहमें की जाती है। लौंचके दिन प्रतिक्रमणसहित उपवास करना चाहिये।

लौंच से लाभ -- सम्मूर्च्छन जीवोंकी हिंसाका परिहार, शरीरसे निर्ममत्व, वैराग्य, वीर्यशक्ति तथा मुनिलिंगके गुण निर्ग्रन्थपनेकी प्रगटताके लिये केशलौंच किया जाता है। इससे आत्मा वशीभूत होता, शरीरसम्बन्धी सुखमें आसक्तता नही होती, स्वाधीनता नष्ट नही होती, संयम नही बिगड़ता, धर्म में श्रद्धा, प्रतीति होती तथा कायक्लेश तप होता है।

आचेलक्य चेल वस्त्रको कहते हैं। निरवद्य मुनिधर्मके विराधक—कपास, रेशम, सन, टाट आदि वनस्पतिके वस्त्रों तथा मृग, व्याघ्र आदिसे उत्पन्न मृगछालादि चर्म व वृक्षोंके पत्र-छाल आदि द्वारा शरीरको आच्छादित नही करना और उन्हें मन-वचन-कायसे त्यागना सो आचेलक्य गुण है।

यद्यपि परिग्रह त्यागमें ही यह आचेलक्य गुण गर्भित होता है तथापि अन्यमतोंमें वस्त्रको परिग्रह नही गिना, इसलिये अथवा आर्यिकाको वस्त्र धारण करनेके कारण उपचारसे महाव्रती ग्रन्थोंमें कहा है इसलिये, यथार्थ महाव्रतीके लिये परिग्रह त्यागसे पृथक् ही वस्त्रत्याग मूलगुण कहा है।

निर्ग्रन्थ लिंगसे कामविकारका अभाव होता, शरीरमें निर्ममता होती, संयमके विनाशका अभाव होता, हिंसादि पापोत्पत्तिका अभाव होता, ध्यानमें विघ्नका अभाव होता, जगतमें प्रतीति होती, अपनी आत्मामें स्थिति होती, गृहस्थपनेसे पृथकता प्रगट होती, परिग्रहमें मूर्च्छा नही होती, बहुत शोधना नही पड़ता, भय नहो होता, जीवोंकी उत्पत्ति वा हिंसा नहीं होती। याचना, सींना, प्रक्षालना, सुखाना आदि ध्यान—स्वाध्यायमें

---

१. शास्त्रोमे "पंचमुष्टी लोच कीनों" ऐसा कहा है उसका भाव वृद्धविद्वानों द्वारा ऐसा सुना गया है कि दीक्षा समय, शरीरसे निर्ममता प्रगट करनेको पहिले नेगमात्र दो मुठी मूँछोंकी, दो डाढीकी और एक सिर की लोंच करते, पीछे शेष सबका लौच कर डालते हैं।

विघ्नके कारण उत्पन्न नहीं होते। शीत-उष्णादि परीषहोंका जय, उपस्थ-इन्द्रीका वशीकरण होता है। यह मुद्रा जिनेन्द्रमुद्राका प्रतिबिम्ब है।

अस्नान— जल (सर्व अंग पर जो मल हो, जैसे धूल-पसेव आदि) तथा मल (जो एक ही अंगमें लगा हो, जैसे पांवमें कीचड़ लगजाना आदि) युक्त शरीर होने पर भी स्नान, विलेपन, जलसिंचन आदि शरीर-संस्कार न करनेको अस्नानगुण कहते हैं। परन्तु साधुको मलमूत्रादि सम्बन्धी शुद्धता, षट् आवश्यक आदिके निमित्त करना आवश्यक है।

कषायनिग्रह, इन्द्रियनिग्रह तथा इन्द्रियसंयमके निमित्त अस्नान मूलगुण है। इससे मल-परीषह का जीतना भी होता है।

क्षितिशयन- जीवादि-रहित प्रासुकभूमिमें संस्तर-रहित अथवा जिससे संयमका घात न हो, ऐसे अल्पमात्र तृण-काष्ठके पटिये (फलक) पर या शिलामय संस्तर पर (जो आपके द्वारा या अन्य महाव्रतीके द्वारा किया गया हो, हिलता न हो, कोमल तथा सुन्दर न हो) एकान्तस्थानमें प्रछन्न औंधे अथवा सीधे रहित एक पसवाड़ेसे दंड अथवा धनुषके समान शयन करना, सो क्षितिशयन गुण कहलाता है।

क्षितिशयनसे शरीरसे निर्ममत्व, तपकी भावना, संयमकी दृढता, निषद्या-शैय्या-तृणस्पर्श आदि परीषहोंका जीतना, शरीरके सुखियापने तथा प्रमादका अभाव होता है।

अदन्तधावन- -हाथकी अंगुली, नख, दन्तोन, तीक्ष्ण कंकर, वृक्षकी छाल आदि द्वारा दांतोंका शोधन न करना, सो अदन्तधावन कहाता है।

अदन्तधावनसे इन्द्रियसंयमकी रक्षा होती, वीतरागता प्रकट होती और सर्वज्ञकी आज्ञाका पालन होता है।

स्थितभोजन—भींत आदिके आश्रय बिना, दोनों पावोंमें चार अंगुलका अन्तर रखकर, समपाद खड़े होकर, ४६ दोष, ३२ अंतराय, १४ मलदोष टालकर, प्राणिपात्र आहार लेने को स्थित-भोजन गुण कहते हैं। खड़े भोजन लेनेका प्रयोजन यह है कि जबतक हाथ-पांव चलें और धर्मध्यान सधे, तब तक शरीरको आहार देना। बैठकर, दूसरेके हाथसे या बर्तनद्वारा आहार नहीं करना, पाणिपात्रसे ही करना, जिससे अंतराय होनेपर हाथका ग्रासमात्र भोजन छोड़ना पड़े, अधिक नहीं।

स्थितभोजनसे हिंसादि दोषोंकी निवृत्ति होती, इन्द्रियसंयम तथा प्राणिसंयमका प्रतिपालन होता है।

एक भुक्ति—तीन घड़ी दिन चढ़े पीछे, तीन घड़ी दिन रहे पहिले, मध्य में १, २, ३, मुहूर्त कालके भीतर-भीतर दिवसमें केवल एक बार ही अल्प आहार लेनेको एकभुक्ति गुण कहते हैं।

इन्द्रियोंके जीतने तथा आकांक्षाकी निवृत्तिके लिए एकभुक्ति व्रत है।

इन उपर्युक्त अट्ठाईस मूलगुणोंके विधिपूर्वक पालन करनेसे इन्द्रियसंयम[१] और प्राणिसंयम[१] दोनोंकी भलीभांति सिद्धि होती है, स्वाधीनता, निराकुलता बढ़ती, धर्ममें प्रवृत्ति भलीभांति होती, उपयोग स्थिर और निर्मल होता है। यही योग्यता मोक्ष प्राप्तिके लिए मूलकारण और मोक्षका स्वरूप है।

मुनिके आहार-विहारका विशेष- भोजन करनेके कारण—(१) क्षुधा वेदनाके उपशमनार्थ (२) षट् आवश्यकोंके पालननिमित्त (३) चारित्रपालनार्थ (४) इन्द्रियसंयमनिमित्त (५) प्राण रक्षणार्थ (६) उत्तमक्षमादि धर्मपालननिमित्त - इन छः कारणोंसे साधु आहार लेते हैं।

भोजन न करनेके कारण—(१) युद्धादिककी शक्ति उत्पन्न होनेको (२) आयुकी वृद्धि होनेको (३) स्वादके लिए (४) शरीर पुष्ट होनेको (५) मोटे मस्त) होनेको (६)दीप्तिवान होने को इन छः प्रयोजनोंसे साधु आहार नहीं लेते हैं।

आहार त्याग करनेके कारण (१) अकस्मात् मरणान्त समय एकसी वेदना उपजनेपर आहार त्यागे (२) दीक्षाके विनाशके कारण उपसर्ग होनेसे आहार त्यागे (३) ब्रह्मचर्यकी रक्षामें बाधा होती देखे तो आहार त्यागे (४) प्राणियोंकी दया निमित्त आहार त्यागे (५) अनशन तप पालनेके निमित्त आहार त्यागे (६) शरीर-परिहार अर्थात् संन्यास-मरणके निमित्त आहार त्यागे।

भिक्षाको जानेकी पद्धति साधु योग्यकालमें भिक्षाके लिए वनसे नगरमें जावे। उससे यह बात जानना जरूरी है कि इस देशमें भोजनका काल कौनसा है? नगर-ग्रामादिको अग्नि, स्वचक्र, परचक्रके उपद्रव, राजादि महंत पुरुषोंके मरण, धर्ममें उपद्रव आदि युक्त जाने या महान्

१. पांचों इन्द्रियों और छठे मनके विषयोंसे राग घट जाना या तत्सम्बन्धी रागका बिलकुल अभाव हो जाना सो इन्द्रियसंयम और छहकायके जीवोंकी बिराधनाका अभाव अर्थात योगोंकी यत्नाचारपूर्वक प्रवृत्ति अथवा संवर हो जाना सो प्राणिसंयम है।

हिंसा होती हो तो भोजनको न जाये। जिस काल चक्की, मूसलादिका शब्द मंद पड़ जाय, उस समय मल-मूत्र आदिकी बाधा मेट, पीछी, कमंडल ग्रहण कर गमन करे। मार्गमें किसीसे वार्तालाप न करे, यदि आवश्यकता ही हो, तो खड़े होकर योग्य और थोड़े शब्दोंमें उत्तर दे। दुष्ट मनुष्य-तिर्यंच, पत्र, फल, पुष्प, बीज, जल, कीच जिस भूमिमें हो, वहां गमन न करे। दातार तथा भोजनका चिंतवन न करे। अन्तराय कर्मके क्षयोपशमके आधीन लाभालाभको विचार धर्म-ध्यान सहित चार आराधनाको आराधता भिक्षाके निमित्त गमन करे। जाते समय योग्यतानुसार व्रत-परिसंख्यान प्रतिज्ञा अंगीकार करे। भिक्षाके निमित्त लोकनिन्द्य कुलमें न जाय। दानशाला, विवाहस्थान, मृतक-सूतकस्थान, नृत्य-गान-वादित्र-स्थान, रुदनस्थान, विसंवाद, द्यूतक्रीडाके स्थानमें न जाय। जहां अनेक भिक्षुक एकत्र हो रहे हों, किवाड़ लगे हों, मनुष्योंकी भीड़ हो, संकरा मार्ग हो, जहां आने-जानेकी कठिनाई हो, ऊंट, घोडा, बैल आदि पशु खड़े हों, या बंधे हों, घुटनोंसे ऊंचा चढ़ने तथा डूठी (टुंडी) से नीचा माथा करके उतरने योग्य स्थानमें साधु भोजनको न जाय। दीन-अनाथ, निंद्यकर्म द्वारा आजीविका करने वालोंके गृह न जाय। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य इन उत्तम कुलवालोंके गृहके आंगन तक जाय, जहां तक किसीके आने-जानेकी रोक न हो। आशीर्वाद, धर्मलाभादि न कहे, इशारा न करे, पेट न बतावे, हुंकारा न करे, भ्रुकुटी न चलावे। यदि उत्साहपूर्वक गृहस्थ पडगाहे तो जाकर शुद्ध आहार ले। न पडगाहे तो तत्काल अन्य गृह चला जाय। किसी गृहको छोड़ पीछे फिर उसमें उस दिन न जाय। अन्तराय हो जाय, तो अन्य गृह भी न जाय।

भिक्षाके पंच प्रकार— (१) गोचरी—जैसे गाय घास खाती है, घास डालनेवालेकी तथा उसके वस्त्राभूषणकी सुन्दरता नहीं देखती, वैसे ही मुनि योग्य-शुद्ध भोजन करते हैं, दातारके ऐश्वर्य, सुन्दरतादिक नहीं देखते। (२) अक्षमृक्षण—जैसे वणिक गाड़ीको घी, तेलसे औंघकर अपना माल इष्टस्थानको ले जाता है तैसे ही साधु रत्नत्रयकी स्थिरता तथा वृद्धिके निमित्त रस-नीरस आहार लेते हैं। (३) उदराग्नि-प्रशमन—जैसे प्रज्वलित अग्निको जलसे बुझाते हैं, वैसे ही मुनि रस-नीरस भोजनसे क्षुधा शान्त करते हैं। (४) गर्तपूरणवृत्ति—जैसे गृहस्थ गृह-स्थित गड्ढेको कूड़ा-मिट्टी आदिसे भरकर पूर्ण करता है वैसे ही मुनि रस-नीरस भोजनसे उदर भरते हैं। (५) भ्रामरी—जैसे भ्रमर कमलादि पुष्पोंका रस लेता परन्तु

बाधा नहीं पहुंचाता वैसे मुनि दातारको किसी प्रकार कष्ट-बाधा-उद्वेग पहुंचाये बिना आहर लेते हैं।

आहार-सम्बन्धी दोष

१६ उद्गम दोष जो दोष दातारके अभिप्रायोंसे आहार तय्यार करनेमें उपजें सो उद्गम दोष कहाते हैं। यदि पात्रको मालूम हो जाय तो ऐसा आहार ग्रहण न करे। वे १६ हैं—(१) जो षट्कायके जीवोंके वधसे उपजे सो अधःकर्म नामक महान् दोष है (२) साधुका नाम लेकर भोजन बनाना सो उद्देशिक दोष है (३) संयमी को देख भोजन बनानेका आरम्भ करना सो अध्यदि दोष है (४) प्रासुक भोजनमें अप्रासुक भोजन मिलाना सो प्रति दोष है (५) असंयमीके योग्य भोजनका मिलाना सो मिश्र दोष है (६) रसोईके स्थानसे अन्यत्र आपके वा परके स्थानमें रक्खा हुआ भोजन लाकर गृहस्थ देवे और पात्र लेवे सो स्थापित दोष है (७) यक्ष, नागादिके पूजन-निमित्त किया हुआ भोजन, पात्रको देना सो बलि दोष है (८) पात्रको पड़गाहे पीछे, कालकी हानि-वृद्धि अथवा नवधाभक्तिमे शीघ्रता या विलम्ब करना सो प्रावर्तिक दोष है (६) अंधेरा जान मंडपादिको प्रकाशरूप करना सो प्राविशकरण दोष है (१०) अपने पास वस्तु नही, दूसरेसे उधार लाकर देना सो प्रामिशिक दोष है (११) अपनी वस्तुके बदले, दूसरे गृहस्थसे कोई वस्तु लाना सो परिवर्तिक दोष है (१२) तत्काल देशान्तर से आई हुई वस्तु देना सो अभिघट दोष है (१३) बंधी या छांदा लगी हुई वस्तु खोलकर देना सो उद्भिन्न दोष है (१४) रसोईके मकानसे ऊपरके मकान में रक्खी हुई वस्तु नसैनी पर चढ़कर निकालकर देना सो मालारोहण दोष है (१५) उद्वेग, त्रास, भयको उत्पन्न करनेवाला भोजन देना सो आच्छेद्य दोष है (१६) दातारका असमर्थ होना सो अनिसार्थ दोष है।

१६ उत्पादन दोष—जो आहार प्राप्त करनेमें अभिप्राय सम्बन्धी दोष पात्रके आश्रय लगते हैं (१) गृहस्थ को मंजन, मंडन, क्रीडनादि धात्रीकर्म का उपदेश देकर आहार ग्रहण करना सो धात्री दोष है (२) दातारको पर-देश के समाचार कहकर आहार ग्रहण करना सो दूत दोष है (३) अष्टांग-निमित्त बताकर आहार ग्रहण करना सो निमित्त दोष है (४) अपना जाति-कुल-तपश्चर्यादिक बताकर आहार लेना सो आजीवक दोष है (५) दातार

के अनुकूल वचन कहकर आहार लेना सो वनीपकदोष है (६) दातारको औषधि बताकर आहार ग्रहण करना सो चिकित्सा दोष है (७, ८, ९, १०) क्रोध, मान, माया, लोभसे, आहारग्रहण करना सो क्रोध, मान, माया, लोभ दोष है (११) भोजनके पूर्व दातार की प्रशंसा कर आहार ग्रहण करना सो पूर्वस्तुति दोष है (१२) आहार ग्रहण किये पीछे दातारकी स्तुति करना सो पश्चात्-स्तुति दोष है (१३) आकाशगामिनी आदि विद्या बताकर आहार ग्रहण करना सो विद्या दोष है। (१४) सर्प-बिच्छू आदिका मंत्र बताकर आहार ग्रहण करना सो मंत्र दोष है (१५) शरीरकी शोभा-निमित्त चूर्णादि बता आहार ग्रहण करना सो चूर्ण दोष है (१६) अवशको वश करनेकी युक्ति बताकर आहार लेना सो मूलकर्म दोष है।

१४ **आहार-सम्बन्धी दोष**--जो दोष भोजन के आश्रय लगते हैं--(१) यह भोजन योग्य है या अयोग्य ? खाद्य है या अखाद्य ? ऐसी शंकाका होना सो शंकित दोष है (२) सचिक्कण हाथ या वर्तन पर रक्खा हुआ भोजन ग्रहण करना सो मृक्षित दोष है (३) सचित्त पत्रादि पर रक्खा हुआ भोजन ग्रहण करना सो निक्षिप्त दोष है (४) सचित्त पत्रादिसे ढंका हुआ भोजन करना सो पिहित दोष है (५) दान देनेकी शीघ्रतासे भोजन को नहीं देख-कर या अपने वस्त्रोंको नही सम्भालकर आहार देना सो सव्यवहरण दोष है (६) सूतक आदि युक्त अशुद्ध आहार ग्रहण करना सो दायक दोष है (७) सचित्तसे मिला हुआ आहार सो उन्मिश्र दोष है (८) अग्निसे परि-पूर्ण नहीं पचा व जल गया अथवा तिल, तंदुल, हरड़ आदिसे स्पर्श-रस-गंध-वर्ण बदले बिना जल ग्रहण करना सो अपरिणत दोष है (९) गेरू, हरताल, खडी आदि अप्रासुक द्रव्यसे लिप्त हुए पात्र द्वारा दिया हुआ आहार ग्रहण करना सो लिप्त दोष है (१०) दातार द्वारा पात्रके हस्तमें स्थापन किया हुआ आहार जो पाणिपात्रमें से गिरता हो, अथवा पाणि-पात्रमें आये हुए आहारको छोड़कर और आहार लेय ग्रहण करना सो परित्यजन दोष है (११) शीतल भोजन या जलमें उष्ण अथवा उष्णभोजन या जलमें शीतल मिलाना सो संयोजन दोष है (१२) प्रमाणसे अधिक भोजन करना सो अप्रमाण दोष है (१३) अतिगृद्धता सहित आहार लेना सो अंगार दोष है (१४) भोजन प्रकृति-विरुद्ध है, ऐसा संक्लेश या ग्लानि करता हुआ आहार लेना सो धूम दोष है।

अपने तईं स्वतः भोजन तथा उसकी सामग्री तय्यार करना सो

अधःकर्म दोष कहाता है। यह ४६ दोषोंके अतिरिक्त महान् दोष है जो मुनिव्रत को मूलसे नष्ट करता है।

चौदह मल-दोष—१ नख २ बाल ३ प्राणरहित शरीर ४ हाड ५ कण (जव, गेंहूँ आदिका बाहरी अवयव) ७ राधि ८ त्वचा (चर्म) ६ बीज (गेंहूँ, चना आदि) १० लोहू ११ मांस १२ सचित फल (जामुन, आम आदि) १३ कन्द १४ मूल।

रुधिर, मांस अस्थि, चर्म, राध ये पांच महादोष हैं, इनके देखने मात्रसे आहार तजे, यदि स्पर्श हुआ हो तो प्रायश्चित्त भी ले। बाल, विकलत्रय प्राणीका शरीर तथा नख निकले तो आहार तजे और किंचित् प्रायश्चित्त भी ले। कण, कुण्ड, कंद, बीज, फल, मूल भोजनमें हों तो अलग करदे, न होसकें तो भोजन तजे। राध-रुधिर सिद्धभक्ति किये पीछे दातार पात्र दोनोंमें से किसी के निकल[1] आवे तो भोजन तजे तथा मांसको देखते ही भोजन तजे।

उत्कृष्ट एक मुहूर्त मध्यम दो मुहूर्त, जघन्य तीन मुहूर्त काल सिद्ध-भक्ति किये पीछे भोजनका कहा है।

उपर्युक्त प्रकार आहारके जो ४६ दोष कहे हैं, वे ही दोष वस्तिका सम्बन्धी हैं तथा एक अधः कर्म महान् दोष और भी है, जिसमें वस्तिका तथा उस सम्बन्धी सामग्रीका तय्यार करना जानना।

बत्तीस अन्तराय—अन्तराय, सिद्धभक्ति किये पीछे होने पर माना जाता है—(१) भोजनको जाते समय ऊपर काकादि पक्षीका बींट कर देना (२) पगका विष्टादि मलसे लिप्त हो जाना (३) वमनहो जाना (४) भोजनको गमन करते कोई रोक देवे (५) रुधिर-राधकी धार बह निकले (६) भोजनके समय अश्रुपात हो जाय अथवा अन्यके अश्रुपात देखे या विलाप करता देखे (७) भोजनके निमित्त जाते गोड़ों (घुटने) से ऊंची पंक्ति चढ़ना पड़े (८) साधुका हाथ गोड़े (घुटने) से नीचे स्पर्श हो जाय (६) भोजनके निमित्त नाभिसे नींचा माथा कर द्वारमेंसे निकलना पड़े (१०) त्यागी हुई वस्तु भोजनमें आजाय (११) भोजन करते हुए अपने सामने किसी प्राणीका बध हो जाय (१२) भोजन करते हुए काकादि पक्षी ग्रास लेजाय (१३) भोजन करते हुए-पात्रके हस्तमेंसे ग्रास गिर जाय

---

१. किसी-किसी ग्रथमे राधि-रुधिर चार अंगुलतक बहने पर अन्तराय मानना कहा है

(१४) कोई त्रसजीव साधुके हस्तमें आकर मर जाय (१५) भोजनके समय मृतक पंचेंद्रियका कलेवर देखे (१६) भोजनके समय उपसर्ग आजाय (१७) भोजन करते हुए साधु के दोनों पांवोंके मध्यमें से मेंढ़क, चूहा आदि पंचेंद्रिय जीव निकल जाय (१८) दातारके हाथसे भोजनका पात्र गिर पड़े (१९) भोजन करते समय साधुके शरीरसे मल निकल आवे (२०) मूत्र निकल आवे (२१) भ्रमण करते हुए शूद्रके गृहमें प्रवेश हो जाय (२२) साधु भ्रमण करते हुए मूर्च्छा खाकर गिर पड़े (२३) भोजन करता हुआ साधु रोगवश बैठ जाय (२४) श्वानादि पंचेन्द्रिय काटखाय (२५) सिद्धभक्ति किये पीछे हस्तसे भूमिका स्पर्श हो जाय (२६) भोजनके समय कफ, थूकादि गिर पड़े (२७) भोजन समय साधुके उदरसे कृमि निकल आवे (२८) भोजन करते समय साधु के हस्तसे परवस्तुका स्पर्श हो जाय (२९) भोजन करते हुए कोई दुष्ट साधुको या अन्यको खड्ग मारे (३०) भोजन निमित्त जाते हुए गांवमें आग लग जाय (३१) भोजन करते हुए साधुके चरणसे किसी वस्तुका स्पर्श हो जाय (३२) भोजन करने हुए साधु भूमि पर पड़ी हुई वस्तु को हाथ से छूले।

और भी चांडालादि अस्पर्श के स्पर्श होते, किसी से कलह होते, इष्ट गुरु, शिष्यादि का व राजादि प्रधान पुरुषोंका मरण हो उस दिन उपवास करे।

निवास और चर्या—साधु छोटे ग्राममें एक दिन तथा नगरमें पांच दिनसे अधिक नहीं ठहरे, चौमासे भर एक स्थान में रहे। समाधिमरण आदि विशेष कारणोंसे अधिक दिन भी ठहर सकता है। एक स्थानपर न रहने और विचरते रहनेसे रागद्वेष नहीं बढ़ता और जगह-जगहके भव्यजीवोंका उपकार होता है। गमन करते समय जीवोंके रहनेके स्थान, जीवोंकी उत्पत्तिरूप योनिस्थान तथा जीवोंके आश्रयस्थान जानकर यत्नाचारपूर्वक गमन करे, जिसमें जीवोंको पीड़ा न हो। सूर्य प्रकाशमें नेत्रद्वारा भलीभांति देखता हुआ, ईर्यापथ शोधता हुआ गमन करे। न धीरे-धीरे गमन करे, न शीघ्रतासे। इधर-उधर न देखे। नीचे पृथ्वी अवलोकन करता हुआ चले। मनुष्य, पशु आदि जिस मार्गपर चले हों, प्रातःकालके पवनने जिस मार्गको स्पर्श किया हो, सूर्य-किरणोंका संचार जिस मार्गमें हुआ हो, अंधेरा न हो, ऐसे प्रासुकमार्गसे दिनमें गमन करे, रात्रिको गमन न करे।

प्रसिद्ध सिद्ध-क्षेत्रों, जिन प्रतिमाओंकी वंदनाके लिये तथा गुरु, आचार्य व तपमें अधिक मुनियोंकी सेवा-वैयावृत्तिके निमित्त गमन करे।

साधु अकेला गमन न करे, कम-से-कम एक मुनिका साथ अवश्य हो। एकल विहारी (अकेला गमन करनेवाला) वही मुनि हो सकता है, जो वज्र-ऋषभ-नाराच, वज्र-नाराच अथवा नाराच संहननका धारक हो, अंग-पूर्व तथा प्रायश्चित्तादि ग्रन्थोंका पाठी हो, ऋद्धिके प्रभावसे जिसके मल-मूत्र न होता हो। यदि इन गुणों के रहित एकलविहारी हो जाय, तो धर्मकी निन्दा तथा हानि होती है।

मुनि, नगरसे दूर वनमें, पर्वतकी गुफ़ा, मसानभूमि, सूने घर, वृक्षकी कोटर आदि एकान्त-स्थानोंमें वास करे। विकार, उन्माद तथा चित्तमें व्यग्रता उत्पन्न होने के कारणरूप स्त्री, नपुंसक, ग्राम्य-पशु आदि युक्त स्थानोंको दूर ही तजे।

जो क्षेत्र राजा-रहित हो, जिस नगर, ग्राममें स्वामी न हो, जहाँके लोग स्वेच्छाचारी हों, जहाँ राजा दुष्ट हो, जहाँ नगर-ग्राम-घरका स्वामी दुष्ट हो, ऐसे धर्म-नीतिरहित स्थानमें मुनि विहार न करे।

भ्रष्ट मुनियोंकी संगति न करे। भ्रष्टमुनि ५ प्रकारके होते हैं— (१) पार्श्वस्थ—जिन्होंने वस्तिका, मठ, मकान बाँध रक्खा हो, शरीरसे ममत्व रखते हों, कुमार्गगामी हों, उपकरणोंके एकत्र करनेमें उद्यमी हों, भावोंकी विशुद्धता रहित हों, संयमियोंसे दूर रहते हों, दुष्ट, असंयमियों की संगति में रहते हों, इन्द्रिय-कषाय जीतनेको असमर्थ हों। (२) कुशील - जिनका निंद्य स्वभाव हो। जो क्रोधी,व्रत शील-रहित हों। धर्मका अपयश तथा संघका अपवाद कराने वाले हों, उत्तरगुण-मूलगुण-रहित हों। (३) संसक्त— जो दुर्बुद्धि, असंयमियों के गुणोंमें आसक्त, आहार में अति लुब्ध हों, वैद्यक-ज्योतिष-यंत्र-मंत्र करते हों, राजादिकके सेवक हों। (४) अपगत या अवसन्न—जो जिनवचनके ज्ञानरहित, आचार भ्रष्ट, संसार सुखोंमें आसक्त हों, ध्यानादि शुभोपयोगमें आलसी हों। (५) मृगचारी—जो स्वेच्छचारी, गुरुकुलके त्यागी, जैनमार्गको दूषण देनेवाले, आचार्यके उपदेश रहित एकाकी भ्रमण करने वाले, मृगसमान चरित्र धारने में धैर्यरहित तथा तपमार्ग से परान्मुख हों।

ये पांचों दिगम्बर भेषधारी द्रव्यलिंगी, जिनलिंग से बाह्य, दर्शन-ज्ञान-चारित्ररहित होते हैं।

मुनिके धर्मोपकरण

शौचका उपकरण कमंडल—यह काष्ठका बनता और श्रावकों द्वारा मुनिको प्राप्त होता है। इसमें श्रावकों द्वारा प्राप्त उष्ण किया हुआ जल रहता है। मुनि इस जलसे लघुशंका-शौच-सम्बन्धी अशुचि मेटते हैं। इस प्रकार शुद्धिपूर्वक सामायिक, स्वाध्यायादि षट्कर्मोंमें प्रवर्तते हैं। यदि लौकिक शुचि न की जाय, तो व्यवहारका लोप हो जाय, लोकनिंद्य होवे, अवि-नय होवे, गृहस्थोंके मनमें उनसे घृणा उत्पन्न हो जाय। हाँ! यदि शरीरकी स्वच्छताके लिये कमंडलके जलसे स्नान किया जाय, मैल उतारा जाय या पीनेके काम में लाया जाय, तो वही कमंडल परिग्रहरूप असंयमका कारण होता है।

ज्ञान का उपकरण शास्त्र— साधु ध्यानसे निवृत्त होने पर ज्ञान की वृद्धि तथा परिणामोंकी निर्मलताके लिए स्वाध्याय करते हैं। स्वाध्याय के लिए आवश्यकतानुसार श्रावकों द्वारा प्राप्त हुए एकदो शास्त्र यत्नाचारपूर्वक अपने साथ रखते हैं। जब कोई शास्त्र पूर्ण हो जाता है तो उसे वापिस कर देते या किसी मन्दिरमें विराजमान कर देते हैं। यदि वही शास्त्र अपने महत्व बतानेको बहुतसे एकत्र करके साथमें लिए फिरें, तो परिग्रहरूप असंयमके कारण होते हैं।

संयम का उपकरण पिच्छिका पिच्छिका मयूर के स्वाभाविक रीतिसे छोड़े हुए पंखोंसे बनाई जाती है। मयूर के पंखोंकी पिच्छी बनानेसे यह लाभ है कि इसमें सचित्त-अचित्त रज नहीं लगती, पसेव, जलादि प्रवेश नहीं करता, कोमल और कम वजन होती, इसका स्पर्श सुहावना लगता है। साधु, जीव, जन्तुओंकी रक्षा निमित्त जमीनको पीछीसे मार्जन करके उठते-बैठते तथा हर एक वस्तुको पीछीसे मार्जन करके उठाते-रखते हैं। इसी प्रकार शरीरको भी पीछीसे मार्जन करते हैं, संस्तरको शोधते हैं जिससे किसी जीव जन्तुको बाधा न हो। यदि अपने शारीरिक आरामके लिए पीछीसे पृथ्वीपरके कंकरादि झाड़कर सोवें, बैठें तो वही पीछी परिग्रह रूप असंयमकी करनेवाली होती है।

जो निकटभव्य समग्ज्ञान द्वारा हेय उपादेयको भलीभाँति जान, महाव्रत धारण करके संवर निर्जरापूर्वक उसी पर्याय में मोक्ष प्राप्ति करना चाहते हैं, वे तीन गुप्ति,पंचसमिति, पंचाचार,दशधर्म, द्वादश तप पालते हुए

बाईस परीषह सहन करते हुए धर्मध्यान-शुक्लध्यानरूप आचरण भी करते हैं, क्योंकि बिना साधनके साध्यकी सिद्धि नहीं होती ।

तीन गुप्ति

जिसके द्वारा सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र गोपिये अर्थात रक्षित कीजिए, सो गुप्ति कहाती है । जैसे कोटद्वारा नगरकी रक्षा होती है, उसी प्रकार गुप्तिद्वारा मिथ्यात्व, अज्ञान, असयंम अथवा शुभाशुभ कर्मोंसे आत्मा की रक्षाकी जाती है । वे तीन हैं । यथा :

मनोगुप्ति—मनसे रागद्वेषादिका परिहार करना ।

वचनगुप्ति- असत अभिप्रायसे वचन की निवृत्ति कर, मौनपूर्वक ध्यान-अध्ययन-आत्मचिंतवनादि करना ।

कायगुप्ति—हिंसादि पापों की निवृत्तिपूर्वक कायोत्सर्ग धारण करना, कायसम्बन्धी चेष्टाकी निवृत्ति करना ।

मुनिराज मन-वचन-कायका निरोध करके आत्मध्यानमें ऐसे लवलीन रहते हैं कि उनकी वीतराग स्थिरमुद्रा देखकर वनके मृगादि पशु पाषाण या ठूंठ जानकर उनसे खाज खुजाते हैं । ऐसा होते हुए भी वे ध्यानमें ऐसे निमग्न रहते हैं कि उन्हें इसका कुछ भी भान नहीं होता ।

नोट— इन तीनोंमें मनोगुप्ति सबसे श्रेष्ठ है । मनकी स्थिरता होनेसे वचन-काय गुप्ति सहजमें पल सकती है । इसी कारण आचार्योंने जहां-तहां मनवश करनेका उपदेश दिया है । अतएव आत्मकल्याणके इच्छुकोंको आत्मस्वरूप तथा द्रव्यस्वरूपके चिंतवनमें लगकर क्रमशः मनको वश करनेका अभ्यास करना योग्य है ।

अतीचार- मनोगुप्तिके अतीचार--रागादि सहित स्वाध्याय में प्रवृत्ति व अन्तरंगमें अशुभ परिणामोंका होना ।

वचनगुप्ति के अतीचार—राग तथा गर्वसे मौन धारण करना ।

कायगुप्ति के अतीचार—असावधानीपूर्वक कायकी क्रियाका त्याग करना, एक पाँव से खड़ा हो जाना तथा सचित्त भूमि में बैठना ।

पंचाचार

सम्यग्दर्शनादि गुणोंमें प्रवृत्ति करना सो आचार कहाता है। वह पाँच प्रकारका है। यथा—

१. **दर्शनाचार**—भावकर्म, द्रव्यकर्म, नोकर्म आदि समस्त परद्रव्योंसे भिन्न, शुद्ध, चैतन्यरूप आत्मा ही उपादेय है, ऐसा श्रद्धान या इसकी उत्पत्तिके कारणभूत षट्द्रव्य, सप्ततत्त्व अथवा सुगुरु, सुदेव, सुधर्मका श्रद्धान सो सम्यग्दर्शन है। इस सम्यग्दर्शन प्रवृत्तिको दर्शनाचार कहते हैं।

२. **ज्ञानाचार**—शुद्ध आत्माको स्वसंवेदन भेदज्ञान द्वारा मिथ्यात्व-रागादि परभावोंसे भिन्न उपाधि रहित जानना अथवा स्वपर तत्त्वोंको आगम तथा स्वानुभवसे निर्बाध जानना सो सम्यक्ज्ञान है। इस सम्यक्ज्ञान रूप प्रवृतिको ज्ञानाचार कहते हैं।

३. **चारित्राचार**—उपाधिरहित शुद्धात्मा के स्वाभाविक सुखास्वादमें निश्चल चित्त करना अथवा हिंसादि पापोंका अभाव करना सो सम्यक्-चारित्र है। इस सम्यक्चारित्ररूप प्रवृत्तिको चारित्राचार कहते हैं।

४. **तपाचार**—समस्त परद्रव्योंसे इच्छा रोक, प्रायश्चित, अनशनादिरूप प्रवर्तना, निजस्वरूपमें प्रतापरूप रहना सो तप है। इस तपरूप आचरण को तपाचार कहते है।

५. **वीर्याचार**—इन उपर्युक्त चार प्रकारके आचारोंकी रक्षामें शक्ति न छिपाना अथवा परिषहादि आने पर भी इनसे नहीं चिगना, सो वीर्य है। इस वीर्यरूप प्रवृत्ति को वीर्याचार कहते हैं।

द्वादश तप

जिससे इन्द्रियां प्रबल होकर मनको चंचल न करने पावें, उस प्रकार चारित्र के अनुकूल कायक्लेशादि तप साधन करना, तथा अविपाक-निर्जराके निमित्त अन्तरंगमें विषय-कषायोंकी निवृत्ति करना सो तप कहाता है। यह वाह्याभ्यन्तर दो प्रकार का है—

१. **बाह्य तप**—जो काय सल्लेखनाके निमित्त इच्छा निरोधपूर्वक नित्य—नैमित्तिक क्रियाओं का साधन किया जाय और जो बाहरसे दूसरोंको प्रत्यक्ष प्रतिभासित होवे। यह बाह्य तप छः भेदरूप है: (१) **अनशन**—आत्माका इन्द्रियमन के विषय-वासनाओंसे रहित होकर आत्मस्वरूप में

वास करना सो उपवास कहाता है। संयम की सिद्धि, राग के अभाव, कर्मो के नाश, ध्यान और स्वाध्याय में प्रवृत्तिके निमित्त इन्द्रियोंका जीतना, इस लोक, परलोक सम्बन्धी विषयों की वांछा न करना, मनको आत्मस्वरूप अथवा शास्त्र स्वाध्यायमें लगाना, क्लेश उत्पन्न न हो उस प्रकार एक दिन की मर्यादारूप चार प्रकार आहारका त्याग करना सो अनशन तप है (२) अवमोदर्य—कीर्ति-माया, कपट, मिष्ट भोजन के लोभरहित अल्प-आहार लेना सो ऊनोदर तप है। संयम की सिद्धि, निद्राके अभाव, वात, पित्त, कफके प्रकोपकी प्रशान्ति, सन्तोष, सुखसे स्वाध्यायके निमित्त एक ग्रास ग्रहण कर शेष त्याग करना सो उत्कृष्ट ऊनोदर और एक ग्रासका त्याग कर ३१ ग्रास पर्यन्त आहार लेना सो मध्यम तथा जघन्य ऊनोदर है। साधुके लिए उत्कृष्ट आहार ३२ ग्रास प्रमाण शास्त्रोंमें कहा है, और वह एक ग्रास एक हजार चावल प्रमाण कहा है (३) वृत्तिपरिसंख्यान—भोजन की आशा-तृष्णाको निराश करने के लिए अटपटी मर्यादा लेना और कर्मयोगसे संकल्पके माफिक प्राप्त होने पर आहार लेना सो वृत्तिपरिसंख्यान तप है। अर्थात् भिक्षाके लिए अटपटी आखड़ी करके चित्तके संकल्पको रोकना सो वृत्तिपरिसंख्यान तप है (४) रसपरित्याग—इन्द्रियोंके दमन, दर्पकी हानि, संयम के उपरोध निमित्त घृत, तैलादि छः रस अथवा खारा-खट्टा-मीठा-कडुवा-तीखा-कषायला, इन छहों रसोंका वा एक दो आदिका त्याग करना सो रसपरित्याग तप है (५) विवक्तशय्यासन - ब्रह्मचर्य, स्वाध्याय, ध्यानकी सिद्धिके लिए प्राणियोंकी पीडारहित, शून्यागार, गिर, गुफा आदि एकान्तस्थानमें शयन, आसन, ध्यान करना सो विविक्तशय्यासन तप है (६) कायक्लेश—जिस प्रकार चित्तमें क्लेश-खेद न उपजे, उस प्रकार अपनी शक्ति के अनुसार साम्यभावपूर्वक प्रतिमायोग धार परीषह सहते हुए आत्म-स्वरूपमें लवलीन रहना सो कायक्लेश तप है। इससे सुखकी अभिलाषा कृश होती, रागका अभाव होता, कष्ट सहने का अभ्यास होता और प्रभावनाकी वृद्धि होती है।

२. **आभ्यन्तर तप** —जो कषायोंकी सल्लेखना अर्थात मनको निग्रह करनेके लिए क्रियाओंका साधन किया जाय और दूसरोंकी दृष्टि में न आवे। यह भी छः प्रकारका है—(१) प्रायश्चित—प्रमादजनित दोषोंको प्रति-क्रमणादि पाठ या तप-व्रतादि द्वारा दूर कर चारित्र शुद्ध करना सो प्राय-श्चित तप है। इसमें व्रतोंकी शुद्धता, परिणामोंकी निर्मलता मानकषायकी मन्दता होती है (२) विनय—दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप और उपचारमें

परिणामोंकी विशुद्धता करना सो विनय तप है। सम्यग्दर्शनमें शंकादि अतीचार रहित परिणाम करना सो दर्शनविनय है। ज्ञानमें संशयादिरहित परिणाम करना तथा अष्टांगरूप अभ्यास करना सो ज्ञान विनय है। हिंसादि परिणामरहित निरतीचार चारित्र पालनेरूप परिणाम करना सो चारित्रविनय है। तपके भेदोंको निर्दोष पालनरूप परिणाम करना सो तप विनय है। रत्नत्रयके धारक मुनियोंके अनुकूल भक्ति तथा तीर्थादिकी वन्दनारूप आचरण करना सो उपचारविनय है। विनय तपसे ज्ञानादि गुणोंकी प्राप्ति तथा मान कषायका अभाव होता है (३) वैयावृत्य--जो मुनि अशुभ कर्म के उदय तथा उपसर्गसे पीड़ित हों, उनका दुख-उपसर्ग पूजा-महिमा-लाभ की वांछारहित होकर दूर करना, हाथ-पाँव दबाना, शरीर की सेवा करना तथा उपदेश व उपकरण देना सो वैयावृत्त है। इससे गुणानुराग प्रगट होता तथा मान कषाय कृश होती है (४) स्वाध्याय—ज्ञान भावना के लिए अथवा कर्मक्षयनिमित्त, आलस्यरहित होकर, जैन सिद्धान्तों का पढ़ना, अभ्यास करना, धर्मोपदेश देना, तत्त्व निर्णयमें प्रवृत्ति करना सो स्वाध्याय तप है। इससे बुद्धि स्फुरायमान होकर परिणाम उज्ज्वल होते, संवेग होता, धर्मकी वृद्धि होती है (५) व्युत्सर्ग—अंतरंग तथा बाह्य परिग्रहों से त्यागरूप बुद्धि रखना अर्थात् शरीर संस्काररहित, रोगादि इलाजरहित, शरीरसे निरपेक्ष, दुर्जनोंके उपसर्गमें मध्यस्थ, देहसे निर्ममत्त्व, स्वरूपमें लीन रहना सो व्युत्सर्ग तप है। इससे निःपरिग्रहपना, निर्भयपना प्रगट होकर मोह क्षीण होता है (६) ध्यान –समस्त चिंताओं को त्याग, मन्द कषायरूप धर्मध्यान और अति मन्द कषायरूप व कषायरहित शुक्लध्यानमें प्रवृत्ति करना, सो ध्यान तप है। इससे मन वशीभूत होकर अनुकूलताकी प्राप्ति एवं परमानन्दमें मग्नता होती है।

बाह्य तपके अभ्याससे शरीर निरोग रहता, कदाचित रोगादि कष्ट भी आ जाय तो चित्त चलायमान नहीं होता, सन्तोषवृत्ति रहती है। अन्तरंग तपके प्रभावसे आत्मीक विचित्र-विचित्र शक्तियां प्रकट होतीं, अनेक ऋद्धियां उत्पन्न होती, देव-मनुष्य-तिर्यञ्चादि वश होते, यहां तक कि कर्मो की अविपाक निर्जरा होकर मोक्षकी प्राप्ति होती है।

ध्यान

उपयोग (चित्तवृत्ति) को अन्य चिन्ताओंसे रोककर एक ज्ञेय पर स्थिर करना ध्यान कहाता है। ध्यानका उत्कृष्टकाल उत्तम संहनन के धारक पुरुषोंके अन्तर्मुहूर्त कहा है अर्थात वज्र-ऋषभ-नाराच, वज्रनाराच,

नाराच संहनन के धारक पुरुषोंका अधिक से अधिक एक समय कम दो घड़ी तक (अन्तर्मुहूर्त तक) एक ज्ञेय पर उपयोग स्थिर रह सकता है, पीछे दूसरे ज्ञेय पर ध्यान चला जाता है। इस प्रकार बदलता हुआ बहुत काल तक भी ध्यान हो सकता है। यह ध्यान अप्रशस्त, प्रशस्त भेदसे दो प्रकार का है।

आर्त्त और रौद्र ये दो ध्यान अप्रशस्त हैं। इनका फल निकृष्ट है। ये संसारपरिभ्रमणके कारण, नरक-तिर्यञ्च गतिके दुखोंके मूल हैं और अनादिकालसे स्वयं ही संसारी जीवोंके बन रहे हैं। इसलिए इनकी वासना ऐसी दृढ़ हो रही है कि रोकते-रोकते भी उपयोग इनकी तरफ चला जाता है। सम्यक्ज्ञानी पुरुष ही इनसे चित्त को निवृत्त कर सकते हैं।

धर्म और शुक्ल ये दो ध्यान प्रशस्त हैं, इनका फल उत्तम है, ये स्वर्ग-मोक्षके सुखके मूल हैं, ये ध्यान जीवोंके कभी भी नहीं हुए। यदि हुए होते तो फिर संसार भ्रमण न करना पड़ता। इसलिए इनकी वासना न होने से इनमें चित्तका लगना सहज नहीं, किन्तु बहुत ही कठिन है। अतएव जिस तिस प्रकार प्रयत्न करके इन ध्यानोंका अभ्यास बढाना चाहिए और तत्त्व-चिंतवन आत्मचिंतवनमें चित्त स्थिर करना चाहिए।

यहाँ पर चारों ध्यानके सोलहों भेदोंका स्पष्ट रूपसे वर्णन किया जाता है जिससे इनका स्वरूप भलीभाँति जानकर अप्रशस्त ध्यानोंसे निवृत्ति और प्रशस्त ध्यानोंमें प्रवृत्ति हो।

आर्त्तध्यान -दुःखमय परिणामों का होना सो आर्त्तध्यान है। इसके चार भेद हैं - (१) इष्टवियोगज आर्त्तध्यान—इष्टप्रिय स्त्री, पुत्र, धन, धान्य आदि तथा धर्मात्मा पुरुषोंके वियोग से संक्लेशरूप परिणाम होना (२) अनिष्ट संयोगज आर्त्तध्यान—दुखदाई अप्रिय स्त्री, पुत्र, भाई, पड़ौसी, पशु आदि तथा पापी दुष्ट पुरुषोंके संयोग होनेसे संक्लेशरूप परिणाम होना (३) पीड़ा चिंतवन आर्त्तध्यान रोगके प्रकोप की पीड़ासे संक्लेशरूप परिणाम होना वा रोग का अभाव चिंतवन करना (४) निदानबंध आर्त्तध्यान—आगामी कालमें विषयभोगोंकी वांछारूप संक्लेश परिणाम होना।

ये आर्त्तध्यान संसारकी परिपाटीसे उत्पन्न और संसारके मूल कारण हैं। मुख्यतया तिर्यञ्चगतिको लेजानेवाले हैं। पांचवें गुणस्थान तक चारों और छठेमें निदानबंधको छोड़ शेष तीन आर्त्तध्यान होते हैं। परन्तु

सम्यक्त्व अवस्थामें मन्द होनेसे तिर्यञ्चगतिके कारण नहीं होते।

रौद्र ध्यान —क्रूर (निर्दय) परिणामोंका होना सो रौद्रध्यान है। यह चार प्रकारका है—(१) हिंसानन्द—जीवोंको अपने तथा परके द्वारा वध-पीड़ित, ध्वंस-घात होते हुए हर्ष मानना, वा पीड़ित करने-करानेका चिंतवन करना (२) मृषानन्द—आप असत्य झूठी कल्पनायें-करके तथा दूसरोंके द्वारा ऐसा होते हुए देख जानकर आनन्द मानना वा असत्य भाषण करने-करानेका चिंतवन करना (३) चौर्यानन्द —चोरी करने-करानेका चिंतवन तथा दूसरोंके द्वारा इन कार्योंके होते हुए आनन्द मानना (४) परिग्रहानन्द—क्रूर चित्त होकर बहुत आरम्भ, बहुत परिग्रहरूप संकल्प वा चिंतवन करन या अपने-पराये परिग्रह बढ़ने-बढ़ानेमें आनन्द मानना।

ये रौद्रध्यान नरक ले जानेवाले हैं। पंचम गुणस्थान तक होते हैं परन्तु सम्यक्त्व अवस्थामें मंद होनेसे नरकगति के कारण नहीं होते।

धर्मध्यान—सातिशय पुण्यबंधका कारण, शुद्धोपयोगका उत्पादक शुभ परिणाम सो धर्मध्यान कहाता है। इसके मुख्य चार भेद हैं—(१) आज्ञा-विचय—इस धर्मध्यानमें जैनसिद्धान्तमें प्रसिद्ध वस्तु स्वरूपको सर्वज्ञ भगवान की आज्ञाकी प्रधानता से यथा सम्भव परीक्षापूर्वक चिंतवन करना और सूक्ष्म-परमाणु आदि, अंतरित—राम-रावणादि, दूरवर्ती—मेरुपर्वतादि ऐसे छद्मस्थके प्रत्यक्ष-अनुमानादि प्रमाणोंके अगोचर पदार्थोंको सर्वज्ञ वीतरागकी आज्ञा-प्रमाण ही सिद्ध मानकर तद्रूप चिनवन करना (२) अपायविचय- कर्मोंका नाश, मोक्षकी प्राप्ति किन उपायोंसे हो, इस प्रकार आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष, आदि तत्त्वोंका चिंतवन करना (३) विपाकविचय—द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावके निमित्तसे अष्टकर्मों के विपाकद्वारा आत्माकी क्या क्या सुख-दुःखादिरूप अवस्था होती है उसका चिंतवन करना (४)संस्थानविचय—लोक तथा उसके ऊर्ध्व-मध्य तिर्यक लोक सम्बन्धी विभागों तथा उसमें स्थित पदार्थोंका, पंचपरमेष्ठीका, अपने आत्माका चिंतवन करता हुआ, इनके स्वरूपमें उपयोग स्थिर करना। इसके पिंडस्थ, पदस्थ, रूपस्थ, रूपातीत चार भेद हैं जिनका विशेष वर्णन श्रीज्ञानार्णवसे जानना।

यद्यपि यह धर्मध्यान चौथे गुणस्थानसे सातवें गुणस्थान तक अर्थात् अव्रती श्रावकसे मुनियों तक होता है, तथापि श्रावक अवस्थामें आर्त्त, रौद्र, ध्यानके सदभावसे धर्मध्यान पूर्णविकासको प्राप्त नहीं होता इसलिये इसकी

मुख्यता मुनियोंके ही होती है, विशेषकर अप्रमत्त अवस्थामें इसका साक्षात फल स्वर्ग और परम्परासे शुद्धोपयोग पूर्वक मोक्षकी प्राप्ति भी है।

शुक्ल ध्यान—शुक्लध्यान क्रियारहित, इंद्रियोंसे अतीत, ध्यानकी धारणासे रहित अर्थात मैं ध्यान करूं या ध्यान कर रहा हूं, ऐसे विकल्परहित होता है जिसमें चित्तवृत्ति अपने स्वरूप के सन्मुख होती है। इसके चार भेद हैं, उनमें प्रथम पाया तीन शुभ संहननोंमें और शेष तीन पाये वज्रऋषभ-नाराचसंहनन में ही होते हैं। आदि के दो भेद तो अंग पूर्वके पाठी छद्मस्थों के तथा शेष दो केवलियोंके होते हैं। ये चारों शुद्धोपयोग रूप हैं (१) पृथक्त्व-वितर्क-विचार—यह ध्यान श्रुतके आधारसे (वितर्कसहित) होता है, मन-वचन-काय तीनों योगोंमें बदलता रहता है, अलग-अलग ध्येय भी श्रुतिज्ञानके आश्रय बदलते रहते हैं, अर्थात् एक शब्द-गुण पर्यायसे दूसरे शब्द-गुण-पर्यायपर चला जाता है। इसके फलसे मोहनीयकर्म शान्त होकर एकत्व-वितर्क अविचार ध्यानकी योग्यता होती है। यह आठवें गुणस्थानसे ग्यारहवें गुणस्थान तक होता है (२) एकत्व-वितर्क-अवीचार—यह ध्यानभी श्रुतके आधारसे होता है। तीनों योगोंमें से किसी एक योगद्वारा चिंतवन होता है। इसमें श्रुतिज्ञान बदलता नहीं, अर्थात् एक द्रव्य, एक गुण या एक पर्यायका एक योगद्वारा चिंतवन होता है। इससे घातिकर्मोंका अभाव होकर अनन्त ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्यकी प्राप्ति होती है। यह बारहवें गुणस्थानमें होता है[1] (३) सूक्ष्म क्रियाप्रतिपात—इसमें उपयोगकी क्रिया नहींहै, क्योंकि क्षयोपशमज्ञान नहीं रहा। श्रुतके आश्रयकी आवश्यकता नहीं रही क्योंकि केवलज्ञान हो गया। ध्यानका फल जो उपयोग की स्थिरता, सो भी हो चुकी। यहाँ वचन-मन-योग और बादरकाययोगका निरोध होकर सूक्ष्म काययोगका अवलम्बन होना, अन्त में काययोग का भी अभाव हो जाता है। अतएव इस कार्य होनेकी अपेक्षा उपचाररूपसे यहां सूक्ष्मक्रिया-प्रतिपाति ध्यान कहा है। यह ध्यान तेरहवें गुणस्थानके अंतमें होता है (४) व्युपरत क्रियानिवृत्ति इसमें श्वासोच्छावासकी भी क्रिया नहीं रहती, यह चौदहवें गुणस्थानमें योगोंके अभावकी अपेक्षा कहा गया है।

इस चतुर्थ शुक्ल ध्यानके पूर्ण होते ही आत्मा चारों अघातियां कर्मोंका अभाव करके ऊर्ध्वगमनस्वभावके कारण एक ही समयमें लोकके

---

१. श्री क्षपणासारमें आठवेंसे बारहवें गुणस्थानके असंख्यात भागों तक प्रथम शुक्लध्यान और बारहवें के सिर्फ असंख्यातवें भागमें दूसरा शुक्लध्यान कहा है।

अग्रभाग अर्थात अन्तमें जा सुस्थिर, सुप्रसिद्ध, सिद्ध, निकल-परमात्मा हो जाता है। इसके एक-एक गुणकी मुख्यता से परब्रह्म, परमेश्वर, मुक्तात्मा, स्वयंभू आदि अनन्तनाम हैं। यह मुक्तात्मा धर्मास्तिकायके अभावसे लोकाकाशके आगे अलोकाकाशमें नहीं जा सकता। आकार इस शुद्धात्माका चरम (अन्तिम) शरीरसे किंचित ऊन पुरुषाकार रहता है। इस निष्कर्म आत्माके ज्ञानावरणीकर्मके अभावसे अनन्त ज्ञान और दर्शनावरणी कर्म के अभाव से अनन्त दर्शनकी प्राप्ति होती है, जिससे यह लोकालोकके चराचर पदार्थोंको उनकी त्रिकालवर्ती अनन्त गुणपर्यायों सहित युगपत एक ही समय जानता-देखता है। अन्तरायकर्मके अभावसे ऐसी अनन्तवीर्य-शक्ति उत्पन्न होती है, जिससे खेदरहित हो उन सर्व पदार्थोंको देखता-जानता है। मोहनीय कर्मके अभाव होनेसे क्षायिक-सम्यक्त्व होता है, जिससे सर्वज्ञ होते हुए भी किसीमें राग-द्वेष उत्पन्न नहीं होता और समता (शान्ति) रूप अनन्त सुख[1] की प्राप्ति होती है। आयुकर्म के अभावसे अवगाहन गुण उत्पन्न होता, जिससे इस मुक्तात्माके अनन्तकाल स्थायीपनेकी शक्ति उत्पन्न होती है (नाटक समयसार—मोक्षाधिकार)। गोत्रकर्मके अभावसे अगुरुलघुत्वगुण उत्पन्न होता, जिससे सब शुद्धात्मा हलके-भारीपनेसे रहित हो जाते हैं। नामकर्मके अभावसे शरीर रहितपना अर्थात सूक्ष्मत्व (अमूर्तित्व) गुणकी प्राप्ति होती, जिससे सिद्धात्मायें अपनी अपनी सत्ता कायम रखती हुई एक दूसरेमें अवगाह पा सकती हैं। वेदनीय कर्मके अभावसे अव्याबाध गुणकी प्राप्ति होती, जिससे इस कृतकृत्य आत्मा के किसी प्रकारकी बाधा उत्पन्न नहीं होती। इस प्रकार मुक्त जीव यद्यपि व्यवहारनय अपेक्षा अष्टकर्मोंके अभाव से अष्टगुणमय कहा जाता है, तथापि निश्चयनयसे एक शुद्ध चैतन्यरस का पिंड है। यह संसारी अशुद्ध आत्मा, पुरुषार्थ करके इस प्रकार निष्कर्म, परमात्मा, परमेश्वर्य अवस्थाको प्राप्त हो, सदा स्वाभाविक शान्तिरसपूर्ण, स्वाधीन आनन्दमय रहता और सदाके लिए अजर-अमर हो जाता है। फिर जन्म मरण नहीं करता।

पुनः इसीको दूसरी तरहसे ऐसा भी कह सकते हैं कि यह शुद्धात्मा सकल संयम (मुनिव्रत) के धारण करनेके फलस्वरूप, निज गुणोंके अति विकाश रूप पूर्ण अहिंसकपनेको प्राप्त हो जाता है। जिस अहिंसकपनेका

---

१. श्रीक्षपणसारमें मोहनीय कर्मके अभावसे क्षायिक सम्यक्त्व, वीर्यान्तिरायके अभाव से अनन्तवीर्य और शेष चारों अन्तराय और नव नोकषायके अभावसे अनन्त सुख होना कहा है।

परिवार ८४ लाख उत्तरगुण है। इसी प्रकार पुदगल संयोग-जनित कुशील-भावका अभाव होनेसे यह सिद्धात्मा निजस्वरूप-विहारी, महाशीलवान ब्रह्मचारी हो जाता है। जिस शीलगुणका परिवार १८ हजार उत्तर-गुण हैं।

चौरासी लाख उत्तरगुणों के भंग

हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, तृष्णा ये पंच पाप। क्रोध, मान, माया, लोभ ये चार कषाय। मन-वचन-कायकी दुष्टता ये तीन योग। मिथ्यादर्शन १। प्रमाद १। पैशून्य १। अज्ञान १। भय १। रति १। अरति १। जुगुप्सा १। इन्द्रियो का अनिग्रह १। इन २१ दोषों का त्याग, अतीचार, अनाचार, अतिक्रम, व्यतिक्रम चार प्रकारसे, पृथिवी कायादि १० के परस्पर संयोग रूप १०० की हिंसाका त्याग, १० अब्रह्मके कारणों का त्याग, १० आलो-चनाके दोषोंका त्याग, १० प्रायश्चित के भेद। इस प्रकार उपर्युक्त सर्व भेदोंक परस्पर गुणित करने पर (२१×४×१००×१०×१०×१०= ८४,००,०००) चौरासी लाख दोषोंके अभावसे आत्मामें अहिंसाके चौरासी लाख उत्तरगुणोंकी प्राप्ति होती है।

अठारह हजार शीलके भेद

मन-वचन-काय ३ गुप्ति, कृत-कारित-अनुमोदना ३, आहार, भय, मैथुन, परिग्रह ४ सज्ञा-विरति, पंचेन्द्रिय-विरति ५, पृथ्वीकायादि १० प्राणि-संयम, उत्तम क्षमादि दश धर्म, इस प्रकार इन सबके परस्पर गुणित करने पर (३×३×४×५×१०×१०=१८,०००) शीलके भेद आत्मामें उत्पन्न होते हैं।

मुनिव्रतका सारांश—मोक्ष

मिथ्यादृष्टि जीवोंके बहुधा अशुभ उपयोग रहता है, कदाचित् किसीके मन्द कषायसे शुभोपयोग भी हो तो सम्यक्त्वके बिना, निरतिशय पुण्यबंधका कारण होता है, जो किंचित् सांसारिक (इन्द्रिय-जनित) सुख-सम्पदाका नाटक दिखाकर अंत में फिर अधोगतिका पात्र बना देता है। ऐसा निरतिशय पुण्य मोक्षमार्गके लिये सहकारी नहीं होता। हां ! जिस जीवके काललब्धिकी निकटतासे तत्वविचार पूर्वक आत्मानुभव (सम्यक्त्व) हो जाता है, उसीके सातिशय पुण्यबंधका कारण सच्चा शुभोपयोग होता है।

इस सम्यक्त्व सहित शुभोपयोगके अभ्यन्तर ही दहीमें मक्खनकी नाँई शुद्धोपयोगकी छटा झलकती है। ज्यों-ज्यों संयम बढ़ता जाता, त्यों-त्यों उपयोग निर्मल होता जाता अर्थात् शुद्धोपयोगकी मात्रा बढ़ती जाती है। यह शुद्धोपयोगका अंकुर चौथे गुणस्थानसे शुभोपयोगकी छायामें अव्यक्त बढ़ता हुआ, सातवें गुणस्थानमें व्यक्त हो जाता है। यहां पर अव्यक्त मन्द-कषायोंके उदयसे किंचित्मलिन होने पर भी यद्यपि इसे द्रव्यानुयोगकी अपेक्षा शुद्धोपयोग कहा है, क्योंकि छद्मस्थके अनुभवमें उस मलिनताका भान नहीं होता तथापि यथार्थमें दशवें गुणस्थानके अनन्तर ही कषायोंके उदयके सर्वथा अभाव होनेसे यथाख्यात-चारित्ररूप सच्चा शुद्धोपयोग होता है।

यह स्पष्ट ही है कि अशुभोपयोग पापबंध का कारण, शुभोपयोग पुण्यबंधका कारण और शुद्धोपयोग बंधरहित (संवरपूर्वक) निर्जरा एवं मोक्षका कारण है। इस शुद्धोपयोगको पूर्णता निर्ग्रन्थ (साधु) पद धारण करनेसे ही होती है, इसलिए मुनिव्रत मोक्षका असाधारण कारण है। जिसप्रकार श्रावकको १२ व्रत निर्दोष पालनेसे उसके कर्त्तव्यकी पूर्णता होती है उसी प्रकार मुनिको पंच महाव्रत अथवा पंचाचार, पंच समिति, तीन गुप्तरूप तेरह प्रकार चारित्र निर्दोष पालने से साधुके कर्त्तव्यकी सिद्धि अर्थात् शुद्धोपयोगकी उत्पत्ति होती है। इस प्रकार तेरह प्रकारके चारित्रमें से यथार्थमें ३ गुप्तिका पालन साधुका मुख्य कर्तव्य है, यह गुप्ति ही मोक्षकी दाता, मोक्ष-स्वरूप हैं। जब तक इनकी पूर्णता न हो, तब तक निष्कर्म अवस्था प्राप्त नहीं होती। इस प्रकार साधुका सकल संयम यथाख्यात चारित्र अर्थात् रत्नत्रयकी पूर्णताको प्राप्त कराता है। यद्यपि अष्टकर्मोंकी नाशक रत्नत्रयकी एकता, एक देश श्रावकके भी होती है तथापि पूर्णता मुनि अवस्थामें ही होती है। यह रत्नत्रयकी पूर्णता मोक्षकी कारण एवं मोक्षस्वरूप है, संसार-परिभ्रमणकी नाशक है। जो जीव मोक्षको प्राप्त हुए अथवा होवेंगे, वे सब इसी दर्शन-ज्ञान-चारित्रकी एकता से। यह ही आत्माका स्वभाव है, यही तीन लोकमें पूज्य है। इसकी एकता बिना कोटि यत्न करने पर भी मुक्ति की प्राप्ति नहीं होती। जितने कुछ क्रिया-आचरण हैं वे सब इसी रत्नत्रयके सहकारी होनेसे धर्म कहलाते हैं। यह रत्नत्रय की एकता ही अद्भुत रसायन है, जो जीवको अजर-अमर बना देती है। इस पूज्य रत्नत्रयकी एकताको हमारा बारम्बार नमस्कार है और यह हमारे हृदयमें सदा विकासमान रहो।

सदुपदेश

यह संसारी आत्मा अनादिकालसे अपने स्वरूपको भूल, पुद्गलको ही अपना स्वरूप मान, बहिरात्मा हो रहा है। जब काललब्धि तथा योग्य द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावका संयोग पाकर इसे अपना तथा परका भेद-विज्ञान होकर सम्यक्त्व (आत्म-स्वभावका दृढ़ विश्वास) की प्राप्ति होती है, तब वह अंतरात्मा होकर परपदार्थों से उपयोग हटाकर निजात्मस्वरूपमें स्थित होनेकी उत्कट इच्छारूप स्वरूपाचरण-चारित्रका आरंभी तथा स्वात्मानुभवी हो जाता है। पश्चात् बारह व्रतरूप देशचारित्र अंगीकार कर एकदेश आरम्भ परिग्रहका त्यागी अणुव्रती होता है जिसके फलसे इसका उपयोग अपने स्वरूपमें किंचित् स्थिर होने लगता है। पुनः मुनिव्रत धार, अट्ठाईस मूल-गुणरूप सकल-संयम पालनेसे सर्वथा आरम्भ-परिग्रहका त्यागी हो जाता है जिससे आत्माका उपयोग पूर्णरूपसे निज-स्वरूप ही में लोन होकर दर्शन-ज्ञान-चारित्रकी एकतापूर्वक ध्यान-ध्याता-ध्येय, ज्ञान-ज्ञाता-ज्ञेयके भेदरहित हो जाता है। यही स्वरूपाचरण चारित्रकी पूर्णता है आत्मा इसी अद्भुत रसायनके बलसे निर्बन्ध अवस्थाको प्राप्त होकर उस वचनातीत आत्मिक स्वाधीन सुखको प्राप्त करता है, जो इन्द्र, धरणेन्द्र, चक्रवर्तीको भी दुर्लभ है। क्योंकि इन इन्द्रादिकोंका सुख लोकमें सर्वोपरि प्रसिद्ध होते हुए भी आकुलतामय, परिमित तथा पराधीन है और सिद्ध अवस्थाका सुख निराकु-लित, स्वाधीन तथा अनन्तकाल स्थायी है। धन्य हैं वे महंत पुरुष ! जिन्होंने इस मनुष्य पर्यायको पाकर अनादि जन्म-मरण रोगका नाश कर सदाके लिये अजर-अमर अनन्त-अविनाशी आत्मिक लक्ष्मीको प्राप्त किया। ऐसे सम्पूर्ण जगत्के शिरोमणि सिद्ध परमेष्ठी जयवंत हों ! भक्तजनोंके हृदय-कमलमें निवास कर उन्हें पवित्र करें ! जगत्के जीवोंको कल्याण दाता हों।

हे मोक्षसुखके इच्छुक, संसार भ्रमणसे भयभीत सज्जन भ्राताओं ! इस सुअवसरको हाथसे न खोओ, सांसारिक राग-द्वेष रूप अग्निसे तप्ताय-मान इस आत्माको समता (शांति) रसरूपी अमृतसे सिंचन कर अजर-अमर बनाओ, यही सच्चा पुरुषार्थ, यही प्रयोजन, यही सर्वोत्कृष्ट इष्ट (हित) है।

—:●:—

संदर्भिका

१. **रत्नकरंडश्रावकाचार**—मूलकर्ता श्रीसमंतभद्रस्वामी। भाषाटीकार पं० सदासुखजी।

२. **स्वामिकार्तिकेयानुपेक्षा**– मूलकर्ता श्रीकार्तिकेय स्वामी। भाषाटीकाकार पं० जयचन्द जी।

३. **भगवती आराधना**—मूलकर्ता श्रीशिवार्य। भाषाटीकाकार पं० जयचन्द जी।

४. **वसुनन्दि श्रावकाचार**—आचार्य वसुनन्दी।

५. **धर्मपरीक्षा**—अमितगत्याचार्य।

६. **त्रिवर्णाचार** सोमसेन भट्टारक संग्रहीत।

७. **चारित्रसार** मंत्रिवर चामुंडराय।

८. **अमितगति श्रावकाचार**—अमितगत्याचार्य।

९. **सागारधर्मामृत**—पं० आशाधरजी।

१०. **गुरुपदेश श्रावकाचार**—पं० डालूराम जी।

११. **प्रश्नोत्तरश्रावकाचार**—मूलकर्ता भट्टारक सकलकीर्ति। भाषाटीकाकार पं० बुलाकीदास जी।

१२. **पीयषवर्ष श्रावकाचार**—ब्रह्मनेमिदत्त।

१३. **पार्श्वनाथपुराण**—पं० भूधरदास जी।

१४. **तत्वार्थबोध भाषापद्यानुवाद**--पं० बुधजनजी।

१५. **क्रियाकोष**—पं० दौलतराम जी।

१६. **क्रियाकोष**—पं० किशनसिंह जी।

१७. **ज्ञानानन्द श्रावकाचार**—ब्र० रायमल्ल जी।

१८. **अष्टपाहुड़**— (सूत्रपाहुड-भावपाहुड) मूलकर्ता श्री कुन्दकुन्दाचार्य। भाषाटीका पं० जयचन्द जी।

१६. **यशस्तिलकचम्पु**—श्रीसोमदेवसुरि ।

२० **सुभाषितरत्नसन्दोह**—श्री अमितगत्याचार्य ।

२१. **समाधितंत्र टीका**—पं० पर्वतधर्मार्थी ।

२२. **सुदृष्टिरंगिणी**—पं० टेकचन्द जी ।

२३. **धर्मसार**—मूलकर्त्ता भट्टारक सकलकीर्ति ।
भाषाटीकाकार पं० शिरोमणी जी ।

२४. **पुरुषार्थसिद्ध्युपाय**—श्री अमृतचन्द्राचार्य ।
भाषाटीकाकार पं० टोडरमल जी ।

२५. **आदिपुराण**—श्री जिनसेनाचार्य ।
भाषाटीकाकार पं० दौलत राम जी ।

२६ **भद्रबाहुसंहिता**—भट्टारक भद्रबाहु ।

२७. **धर्मसंग्रहश्रावकाचार**—पं० मेधावी ।

२८. **तत्वार्थसूत्र** (सर्वार्थसिद्धटीका)
भाषाटीकाकार पं० जयचन्द जी ।

२६. **श्रीमूलाचार** श्रीवट्टकेर ।
भाषाटीकाकार पं० पारसदासजी ।

३०. **सारचतुर्विंशतिका**—भट्टारक सकलकीर्ति ।
भाषाटीकाकार पं० पारसदासजी ।

